

भूमिका

महाकवि श्रीमाघकृत शिशुपालवध महाकाव्य—सरसता, पदलालित्य तथा अर्थगाम्भीर्य इन तीनों गुणों के लिए सुप्रसिद्ध है। संस्कृतसाहित्य में किरात, माघ, नैषध इन तीनों को 'बृहत्त्रयी' कहते हैं। और रघुवंश, कुमारसम्भव, मेघदूत ये तीन काव्य 'लघुत्रयी' कहलाते हैं। इनका पढ़ना—संस्कृत साहित्य के जिज्ञासु के लिए सर्वथा आवश्यक समझा जाता है। उनमें भी माघकवि के इस शिशुपालवध का विशिष्ट स्थान है। प्रौढबन्ध, शब्दमाधुरी, वर्णनचातुरी आदि अनेक विशिष्ट गुणों से शिशुपालवध का विद्वत्समाज में सम्प्रति बहुत आदर है।

माघकवि का परिचय व समय—

महाकवि माघ एक धनी द्विज (ब्राह्मण) कुल में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम दत्तक था। ये गुजरात के भीनमाल नामक शहर में उत्पन्न हुए थे। इनका समय ६२५–६५० विक्रम संवत् के आस-पास ही है। क्योंकि ६०० संवत् के करीब के एक शिलालेख में माघ के पितामह सुप्रभदेव का नाम मिला है। और ९०० के निकट में वर्त्तमान आनन्दवर्धनाचार्य के ध्वन्यालोक ग्रन्थ में माघ के कुछ श्लोकों का उद्धरण मिलता है। अतः ६२५ या ६५० विक्रम संवत् (५७५–५९० ई०) निकट समय में का समय स्थल-मान से ज्ञात होता है।

कुछ विद्वान् माघ कवि को—'भोजप्रबन्ध' 'प्रबन्धचिन्तामणि' आदि के आधार पर धाराधीश भोज के समान काल में मानते हैं। महाराज भोज का समय १००० संवत् के निकट प्रसिद्ध ही है। अतः महाकवि माघ भी दशम शताब्दी के ही सिद्ध होते हैं।

परन्तु भोजप्रबन्ध आदि की कथाओं के विशेष—प्रामाणिक नहीं होने के कारण बहुत से विद्वान् माघ को ६२५–६५० विक्रम संवत् के निकट का ही मानते हैं। यही मत हमारा भी है।

माघ के विषय में किंवदन्ती—

माघ के विषय में यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि—माघ के जन्मसमय में ही ज्योतिषी लोगों से 'इनको दारिद्र्य योग है' ऐसा जानकर इनके पिता ने एक लाख रुपया प्रतिमास के हिसाब से १०० वर्ष के लिए १०—१२ करोड़ रुपया सोने के हण्डों में भरकर गाड़ दिया था, ताकि मेरे पुत्र (माघ) को धन की कमी न पड़े। पर दैवयोग कहीं टलता है ?। माघ को दान देने का बड़ा व्यसन पड़ गया, बड़े बड़े विद्वानों को लाखों रुपया एक बार उठाकर दे देना इनके लिए साधारण बात थी। फल वही हुआ जो होना था। इनको वृद्धावस्था में दारिद्र्य से बड़ा कष्ट भोगना पड़ा। और एक दिन किसी भिक्षुक विद्वान् को पारितोषिक के लिए देने को धन पास में नहीं देखकर इन्होंने दुःख से प्राण छोड़ दिया।

राजा भोज से माघ की बड़ी मित्रता थी, उनको जब यह मालूम हुआ तब उनको भी बड़ा दुःख हुआ।

इस किंवदन्ती में कहाँ तक सत्यांश है यह तो नहीं कहा जा सकता पर इतना निश्चित है कि ये बड़े ही उदार और विद्वत्प्रेमी थे। और विद्वत्समाज में इनका बहुत अधिक सन्मान था।

इनके बनाए हुए शिशुपालवध (माघ) का पण्डितसमाज में बहुत अधिक आदर है। यह काशी आदि की परीक्षाओं में पाठ्य रूप से भी रखा गया है।

अतःपरीक्षार्थी छात्रों की सुविधा के लिए हमने इस शिशुपालवध को जगत्प्रसिद्ध मल्लिनाथी व अभिनवराजलक्ष्मी टीकाओं के साथ प्रकाशित किया है।

मल्लिनाथी (सर्वङ्कषा)—

इस टीका को परीक्षोपयोगी बनाने के लिए व्याख्येय भाग को मोटे अक्षरों में तथा अर्थ को सादे अक्षरों में दिया है। इससे अध्यापकों व विद्यार्थियों को बहुत अधिक सहायता मिलेगी। आज तक इस रीति से मल्लिनाथी कहीं नहीं छपी थी।

अभिनवराजलक्ष्मी—

इस टीका में समास विग्रह आदि में संक्षेप नहीं किया गया है, किन्तु छात्रों की सुविधा के लिए प्रायः पूरा पूरा समास व विग्रह दिया गया है। पर्याय भी एक एक शब्द के प्रायः ३–४ दिए गए हैं। इस प्रकार विद्यार्थियों को स्वयं पर्याय बनाने का अभ्यास हो सकेगा।

कण्ठस्थ करने के लिए कोश पृथक् दे दिया है। पर्यायों में भी प्रचलित सरल पदों का प्रयोग दिया गया है। इस प्रकार संस्करण सर्वाङ्गपूर्ण हुआ है।

परीक्षार्थियों के लिए इतनी अधिक सुविधा अभी तक सुलभ किसी संस्करण में नहीं थी जैसी सुन्दर उपयोगी व्यवस्था अभिनवराजलक्ष्मी में रखी गई है।

इस टीकाद्वययुक्त शिशुपालवध के संस्करण से यदि विद्वानों व छात्रों को कुछ भी लाभ व सन्तोष हुआ तो हम अपने श्रम को सफल समझेंगे।

कृतज्ञताप्रकाश—

श्रीराजस्थान संस्कृत कालेज ग्रन्थमाला से प्रकाशित परीक्षोपयोगी पुस्तकों का विद्वत्समाज ने और छात्रमण्डल ने इतना अधिक आदर किया है कि जिसकी हमें कभी कल्पना भी नहीं थी। कोई पाठशाला ऐसी नहीं है, जिसमें इस कालेज की पुस्तकें न पहुँची हों, और उनका यथेष्ट आदर न हो।

सहृदय विद्वानों द्वारा दिए गए इस प्रकार आशातीत प्रोत्साहन का ही फल है कि बहुत थोड़े ही समय में इस ग्रन्थमाला का बहुत अधिक प्रसार हो गया है। एतदर्थ हम सभी विद्वानों के नितान्त आभारी हैं।

श्री राजस्थान-संस्कृत-
कालेज ग्रन्थमाला,
५/१०९ त्रिपुराभैरवी काशी।
प्रथम-संस्करण तिथिः—
वैशाख शुक्ल १५ सं० १९९५
१५–५–३८

निवेदक—
श्रीगुरुप्रसादशास्त्री

॥ श्रीः ॥

श्रीमन्माघमहाकविप्रणीतं

शिशुपालवधम् ।

श्रीमल्लिनाथकृतया सर्वङ्कषाव्याख्यया श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिकृतया

अभिनवराजलक्ष्म्या च विराजितम् ।



तस्यायं

प्रथमः सर्गः ।

इन्दीवरदलश्याममिन्दिरानन्दकन्दलम् ।
वन्दारुजनमन्दारं वन्देऽहं यदुनन्दनम् ॥ १ ॥

दन्ताञ्चलेन धरणीतलमुन्नमय्य पातालकेलिषु धृतादिवराहलीलम् ।
उल्लाघनोत्फणफणाधरगीयमानक्रीडाऽवदानभिभराजमुखं नमामः ॥ २ ॥

शारदा शारदाम्भोजवदना वदनाम्बुजे ।
सर्वदा सर्वदाऽस्माकं सन्निधिं सन्निधिं क्रियात् ॥ ३ ॥

वाणीं काणभुजीमजीगणदवाशासीच्च वैयासकी-
मन्तस्तन्त्रमरंस्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत् ।
आचामाचकलद्रहस्यमखिलं यश्चाक्षपादस्फुरां
लोकेऽभूद्यदुपज्ञमेव विदुषां सौजन्यजन्यं यशः ॥ ४ ॥

मल्लिनाथः सुधीः सोऽयं महोपाध्यायशब्दभाक् ।
विधत्ते माघकाव्यस्य व्याख्यां सर्वङ्कषाऽभिधाम् ॥५॥

ये शब्दार्थपरीक्षणप्रणयिनो ये वा गुणालङ्क्रिया-
शिक्षाकौतुकिनो विहर्तुमनसो ये च ध्वनेरध्वनि ।
क्षुभ्यद्भावतरङ्गिते रससुधापूरे भिमङ्क्षन्ति ये
तेषामेव कृते करोमि विवृतिं माघस्य सर्वङ्कषाम् ॥ ६ ॥

नेताऽस्मिन्यदुनन्दनः स भगवान्वीरः प्रधानो रसः
शृङ्गारादिभिरङ्गवान्विजयते पूर्णा पुनर्वर्णना ।
इन्द्रप्रस्थगमाद्युपायविषयश्चैद्यावसादः फलं
धन्यो माघकविर्वयं तु कृतिनस्तत्सूक्तिसंसेवनात् ॥ ७ ॥

इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया ।
नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते ॥ ८ ॥

अथ तत्रभवान्माघकविः 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये । सद्यः परनिर्वृतये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे ॥' इत्यालङ्कारिकवचनप्रामाण्यात्काव्यस्यानेकश्रेयःसाधनतां, 'काव्यालापांश्च वर्जयेत्' इति निषेधस्याऽसत्काव्यविषयतां च पश्यञ्शिशुपालवधाख्यं काव्यं चिकीर्षुश्चिकीर्षितार्थाऽविघ्नपरिसमाप्तिसम्प्रदायाविच्छेदलक्षणफलसाधनत्वात् 'आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशोवाऽपि तन्मुखम्' इत्याशीराद्यन्यतमस्य प्रबन्धमुखलक्षणत्वाच्च काव्यफलशिशुपालवधबीजभूतं भगवतः श्रीकृष्णस्य नारददर्शनरूपं वस्तु आदौ श्रीशब्दप्रयोगपूर्वकं निर्दिशन् कथामुपक्षिपति—

श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जग-
ज्जगन्निवासो वसुदेवसद्मनि ।
वसन्ददर्शावतरन्तमम्बरा-
द्धिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं हरिः ॥ १ ॥

[सर्वङ्कषा] श्रिय इति ॥ तत्रादौ श्रीशब्दप्रयोगाद्वर्णगणादिशुद्धेरभ्युच्चयः । तदुक्तम्—

"देवतावाचकाः शब्दा ये च भद्रादिवाचकाः ।
ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो गणतोऽपि वा ॥" इति ।

श्रियः—लक्ष्म्याः । पतिः । अनेन रुक्मिणीरूपया श्रिया समेत इति सूचितम् । 'राघवत्वे भवेत्सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि' इति विष्णुपुराणात् । जगन्निवासः—जगतामाधारभूतः । कुक्षिस्थाऽखिलभुवन इति यावत् । तथापि जगत्—लोकं । शासितुं— दुष्टनिग्रहशिष्टानुग्रहाभ्यां नियन्तुं । श्रीमति— लक्ष्मीयुक्ते । वसुदेवसद्मनि—वसुदेवरूपिणः कश्यपस्य वेश्मनि । वसन्—कृष्णरूपेण तिष्ठन् । हरिर्विष्णुरम्बरादवतरन्तम्—आयान्तम् । इन्द्रसन्देशकथनार्थमिति भावः । हिरण्यस्य गर्भो हिरण्यगर्भो ब्रह्मा—ब्रह्माण्डप्रभवत्वात् । तस्य— अङ्गभुवं—तनूजम् । अथवा तस्याङ्गादवयवादुत्सङ्गाद्भवतीति हिरण्यगर्भाङ्गभूस्तं, मुनिम्—नारदमित्यर्थः । 'उत्सङ्गान्नारदो जज्ञे दक्षोऽङ्गुष्ठात्स्वयंभुवः' इति भागवतात् । ददर्श । कदाचिदिति शेषः । अत्राल्पीयसि वसुदेवसद्मनि सकलजगदाश्रयतया महीयसो हरेराधेयत्वकथनादधिकप्रभेदोऽर्थालङ्कारः । तदुक्तम्—'आधाराधेययोरानुरूप्याभावोऽधिको मतः' इति । जगन्निवासस्य जगदेकदेशनिवासित्वमिति विरोधश्च । तथा तकारसकारादेः केवलस्याऽसकृदावृत्त्या, जगज्जदिति सकृद्द्वयञ्जनद्वयसादृश्याच्च वृत्त्यनुप्रासभेदौ शब्दालङ्कारौ । एषां चान्योन्यनैरपेक्ष्येणैकत्र समावेशात्तिलतण्डुलवत्संसृष्टिः। सर्गेऽस्मिन्वंशस्थं वृत्तम् । 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

[अन्वयः] श्रियः पतिः जगन्निवासः जगत् शासितुम् श्रीमति वसुदेवसद्मनि वसन् हरिः— अम्बरात् अवतरन्तम् हिरण्यगर्भाङ्गभुवम् मुनिं ददर्श ।

[विग्रहः] श्रयति हरिं या सा श्रीः, तस्याः—श्रियः । श्रीर्विद्यते यस्मिन् तत् श्रीमत्, तस्मिन्—श्रीमति । निवसन्ति जना अस्मिन् असौ निवासः, जगतां निवासः—जगन्निवासः । वसुदेवस्य सद्म वसुदेवसद्म, तस्मिन्—वसुदेवसद्मनि । हिरण्यस्य गर्भः—हिरण्यगर्भः, अङ्गाद्भवतीति अङ्गभूः, हिरण्यगर्भस्य अङ्गभूः—हिरण्यगर्भाङ्गभूः, तम्—हिरण्यगर्भाङ्गभुवम् ।

[अर्थः] श्रियः = लक्ष्म्याः । रुक्मिण्या इति यावत् । पतिः = स्वामी । एतेन रुक्मिणीस्वयंवरानन्तरकालमियं काव्यकथा प्रवृत्तेति सूचितम् । जगन्निवासः=निखिलजगतामाधारभूतः । अखिलब्रह्माण्डनायकः । विश्वम्भर इति यावत् । जगत्=लोकम् । भूर्लोकादिकम् । शासितुं = दुष्टनिग्रहशिष्टानुग्रहादिभिर्नियन्तुं श्रीमति=लक्ष्मीशालिनि । सर्वसम्पत्समृद्धे । धनधान्यसमृद्धे शोभास्पदे चेति यावत् । वसुदेवसद्मनि = वसुदेवगृहे । वसन्= तिष्ठन् । मायामानुषविग्रहेण सञ्चरन्निति यावत् । हरिः = श्रीकृष्णः । अम्बरात् । = गगनात् । अवतरन्तम् = आयान्तम् । इन्द्रसन्देशकथनायागच्छन्तमिति यावत् । हिरण्यगर्भाङ्गभुवं= ब्रह्मपुत्रम् । मुनिं=मुनिश्रेष्ठं नारदम् । ददर्श = कदाचिद्विलोकयामास ।

[भावार्थः] रुक्मिणीस्वयंवरानन्तरं यदुपुर्यां द्वारकायां स्वपितुर्वसुदेवस्य गृहे सुखं निवसन् जगन्नियन्ता भगवान् श्रीकृष्णः कदाचिदम्बरादवतरन्तं ब्रह्मपुत्रं नारदं ददर्श ।

[कोशः] 'कमला श्रीर्हरिप्रिया' इत्यमरः । 'त्रिष्वथो जगती लोको विष्टपं भुवनं जगत्' इत्यमरः । 'गृहं गेहोदवसितं वेश्म सद्म निकेतनम्' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] श्रियः पत्या जगन्निवासेन जगत् शासितुम् श्रीमति वसुदेवसद्मनि वसता हरिणा—अम्बरात् अवतरन् हिरण्यगर्भाङ्गभूः मुनिः (नारदः) ददृशे ।

[भाषाटीका] त्रिलोकीपति भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जब कंस आदि दुष्टों को मार कर तथा रुक्मिणी को स्वयंवर में प्राप्त कर द्वारका में वसुदेव जी के घर में सुख से निवास करते थे उस समय उन्होंने एक दिन आकाश से उतर कर अपनी ओर आते हुए ब्रह्माजी के पुत्र भक्तराज श्रीनारदमुनि को देखा ॥ १ ॥

तदानीं जनैर्विस्मयादीक्षितुं प्रवृत्तमित्याह—

गतं तिरश्चीनमनूरुसारथेः
प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः ।
पतत्यधो धाम विसारि सर्वतः
किमेतदित्याकुलमीक्षितं जनैः ॥ २ ॥

[सर्वङ्कषा] गतमिति । अविद्यमानावूरू यस्य सोऽनूरुः, स सारथिर्यस्य तस्य–अनूरुसारथेः–सूर्यस्य । गतं–गतिः । भावे क्तः । तिरश्चीनं–तिर्यग्भूतम् । 'विभाषाञ्चेरदिक्स्त्रियाम्' इति तिर्यक्शब्दादञ्चत्यन्तात्प्रातिपदिकात्स्वार्थे खप्रत्ययः । हविर्भुजः–अग्नेः। ऊर्ध्वज्वलनम्–उर्ध्वस्फुरणं–प्रसिद्धम् । इदं तु सर्वतोविसारि धाम-अधः पतति । किमेतदिति ? 'सूर्याग्निविलक्षणमदृष्टपूर्वमिदं धाम किमात्मकं स्या'दित्याकुलं—विस्मयात्सम्भ्रान्तं यथा तथा जनैरीक्षितमीक्षणं कृतम् । सकर्मकादप्यविवक्षिते कर्मणि भावे क्तः । 'प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया' इति वचनात् । केचित्कर्मणि क्तान्तं कृत्वा—ईक्षितं मुनिं ददर्शेति पूर्वेण योजयन्ति। अत्रोपमेयस्य मुनिधाम्नः सूर्याग्निभ्यामुपमानाभ्यामधः प्रसरणधर्मेणाधिक्यवर्णनाद्व्यतिरेकः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे–'उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः' इति ।'धाम रश्मौ गृहे देहे स्थाने जन्मप्रभावयोः' इति हेमचन्द्रः

दिवाकरस्तु वृत्तरत्नाकरटीकायां प्रथमपठितेन—'द्विधाकृतात्मा किमयं दिवाकरो विधूमरोचिः किमयं हुताशनः' इति चरणद्वयेन सहेममेव श्लोकं षट्पदच्छन्दस उदाहरणमाह । तत्राद्यचरणद्वयेन सन्देहाकारो, 'गत'मिति तन्निरासश्च बोध्य इत्युपरिष्टात् ॥ २ ॥

[अन्वयः] अनूसारथेः गतं तिरश्चीनम् (प्रसिद्धम्)। हविर्भुजः ऊर्ध्वज्वलनम् प्रसिद्धम् । (इदन्तु—) सर्वतः विसारि धाम अधः पतति । 'एतत् किम्' इति जनैः आकुलम् ईक्षितम् ।

[विग्रहः] अविद्यमानौ ऊरू यस्यासौ अनूरुः। अनूरुः सारथिर्यस्यासौ अनूरुसारथिः, तस्य अनूरुसारथेः। हविर्भुङ्क्ते इति हविर्भुक्, तस्य हविर्भुजः। ऊर्ध्वञ्च तज्ज्वलनञ्च ऊर्ध्वज्वलनम्। विसरतीति विसारि।

[अर्थः] अनूरुसारथेः = अरुणसारथेः सूर्यस्य। गतं = गमनम्। गतिः। तिरश्चीनं = तिर्यक्। तिर्यग्भूतम्। प्रसिद्धम् *। सर्वलोकविदितम्। हविर्भुजः = अग्नेश्च। ऊर्ध्वज्वलनम् = ऊर्ध्व-स्फुरणम्। प्रसिद्धं=विख्यातमेव। (इदन्तु पुरतो विभाव्यमानं–) सर्वतः = समन्ततः। विसारि=विसरणशीलम्। स्फुरत्। धाम = तेजः। अधः = नीचैः। गगनाङ्गणाद्भुवस्तलम्। पतति = प्रसरति। आयाति। किमेतत् = किमिदं स्यात्। सूर्याग्निविलक्षणमदृष्टपूर्वमिदं तेजः किमात्मकं स्यात्? । इति = इत्थम्। इत्येवम्। आकुलं = विस्मयाकुलं ससम्भ्रमं सवितर्कञ्च यथा स्यात्तथा। जनैः = लोकैः। यदुप्रवीरैः। ईक्षितम् = विलोकितम्। दृष्टम्।

[भावार्थः] गगनतलाद्भूलोकमागच्छदिदं सञ्चरिष्णु तेजः किमात्मकं। ? ननु भोः सूर्यस्य तु तिर्य्यग्गतिर्भवति, नाधो गतिः। अग्नेस्तूर्ध्वस्फुरणं भवति न नीचैः स्फुरणं। तत्किंस्विदिद धामेत्येवं वितर्कपरैर्द्वारकावासिभिर्जनैः साश्चर्यं सवितर्कञ्च विलोकितम्।

[कोशः] 'सूरसूतोऽरुणोऽनूरुः काश्यपिर्गरुडाग्रजः' इत्यमरः। 'धाम-रश्मौ गृहे देहे स्थाने जन्मप्रभावयोः' इति हेमः। 'समन्ततस्तु परितः सर्वतो विश्वगित्यपि' इत्यमरः।

[वाच्यप०] अनूरुसारथेर्गतेन तिरश्चीनेन भूयते। हविर्भुज ऊर्ध्व-ज्वलनेन प्रसिद्धेन भूयते। (अनेन तु—) सर्वतो विसारिणा धाम्ना अधः पत्यते। एतेन केन भूयते ? इति जना आकुलं यथा स्यात्तथा ईक्षितवन्तः।

[भाषाटीका] भगवान् सूर्य तो आकाश में ही तिरछे (टेढ़े) चला

---

*देहलीदीपकन्यायेन प्रसिद्धमित्यस्योभयत्रान्वयः। अस्तीति वा प्रकृते शेषः।

करते हैं, और अग्निकी ज्वाला भी ऊपर की ओर ही उठा करती हैं। पर यह तो कोई विलक्षण तेज है जो नीचे की ओर तेजी से आ रहा है। यह क्या है ?। इस प्रकार द्वारकानिवासी लोगों ने उस तेजको बड़ी व्याकुलता से देखा ॥ २ ॥

अथ भगवान्निरणैषीदित्याह—

चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा
ततः शरीरीति विभाविताकृतिम् ।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति
क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः ॥ ३ ॥

[सर्वङ्कषा] चय इति । विभुः–वस्तुतत्त्वावधारणसमर्थः । सः–हरिः, पुरा–प्रथमं, त्विषां चय इत्यवधारितं–तेजः पुञ्जमात्रत्वेन विनिश्चितम् । ततः-प्रत्यासन्नो विभाविता-विस्पष्टा-आकृतिः–संस्थानं यस्य तं तथोक्तम्। अत एव शरीरी-चेतन इत्यवधारितम् । ततो विभक्ता-विविच्य गृहीता-अवयवा मुखादयो यस्य तं तथोक्तम् । अत एव पुमानित्यवधारितम् । अमुम्–आगच्छन्तं व्यक्तिविशेषं नारदं । वास्तवाभिप्रायेणेति पुंलिङ्गनिर्वाहः। क्रमात्—पूर्वोक्तसामान्यविशेषज्ञानक्रमेण । लोकदृष्ट्येदमुक्तम् । हरिस्तु सर्वं वेदैवेति तत्त्वम् । नारद इत्यबोधि । नारदं बुद्धवानित्यर्थः । नारदस्य कर्मत्वेऽपि निपातशब्देनाभिहितत्वान्न द्वितीया । तिङामुपसङ्ख्यानस्योपलक्षणत्वात् । यथाह वामनः—'निपातेनाभिहिते कर्मणि न कर्मविभक्तिः । परिगणनस्य प्रायिकत्वात्' इति । बुध्यतेः कर्तरि लुङ् । 'दीपजन–' इत्यादिना चिण् । 'चिणो लुक्' इति तस्य लुक् । अत्र विभाविताकृतिं विभक्तावयवमित्यादिना आकृतिविभावनावयवविभावनयोः पदार्थयोर्विशेषणवृत्त्या शरीरित्वपुंस्त्वावधारणे हेतुत्वेनोपन्यासात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः । 'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्' इति लक्षणात् ॥३॥

[अन्वयः ।] विभुः सः पुरा त्विषां चय इत्यवधारितम्, ततः विभाविताकृतिम् शरीरीति अवधारितम्, विभक्तावयवम् पुमानिति (अवधारिम्) अमुम्—क्रमात् नारद इत्यबोधि ।

[विग्रहः] विभाविता आकृतिर्यस्यासौ विभाविताकृतिः, तम्–विभाविताकृतिम् । विभक्ता अवयवा यस्य स विभक्तावयवः, तं–विभक्तावयवम् ।

[अर्थः] विभुः = तत्त्वावधारणकुशलः । विवेकशीलः । सः = हरिः । पुरा = प्रथमम् । आदौ । त्विषां = भासाम् । चयः = समूहः । इति = इत्येवम् । अवधारितं = तेजोराशितया विनिश्चितम् । तेजःपुञ्जतया निर्णीतम् । ततः = तदनन्तरं, किञ्चित्प्रत्यासन्ने सति । विभाविताकृतिम् = वितर्कितावयवसंस्थानम् । शरीरी = प्राणी । इति = इत्येवम् । अवधारितं = विनिश्चितं । ततः—विभक्तावयवं = विविक्तावयवम् । तत्त्वतो दृष्टहस्तपादाद्यवयवम् । (अतएव—) पुमान् = पुरुषः । इति = इत्येवम् । अवधारितं = निश्चितम् । अमुं=समायान्तं तेजोराशिम् । क्रमात्= पूर्वोक्तरीत्या सामान्यविशेषज्ञानक्रमेण । नारदः = नारदोऽयम् । इति = इत्थम् । अबोधि = बुद्धवान् । नारदं ज्ञातवान् । नारदोऽयमिति निश्चितवान् ।

[भावार्थः] तत्त्वनिर्धारणपटुर्भगवान् श्रीकृष्णः पूर्वं तेजःपुञ्जतया भासमानममुं क्रमशो नारदोऽयमायातीति निश्चिकाय ।

[कोशः] 'स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भाभाश्छविद्युतिदीप्तयः' इत्यमरः । 'प्राणी तु चेतनो जन्मी जन्तुजन्युशरीरिणः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] विभुना तेन पुरा त्विषां चय इत्यवधारितः, विभाविताकृतिः शरीरीति अवधारितः, विभक्तावयवः पुमानिति अवधारितः अयम् क्रमात् नारद इत्यबोधि ।

[भाषाटीका] पहिले तो भगवान् ने समझा कि यह कोई तेजका पुंज

ही चला आ रहा है। फिर कुछ निकट आने पर जब आकृति-सी दिखाई पड़ने लगी तब भगवान् ने समझा कि—यह कोई जीव है। फिर और थोड़ा निकट आने पर हाथ पैर मुख आदि अङ्गों को देख कर उन्होंने समझा कि यह कोई पुरुष है। इस प्रकार और अधिक साफ दिखाई देने पर भगवान् ने पहिचाना कि—'यह तो नारद जी चले आ रहे हैं' ॥३॥

अथ सप्तभिर्मुनिं विशिनष्टि—

नवानधोऽधो बृहतः पयोधरा-
न्समूढकर्पूरपरागपाण्डुरम् ।
क्षणं क्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्रकृत्तिना
स्फुटोपमं भूतिसितेन शम्भुना ॥ ४ ॥

[सर्वङ्कषा] नवानित्यादि। कीदृशममुम्—नवान् सद्यः—सम्भृतसलिलान्। अतिनीलानिति यावत्। बृहतः—विपुलान्। पयोधरान्—मेघान्, अधोऽधः। मेघानां समीपाधःप्रदेशे। 'स्थित'मिति शेषः। 'उपर्यध्यधसः सामीप्ये' इति द्विर्भावः। तद्योगे द्वितीया, 'उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु' इत्यादिवचनात्। समूढः—पुञ्जीकृतः। 'समूढः पुञ्जिते भुग्ने' इति विश्वः। कर्पूरस्य परागः—चूर्णं तद्वत्पाण्डुरम्। अत एव क्षणं—मेघसमीपावस्थानक्षणे। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। क्षणेषु—ताण्डवोत्सवेषु। 'निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः' इत्युभयत्राप्यमरः। उत्क्षिप्ता—उपरि धारिता—गजेन्द्रस्य कृत्तिः—चर्म येन तेन। 'अजिनं चर्म कृत्तिः स्त्री' इत्यमरः। भूत्या-भस्मना, सितेन। 'भूतिर्भस्मनि सम्पदि' इत्यमरः। शम्भुना-स्फुटा उपमा-सादृश्यं यस्य तं-स्फुटोपमम्। स्फुटशम्भूपममित्यर्थः। सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः। सदृशपर्यायियोस्तुलोपमाशब्दयोः 'अतुलोपमाभ्याम्—' इति निषेधात्सादृश्यवाचित्वे तृतीयेत्याहुः। केचिदिमं श्लोकं 'चयस्त्विषा'मित्यतः प्राग्लिखित्वा व्याचक्षते। तेषां पुंस्त्वावधारणात्प्राक्तेजःपिण्डमात्रस्य शम्भूपमौचित्यं चिन्त्यम् ॥ ४ ॥

[अन्वयः] नवान् बृहतः पयोधरान् अधोधः (स्थितम्) समूढकर्पूरपरागपाण्डुरम् क्षणं क्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्रकृत्तिना भूतिसितेन शम्भुना स्फुटोपमम् (—अमुं नारद इत्यबोधि सः)।

[विग्रहः] कर्पूरस्य परागः—कर्पूरपरागः । समूढश्चासौ कर्पूरपरागश्च समूढकर्पूरपरागः—समूढकर्पूरपराग इव पाण्डुरःसमूढकर्पूरपरागपाण्डुरः, तम्। क्षणे उत्क्षिप्ता क्षणोत्क्षिप्ता। गजेन्द्रस्य कृत्तिः गजेन्द्रकृत्तिः। क्षणोत्क्षिप्ता गजेन्द्रकृत्तिर्येन असौ—क्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्रकृत्तिः, तेन क्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्रकृत्तिना। स्फुटा उपमा यस्य तं स्फुटोपमम्। भूत्या सितः भूतिसितः, तेन भूतिसितेन।

[अर्थः] कथम्भूतममुं ? नारद इत्यबोधीत्यत आह—**नवानिति ।** नवान्= नवीनान्। सद्यःसम्भृतजलान्। अतिनीलानिति यावत्। बृहतः = महतः, विपुलान्। पयोधरान् अधोऽधः = मेघानामधोभागे । मेघसमीपाधःप्रदेशे । 'स्थित'मिति शेषः । (पुनश्च—) समूढकर्पूरपरागपाण्डुरं = पुञ्जीकृतकर्पूरचूर्णधवलम्। कर्पूरचूर्णशुभ्रवपुषम्। सुपिष्टकर्पूरचूर्णधवलमिति वा। (सुपिष्टस्य कर्पूरचूर्णस्य नितरां धावल्यं भवतीति लोकविदः) । अतएव—क्षणं = क्षणमात्रम्। मेघसमीपावस्थानक्षणे । क्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्रकृत्तिना = ताण्डवोत्सवावसरोपरिधारितगजेन्द्रचर्मणा । नृत्योत्सवोत्क्षिप्तगजराजचर्मणा। भूतिसितेन = भूतिधवलेन। भसितशुभ्रवपुषा। शम्भुना = शिवेन । स्फुटोपमम् = नितरां सदृशम्। शिवोपमं। शिवसदृशमिति यावत् । (अमुं हरिः क्रमान्नारद इत्यबोधीति पूर्वेणान्वयः)।

[भावार्थः] स्वयं स्वच्छकर्पूरगौरदेहं मेघमण्डलाधः सञ्चरन्तममुं ताण्डवप्रवृत्तेन भूतिधवलेन ऊर्ध्वक्षिप्तगजचर्मणा भगवता शिवेन सदृशं क्रमान्नारद इत्यबोधि भगवान् श्रीहरिः । मेघसमीपप्रदेशस्थितिसमये गजचर्मधारिणा शिवेन साम्य-

मुद्वहन्तममुं स हरिर्नारदोऽयमायातीति क्रमान्निश्चिकायेति यावत् ।

[कोशः] 'समूढः पुञ्जिते भुग्ने' इति विश्वः । 'निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः' इत्यमरः । 'अजिनं चर्म कृत्तिः स्त्री'त्यमरः । 'भूतिर्भस्मनि सम्पदि' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] नवानधोधो बृहतः पयोधरान् समूढकर्पूरपरागपाण्डुरः क्षणं क्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्रकृत्तिना भूतिसितेन शम्भुना स्फुटोपमोऽसौ तेन (नारद इत्यबोधि) ।

[भाषाटीका] पीसे हुए कपूरकी तरह गौरवर्ण नारदजी जब नीले २ मेघों (बादलों) के नीचे पहुंचे उस समय ऐसा मालूम होता था कि–मानों भगवान् श्रीशङ्कर ही गजचर्म को शिर के ऊपर फैलाकर ताण्डव नृत्य कर रहे हैं । (क्योंकि शिवाजी भी गौरवर्ण हैं, और नारदजी भी गौर वर्ण हैं । शिवजी का गजचर्म भी काला है तो मेघ भी काले हैं । नारदजी चल रहे हैं तो ताण्डव नृत्य के समय शिवजी भी तेजी से चलते-फिरते हैं, अतः नारदजी की शिवजी से उपमा ठीक ही है ।) इस प्रकार शिवजी की तरह प्रतीत होते हुए नारदजी को भगवान् ने पहिचाना ॥ ४ ॥

दधानमम्भोरुहकेसरद्युती-
जटाः शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम् ।
विपाकपिंगास्तुहिनस्थलीरुहो
धराधरेन्द्रं व्रततीततीरिव ॥ ५ ॥

[सर्वङ्कषा] दधानमिति । पुनः—अम्भोरुहकेसरद्युतीः–पद्मकिञ्जल्कप्रभापिशङ्गीरित्यर्थः । जटा दधानम् । स्वयं तु–शरच्चन्द्रमरीचिरिव रोचिर्यस्य तम् । धवलमित्यर्थः । अत एव–विपाकेन-परिणामेन, पिङ्गाः—पिङ्गलास्तुहिनस्थल्यां–तुषारभूमौ रोहन्तीति तुहिनस्थलीरुहः । व्रततीततीः–लताव्यूहान् । 'वल्ली तु व्रतती लता' इत्यमरः ।

दधानं—धराधरेन्द्रो—हिमवान् । 'तुहिनस्थली'ति लिङ्गान्नारदोपमानत्वाच्च । तमिव स्थितम् ॥ ५ ॥

[अन्वयः] अम्भोरुहकेसरद्युतीः जटाः दधानम् शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम् (अत एव–) विपाकपिङ्गाःतुहिनस्थलीरुहःव्रततीततीःदधानम् धराधरेन्द्रमिव (स्थितम्—) अमुं नारद इत्यबोधि ।

[विग्रहः] अम्भसि रोहन्तीति अम्भोरुहाणि, अम्भोरुहाणां केसराणि—अम्भोरुहकेसराणि, अम्भोरुहकेसराणां द्युतिरिव द्युतिर्यासान्ताः—अम्भोरुहकेसरद्युतयः, ताः—अम्भोरुहकेसरद्युतीः । शरदः चन्द्रः—शरच्चन्द्रः । शरच्चन्द्रस्य मरीचयः—शरच्चन्द्रमरीचयः, शरच्चन्द्रमरीचय इव रोचिर्यस्य स-शरच्चन्द्रमरीचिरोचिः, तं—शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम् । विपाकेन पिङ्गाः—विपाकपिङ्गाः—ताः । तुहिनस्य स्थल्यः तुहिनस्थल्यः, तुहिनस्थल्यां रोहन्तीति—तुहिनस्थलीरुहः, ताः—तुहिनस्थलीरुहः। व्रततीनां ततयः—व्रततीततयः, ताः—व्रततीततीः । धरन्तीति धराः, धराया धराः—धराधराः । धराधराणामिन्द्रः—धराधरेन्द्रः, तम्—धराधरेन्द्रम् ।

[अर्थः] अम्भोरुहकेसरद्युतीः = पद्मकिञ्जल्कप्रभापिशङ्गवर्णाः । कमलकेसरसदृशपीतवर्णाः । जटाः = सटाः । केशभारम् । दधानं = धारयन्तम् । (स्वयन्तु—) शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषं = शरदिन्दुकान्तिधवलम् । (अतएव—) विपाकपिङ्गाः = परिणामपिङ्गलाः । परिपाकपिङ्गलाः । तुहिनस्थलीरुहः = हिमप्रदेशप्रभवाः । व्रततीततीः = लतासंहतीः । लतासमूहान् । दधानं = धारयन्तम् । धराधरेन्द्रमिव = हिमवन्तमिव—(स्थितममुं हरिर्नारद इत्यबोधीति पूर्वेणान्वयः) ।

[भावार्थः] पिङ्गलजटाभारपरिशोभितं धवलवर्णममुं—हिमस्थलीसमुद्भूतपरिपाकपिङ्गललतासन्तानधारिणं हिमवन्तमिव विभाव्यमानं—नारदं क्रमादबोधि सः ।

[कोशः] 'किञ्जल्कः केसरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । 'जटाः सटाः' इत्यमरः । 'रोचिः शोचिरुभे क्लीबे' इत्यमरः । 'वल्ली तु व्रतती लता' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] अम्भोरुहकेसरद्युतीर्जटा दधानः शरच्चन्द्रमरीचिरोचिः विपाकपिङ्गास्तुहिनस्थलीरुहो व्रततीततीर्दधानो धराधरेन्द्र इव स्थितः अबोधि ।

[भाषाटीका] कमल के केसर की तरह पीली जटाओं को धारण किए हुए (स्वयं शरत्कालिक चन्द्रमा की तरह स्वच्छ वर्ण) वे नारदजी ऐसे प्रतीत होते थे मानों पक जाने पर पीली पड़ी हुई (सुनहरी) लताओं के समूह से शोभित हिमाचल ही हो ॥ ५ ॥

पिशङ्गमौञ्जीयुजमर्जुनच्छविं
वसानमेणाजिनमञ्जनद्युति ।
सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बरां
विडम्बयन्तं शितिवाससस्तनुम् ॥ ६ ॥

[सर्वङ्कषा] पिशङ्गेति ॥ पुनः कीदृशम् ? मुञ्जस्तृणविशेषः, तन्मयी मेखला मौञ्जी, पिशङ्गया मौञ्ज्या युज्यते इति पिशङ्गमौञ्जीयुक् 'तम् । सत्सूद्विष-' इत्यादिना क्विप् । 'स्त्रियाः पुंवत्-' इति पिशङ्गशब्दस्य पुंवद्भावः । अर्जुनच्छविं-धवलकान्तिम् । 'वलक्षो धवलोऽर्जुनः' इत्यमरः । अञ्जनद्युति-अञ्जनवर्णम् । एणाजिनं-कृष्णमृगचर्म, वसानम् आच्छादयन्तम् । 'वस आच्छादने' इति धातोः शानच् । सुवर्णसूत्रेण-कनकमेखलया-आकलितं-बद्धम्, अधराम्बरमन्तरीयकं यस्यास्तां । शितिवाससः—नीलाम्बरस्य रामस्य, तनुं विडम्बयन्तम् । अनुकुर्वाणमित्यर्थः । आर्थीयमुपमा ॥ ६ ॥

[अन्वयः] पिशङ्गमौञ्जीयुजम् अर्जुनच्छविम् अञ्जनद्युति एणाजिनम् वसानम् (अतएव) सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बराम् शितिवाससः तनुम् विडम्बयन्तम् (अमुं नारद इत्यबोधि) ।

[विग्रहः]—मुञ्जस्य विकारो मौञ्जी । पिशङ्गी चासौ मौञ्जी च पिशङ्गमौञ्जी, पिशङ्गमौञ्ज्या युज्यते इति पिशङ्गमौजीयुक्, तं–पिशङ्गमौञ्जीयुजम् । अर्जुना छविर्यस्य स अर्जुनच्छविः, तम्–अर्जुनच्छविम् । एणस्य अजिनम् एणाजिनम्, तत्–एणाजिनम् । अञ्जनस्य द्युतिरिव द्युतिर्यस्य तत्–अञ्जनद्युति । सुवर्णस्य सूत्रं–सुवर्णसूत्रम् । सुवर्णसूत्रेण आकलितं सुवर्णसूत्राकलितं, सुवर्णसूत्राकलितम् अधराम्बरं यस्याः सा सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बरा, ताम्–सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बराम् । शिति वासः यस्य स शितिवासाः तस्य-शितिवाससः ।

[अर्थः] पिशङ्गमौञ्जीयुजम् = पिङ्गलवर्णमुञ्जमेखलाधरम् । स्वर्णवर्णमुञ्जमेखलाधारिणम् । (पुनश्च स्वयम्—) अर्जुनच्छविं = धवलकान्ति । कर्पूरगौरम् । (किञ्च—) अञ्जनद्युति = नीलाञ्जनच्छवि । श्लक्ष्णनीलाञ्जनरोचिः । एणाजिनं = मृगचर्म । वसानं = दधतम् । आच्छादयन्तम् । परिदधानम् । (अतएव—) सुवर्णसूत्राकलिताऽधराम्बरां = कनकमेखलासन्दानितान्तरीयवसनाम् । शितिवाससः = नीलाम्बरस्य । भगवतो बलभद्रस्य । तनुं = शरीरम् । विडम्बयन्तम् = अनुकुर्वाणम् । (— अमुं नारद इत्यबोधि हरिरिति पूर्वेणान्वयः) ॥

[भावार्थः] पिङ्गलमौञ्जीयुजं कर्पूरगौरं किञ्च मृगचर्म वसानं सुवर्णमेखलापरिबद्धनीलाम्बरधारिणो बलभद्रस्य वपुरनुकुर्वाणममुं नारदं शनैर्हरिरबोधि ।

[कोशः] 'कडारः कपिलः पिङ्गपिशङ्गौ कद्रुपिङ्गलौ' इत्यमरः । 'वलक्षो धवलोऽर्जुनः' इत्यमरः । 'अजिनं चर्म कृत्तिः स्त्री' त्यमरः । 'नीलाम्बरो रौहिणेयस्तालाङ्को मुसली हली' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] पिशङ्गमौजीयुक् अर्जुनच्छविः अञ्जनद्युति एणाजिनं वसानः सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बरां शितिवाससः तनुं विडम्बयन् (स नारदं इति तेन अबोधि) ।

[भाषाटीका] मूंजकी बनी हुई पीली मेखला ('करधनी' 'तागडी') को कमर में लपेटे हुए, तथा काले मृग की छाल को धोती की तरह बान्धे हुए, गौर वर्ण श्रीनारदजी ऐसे मालूम होते थे मानो—सोने की मेखला से नीले रंग के कौशेय (पिताम्बर सुकटा) को बान्धे (पहिने) हुए भगवान् बलदाऊजी ही चले आ रहे हों। (—ऐसे नारदजी को भगवान् ने पहिचाना) ॥ ६ ॥

विहङ्गराजाङ्गरुहैरिवायतै-
हिरण्मयोर्वीरुहवल्लितन्तुभिः।
कृतोपवीतं हिमशुभ्रमुच्चकै-
र्घनं घनान्ते तडितां गणैरिव ॥ ७ ॥

[सर्वङ्कषा] विहङ्गेति । पुनः—विहङ्गराजाङ्गरुहैरिव—गरुत्मल्लोमतुल्यैः। आयतैः—दीर्घैः। हिरण्यस्य विकारो हिरण्मयी। 'दाण्डिनायन-' इत्यादिना मयटि यलोपनिपातः। तस्याम्—उर्व्यां रुहा रूढाः। इगुपधलक्षणः कप्रत्ययः। तासां वल्लीनां तन्तुभिः—तत्तुल्यैः सूक्ष्मावयवैः। उपादानगुणात् हिरण्मयैः। कृतोपवीतं शोभार्थं कल्पितयज्ञसूत्रं स्वयं हिमशुभ्रम्। अतएव घनान्ते=शरदि तडितां गणैरुपलक्षितम्। 'तडित्सौदामनी विद्युत्' इत्यमरः। उच्चैरेवोच्चकैः—उन्नतं। घनं—मेघमिव स्थितम् ॥ ७ ॥

[अन्वयः] विहङ्गराजाङ्गरुहैः इव आयतैः हिरण्मयोर्वीरुहवल्लितन्तुभिः कृतोपवीतम् हिमशुभ्रम् घनान्ते तडितां गणैः (उपलक्षितम्) उच्चकैः घनम् इव (स्थितम् अमुमबोधि)।

[विग्रहः] विहायसा गच्छन्तीति विहङ्गाः। विहङ्गानां राजा विहङ्गराजः। विहङ्गराजस्य अङ्गरुहाः—विहङ्गराजाङ्गरुहाः, तैः—विहङ्गराजाङ्गरुहैः। हिरण्यस्य विकारः—हिरण्मयी, हिरण्मयी चासौ उर्वी च हिरण्मयोर्वी, हिरण्मयोर्व्यां (रोहन्तीति) रुहाः—हिरण्मयोर्वीरुहाः, ताश्च ता वल्लयश्च हिरण्मयोर्वीरुहवल्लयः, हिरण्मयोर्वीरुहवल्लीनां तन्तवः, तैः हिरण्मयोर्वीरुह-

वल्लितन्तुभिः । कृत उपवीतो येन सः—कृतोपवीतः, तं कृतोपवीतम् । हिममिव शुभ्रः, हिमशुभ्रः-तम् । घनानाम् अन्तः—घनान्तस्तस्मिन्-घनान्ते ।

[अर्थः] विहङ्गराजाङ्गरुहैरिव = गरुडतनूरुहैरिव । गरुडलोमभिरिव । आयतैः = दीर्घैः । प्रलम्बैः । हिरण्मयोर्वीरुहवल्लीतन्तुभिः = सुवर्णमयधरित्रीसमुद्भूतलतातन्तुभिः । सुमेरुसमुद्भूतलतातन्तुभिः । सुमेरुसमुद्भूतसुवर्णमयपादपलताप्रतानैः । कृतोपवीतं = कल्पितयज्ञसूत्रम् । विरचितयज्ञसूत्रशोभितम् । (स्वयञ्च—) हिमशुभ्रम् = तुषारधवलम् । कर्पूरगौरम् । (अतएव—) घनान्ते = मेघापगमे । शरदृतौ । तडितां = विद्युताम् । गणैः = समूहैः । पंक्तिभिः । (—उपलक्षितम्—विराजितं) उच्चकैः = महोन्नतम् । घनं = मेघमिव, (—स्थितम्—) अमुं स नारद इत्यबोधीति पूर्वेणान्वयः ।

[भावार्थः] गरुडकेशप्रलम्बैः सुवर्णमयदिव्यप्रदेशोद्भूतैः कनकलतासूत्रैर्विरचितयज्ञोपवीतं कर्पूरावदातदेहं भगवन्तं नारदं विद्युद्गणविराजितशारदाभ्रमिव शोभमानं वासुदेवः क्रमादबोधि ।

[कोशः] 'वल्ली तु व्रततिर्लता' इत्यमरः । 'तडित्सौदामनी विद्युत्' इत्यमरः । 'तुषारस्तुहिनं हिमम्' इत्यमरः ।

[वाच्यव०] विहङ्गराजाङ्गरुहैरिवायतैर्हिरण्मयोर्वीरुहवल्लितन्तुभिः कृतोपवीतः हिमशुभ्रः घनान्ते तडितां गणैः (उपलक्षितः) उच्चकैः घन इव (स्थितः स तेन नारद इत्यबोधि) ।

[भाषाटीका] बर्फ की तरह सफेद शरीर वाले वे नारदजी—सुमेरु पर्वत पर होने वाली वृक्षों की लताओं के सुनहरे लम्बे २ तन्तुओं से बनाई हुई जनेऊ पहिने हुए थे, अतः बिजली के समूह से शोभित शरद् ऋतु के मेघों की तरह वे मालूम होते थे । (शरत्काल का मेघ सफेद होता है और नारदजी भी सफेद हैं) । ऐसे नारदजी को भगवान् ने पहचाना ॥ ७ ॥

निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा
लसद्बिसच्छेदसितांगसंगिना ।
चकासतं चारुचमूरुचर्मणा
कुथेन नागेन्द्रमिवेन्द्रवाहनम् ॥ ८ ॥

[सर्वङ्कषा] निसर्गेति । पुनः निसर्गात्स्वभावादेव चित्राणि शबलानि-उज्ज्वलानि—भास्वराणि सूक्ष्माणि पक्ष्माणि—लोमानि यस्य-तेन । लसन्-यो बिसच्छेदः—मृणालखण्डः । 'छेदः खण्डोऽस्त्रियाम्' इति त्रिकाण्डशेषः । तद्वत्सिते—अङ्गे वपुषि सङ्गिना-सक्तेन । चारुणा—मनोहरेण, चमूरुचर्मणा—मृगत्वचा, कुथेन—पृष्ठास्तरणेन । 'प्रवेण्यास्तरणं वर्णः परिस्तोमः कुथो द्वयोः' इत्यमरः । इन्द्रवाहनं नागेन्द्रमैरावतमिव चकासतं—शोभमानम् । इन्द्रस्य वाहनमिति स्वस्वामिभावमात्रस्य विवक्षितत्वात् 'वाहनमाहितात्' इति न णत्वम् । यथाह वामनः—'नेन्द्रवाहनशब्दे णत्वमाहितत्वस्याविवक्षितत्वात्' इति । चकासतेः शतरि 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमभावः । 'जक्षित्यादयः षट्' इत्यभ्यस्तसंज्ञा ॥८॥

[अन्वयः] निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा लसद्बिसच्छेद सिताङ्गसङ्गिना चारु चमूरुचर्मणा कुथेन इन्द्रवाहनम् नागेन्द्रमिव चकासतम्—(अमुं सः क्रमाल्लारद इत्यबोधि) ।

[विग्रहः] चित्राणि च उज्ज्वलानि च सूक्ष्माणि च चित्रोज्ज्वलसूक्ष्माणि । निसर्गेण चित्रोज्ज्वलसूक्ष्माणि पक्ष्माणि यस्य तत्—निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्म, तेन निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा । लसंश्चासौ बिसच्छेदश्च लसद्बिसच्छेदः, लसद्बिसच्छेद इव सितम् लसद्बिसच्छेदसितं, लसद्बिसच्छेदसितञ्च तदङ्गञ्च लसद्बिसच्छेदसिताङ्गम्, तत्र संगितेन—लसद्बिसच्छेदसिताङ्गसङ्गिना । चमूरोः चर्म चमूरुचर्म, चारु च तत् चमूरुचर्म च चारुचमूरुचर्म, तेन—चारुचमूरुचर्मणा । इन्द्रस्य वाहनम् इन्द्रवाहनम्, तत्तथाभूतम् । नागानामिन्द्रो नागेन्द्रस्तं नागेन्द्रम् ।

[अर्थः] निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा = सहजविचित्र-भास्वरसूक्ष्ममृदुलोमपरिवृतेन । स्वभावोज्ज्वलविचित्रवर्णरोम-राजिविराजितेन । लसद्बिसच्छेदसिताङ्गसङ्गिना = भास्वरमृणालखण्डधवलस्वाङ्गसंसक्तेन । चारुचमूरुचर्मणा = मृदुकमनीयतम-पराध्यमृगविशेषचर्मणा । कुथेन = पृष्ठास्तरणेन । इन्द्रवाहनं = महेन्द्रवाहनं । नागेन्द्रमिव = गजराजमैरावतमिव—चकासतं = शोभमानम् । (अमुं नारद इति क्रमादबोधि सः) ।

[भावार्थः] विचित्रवर्णमृदुतममृगचर्मणा परिवृतम्—अत एव नानवर्णकमनीयकुथास्तृतंमहेन्द्रनागेन्द्रमिव शोभमानममुं नारदमबोधि शनकैर्भगवान् वासुदेवः ।

[कोशः] 'स्वरूपञ्च स्वभावश्च निसर्गश्चे'त्यमरः । 'पक्ष्म सूत्रादि-सूक्ष्मांशे किञ्जल्के नेत्रलोमनि' इति विश्वः । 'छेदः खण्डोऽस्त्रियाम्' इति त्रिकाण्डशेषः । 'प्रवेण्यास्तरणं वर्णः परिस्तोमः कुथो द्वयोः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा लसद्बिसच्छेदसिताङ्ग-सङ्गिना चारुचमूरुचर्मणा कुथेन इन्द्रवाहनं नागेन्द्र इव चकासत् (स अबोधि)

[भाषा टीका] अपने गोरे गोरे शरीर पर विचित्रवर्ण के चमूरुनामक मृग की बढिया चर्म (मृगछाला) को धारण किए हुए वे नारदजी—नाना-वर्णकी मनोहर झूल से शोभित ऐरावत हाथी की तरह—मालूम होते थे॥८॥

अजस्रमास्फालितवल्लकीगुण-
क्षतोज्ज्वलांगुष्ठनखांशुभिन्नया ।
पुरः प्रवालैरिव पूरिताऽर्धया
विभान्तमच्छस्फटिकाक्षमालया ॥ ९ ॥

[सर्वङ्कषा] अजस्रमिति । पुनः—अजस्रं—प्राचुर्येण—आस्फा-लिताः—ताडिताः । सौष्ठवपरीक्षार्थं न्युब्जांगुष्ठेन तन्त्रीताडनं प्रसिद्धम् । तेषां वल्लकीगुणानां—वीणातन्त्रीणां क्षतन—संवर्षणेनोज्ज्वलैरंगुष्ठ-

नखांशुभिर्भिन्नया—मिश्रया । तद्रागरक्तयेत्यर्थः । अत एव पुरः—पुरोभागे, प्रवालैर्विद्रुमैः । 'अथ विद्रुमः पुंसि प्रवालं पुंनपुंसकम्' इत्यमरः । पूरितार्धयेव—स्थितया । अच्छस्फटिकाक्षमालया—स्वच्छस्फटिकानां मालया । जपमालयेत्यर्थः । 'अच्छो भल्लूके स्फटिकेऽमलेच्छाभिमुखेऽव्ययम्' इति हेमचन्द्रः । तथा प्रसिद्धस्फटिकग्रहणादृषेर्मोक्षार्थित्वं व्यज्यते । 'स्फटिको मोक्षदः परम्' इति मोक्षार्थिनां स्फटिकाक्षमालाभिधानात् । विभ्रान्तं—भासमानम् । भातेः शतृप्रत्ययः । अत्र 'नखांशुभिन्नये'ति स्वगुणत्यागेनान्यगुणस्वीकारलक्षणस्तद्गुणालङ्कार उक्तः । 'तद्गुणः स्वगुणत्यागात् ।' इति ॥ ९ ॥

[अन्वयः] अजस्रम् आस्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशुभिन्नया पुरः प्रवालैः पूरितार्धया इव अच्छस्फटिकाक्षमालया विभ्रान्तम्—(अमुं नारद इत्यबोधि सः) ॥

[विग्रहः] अङ्गुष्ठस्य नखम्—अङ्गुष्ठनखम् । अङ्गुष्ठनखस्य अंशवः-अंगुष्ठनखांशवः । वल्लक्याः गुणाः वल्लकीगुणाः । आस्फलिताश्च ते वल्लकीगुणाश्च—अस्फालितवल्लकीगुणाः आस्फालितवल्लकीगुणानां—(गुणैर्वा) क्षतम्—आस्फालितवल्लकीगुणक्षतम्, तेन उज्ज्वलाश्च ते अंगुष्ठनखांशवश्च आस्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलांगुष्ठनखांशवः, तैः भिन्ना, तथा—आस्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलांगुष्ठनखांशुभिन्नया । पूरितम् अर्धं यस्याः सा पूरितार्धा, तया पूरितार्धया । स्फटिकस्य अक्षमाला स्फटिकाक्षमाला, अच्छा चासौ स्फटिकाक्षमाला च अच्छस्फटिकाक्षमाला, तया—अच्छस्फटिकाक्षमालया ।

[अर्थः] अजस्रं = निरन्तरं । मुहुर्मुहुः । आस्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलांगुष्ठनखांशुभिन्नया = परिवादितस्ववीणातन्त्रीसंघर्षणोज्ज्वलांगुष्ठकररुहकिरणसम्पृक्तया । वीणातन्त्रीताडनघर्षणोज्ज्वलनखांशुरागरक्तयेति यावत् । (अतएव —) पुरः = पुरोभागे । अग्रभागे । प्रवालैः = विद्रुमैः । पूरितार्द्धयेव = गुम्फितार्धभागयेव —विभाव्यमानया । अच्छस्फटिकाक्षमालया

= स्वच्छस्फटिकमणिमालया । विभान्तं = भासमानम् । शोभमानम् । (अमुं नारद इति हरिः क्रमादबोधि) ।

[भावार्थः] तन्त्रीताडनरक्तांगुष्ठनखकिरणप्रभारागरक्तया पुरः प्रवालपूरितयेवाऽक्षमालया शोभमानम्—(अमुं नारद इत्यबोधि स इति पूर्वेणान्वयः) ।

[कोशः] 'सततानारताश्रान्तसन्तताविरतानिशम्' इत्यमरः । 'किरणोस्रमयूखांशुगभस्तिघृणिरश्मयः' इत्यमरः । 'अथ विद्रुमः पुंसि प्रवालं पुंनपुंसकम्' इत्यमरः । 'अच्छो भल्लूके स्फटिकेऽमलेऽच्छाऽभिमुखेव्ययम्' इति हैमः ।

[वाच्यप०] ...भिन्नया अच्छस्फटिकाक्षमालया विभान् स अबोधि ।

[भाषाटीका] निरन्तर अपनी वीणा के तारों के बजाने (घर्षण) से अधिक लाल रंगवाले अपने अंगूठे के नख की लाल रंग की प्रभा से जिस माला के मणि कुछ दूर तक लाल रंग के हो जाने से मूंगे की तरह मालूम होते हैं—ऐसी स्वच्छ स्फटिक की माला को हाथ में लिए हुए नारदजी को भगवान् ने पहिचाना ॥ ९ ॥

रणद्भिराघट्टनया नभस्वतः
पृथग्विभिन्नश्रुतिमण्डलैः स्वरैः ।
स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छना–
मवेक्षमाणं महतीं मुहुर्मुहुः ॥ १० ॥

[सर्वङ्कषा] रणद्भिरिति। पुनः—नभस्वतः—वायोः, आघट्टनया-आघातेन, पृथग्—असंकीर्णं, रणद्भिः—ध्वनद्भिः । अनुरणनोत्पद्यमानैरित्यर्थः । 'श्रुत्यारब्धमनुरणनं स्वरः' इति लक्षणात् । तदुक्तं रत्नाकरे—'श्रुत्यनन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः । स्वनो रञ्जयति श्रोतुश्चित्तं स स्वर उच्यते' ॥ इति । श्रुतिर्नाम स्वरारम्भकावयवः शब्दविशेषः । तदुक्तम्—'प्रथमश्रवणाच्छब्दः श्रूयते ह्रस्वमात्रकः । सा श्रुतिः संपरिज्ञेया स्वरावयवलक्षणा ॥' इति ।

विभिन्नानि-प्रतिनियतसंख्यया व्यवस्थितानि, श्रुतीनां मण्डलानि—समूहा येषां तैर्विभिन्नश्रुतिमण्डलैः । श्रुतिसंख्यानियमश्च दर्शितः—'चतुश्चतुश्चतुश्चैव षड्जमध्यमपञ्चमाः । द्वे द्वे निषादगान्धारौ त्रिस्त्रिर्ऋषभधैवतौ ॥' षड्जादयः सप्तोक्तलक्षणाः । तदुक्तम्—'श्रुतिभ्यः स्युः स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमाः । पञ्चमो धैवतश्चाथ निषाद इति सप्त ते । तेषां संज्ञाः सरिगमपधनीत्यपरा मताः ॥' इति । तैः स्वरः-स्फुटीभवन्त्यो ग्रामविशेषाणां षड्जाद्यपरनामकानां स्वरसंघातभेदानां त्रयाणां मूर्च्छनाः स्वरारोहावरोहक्रमभेदा यस्यां तां । महतीं-महतीनाम्नीं निजवीणाम् । 'विश्वावसोस्तु बृहती, तुम्बुरोस्तु कलावती । महती नारदस्य स्यात्सरस्वत्यास्तु कच्छपी ॥' इति वैजयन्ती । मुहुर्मुहुरवेक्षमाणाम् । तन्त्री योजनाभेदलक्षणमहिम्ना पुरुषप्रयत्नमन्तरेणैवाऽविसंवादं ध्वनतीति कौतुकादनुसन्दधानमित्यर्थः । अथ ग्रामलक्षणम्—' यथा कुटुम्बिनः सर्वेऽप्येकीभूता भवन्ति हि । तथा स्वराणां सन्दोहो ' ग्राम ' इत्यभिधीयते ॥ षड्जग्रामो भवेदादौ मध्यमग्राम एव च । गान्धारग्राम इत्येतद्ग्रामत्रयमुदाहृतम् ॥' इति । तथा—'नन्द्यावर्त्तोऽथ जीमूतः सुभद्रो ग्रामकास्त्रयः । षड्जमध्यमगान्धारास्त्रयाणां जन्महेतवः ॥' इति । मूर्च्छनालक्षणं च—'क्रमात्स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम् । सा मूर्च्छेत्युच्यते ग्रामस्था एताः सप्त सप्त च ॥' ग्रामत्रयेऽपि प्रत्येकं सप्त सप्त मूर्च्छना इत्येकविंशतिर्मूर्च्छना भवन्ति । तत्रेह नामानि तु ' नानपेक्षितमुच्यते ' इति प्रतिज्ञाभङ्गभयान्न लिख्यन्ते इति सर्वमवदातम् । अत्र पुंव्यापारमन्तरेण स्वराद्याविर्भावोक्त्या कोऽपि लोकातिक्रान्तोऽयं शिल्पसौष्ठवातिशयो वीणायाः प्रतीयते । तेन सह स्वतः प्रसिद्धातिशयस्याऽभेदेनाध्यवसितत्वात्तन्मूलातिशयोक्तिरलङ्कारः । सा च महत्याः पुंव्यापारं विना मूर्च्छाद्यसम्बन्धेऽपि सम्बन्धाभिधानादसम्बन्धे सम्बन्धरूपतया पुंव्यापाराख्यरूपकारणं विनापि मूर्च्छनादिकार्योत्पत्तिद्योतनाद्विभावना व्यज्यत इत्यलङ्कारध्वनिरिति संक्षेपः ॥ १० ॥

[अन्वयः] नभस्वतः आघट्टनया पृथग् रणद्भिः विभिन्नश्रुतिमण्डलैः स्वरैः स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनां महतीं मुहुः मुहुः अवेक्षमाणम् । (—क्रमादनु नारद इत्यबोधि सः)

[विग्रहः] श्रुतीनां मण्डलानि श्रुतिमण्डलानि । विभिन्नानि श्रुतिमण्डलानि येषां ते—विभिन्नश्रुतिमण्डलाः, तैः विभिन्नश्रुतिमण्डलैः । स्फुटीभवन्त्यः ग्रामविशेषाणां मूर्च्छनाः यस्यां सा — स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छना, ताम् — स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनाम् ।

[अर्थः] नभस्वतः = वातस्य । पवमानस्य । आघट्टनया = समाघातेन । तत्कृतेन ताडनेन । पृथक् = विस्पष्टम् । असंमिश्रं यथा स्यात्तथा । रणद्भिः = ध्वनद्भिः । अनुरणनोत्पद्यमानैः । विभिन्नश्रुतिमण्डलैः = प्रतिनियतसङ्ख्यया व्यवस्थितविभिन्नश्रुतिसमूहसमुद्भूतैः । स्वरैः = स - रि - ग - म प - ध नि - इत्येवं लोके प्रसिद्धैः षड्जादिभिः सप्तभिः स्वरैः । स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनाम् = व्यक्तीभवत्स्वरसन्दोहरूपग्रामविशेषारोहावरोहात्मकमूर्च्छनामनोहराम् । महतीं = महतीनाम्नीं स्वकीयां वीणाम् । मुहुर्मुहुः = वार वारम् । भृशम् । अवेक्षमाणं = विभावयन्तम् । अवलोकमानम् । पश्यन्तम् । (अमुं नारद इति हरिरबोधीति पूर्वेणान्वयः) ।

[भावार्थः] पवनाघातोद्भूतसुस्पष्टश्रुत्यात्मकस्वरारम्भकशब्दसमूहविशेषोत्पन्नैः सरिगमादिभिः सप्तभिः स्वरैः स्फुटीभवत्स्वरसन्दोहारोहावरोहां महतीनाम्नीं स्ववीणां कौतुकान्मुहुर्मुहुरवलोकयन्तं नारदं क्रमादबोधि भगवान् श्रीकृष्णः ।

[कोशः] 'विश्वावसोस्तु बृहती तुम्बुरोस्तु कलावती । महती नारदस्य स्यात्सरस्वत्यास्तु कच्छपी' इति वैजयन्ती ।

[वाच्यप०] नभस्वत आघट्टनया पृथक् रणद्भिः श्रुतिमण्डलैः स्वरैः स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनां महतीं मुहुर्मुहुरवेक्षमाणः (असौ अबोधि) ।

[भाषाटीका] वायु के आघात से उत्पन्न हुई जो श्रुतियां (मधुर झनझनाहट) उन से उत्पन्न जो स - रि - ग - म - प - ध - नि - ये सात स्वर [जिन स्वरों की श्रुतियों के मण्डल यथाक्रम व्यवस्थित हैं, तथा जिन स्वरों के ग्रामों (समूहों) की मूर्च्छना (उतार चढ़ाव) भी] जिसमें अपने आ

ही स्पष्ट हो रही है—ऐसी महती नामक अपनी वीणा को वारंवार देखते हुए श्रीनारदजी को भगवान् ने पहिचाना ॥ १० ॥

निवर्त्य सोऽनुव्रजतः कृतानती-
नतीन्द्रियज्ञाननिधिर्नभःसदः।
समासदत्सादितदैत्यसंपदः
पदं महेन्द्रालयचारु चक्रिणः ॥ ११ ॥

[सर्वङ्कषा] निवर्त्येति। अतीन्द्रिया इन्द्रियमतिक्रान्ता देशकालस्वरूपादिविप्रकृष्टार्थाः। 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समासः। 'द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्वगतिसमासेषु परवल्लिङ्गताप्रतिषेधो वक्तव्यः' इति विशेष्यलिङ्गत्वम्। तेषां ज्ञानं तस्य निधिः। सर्वार्थद्रष्टेत्यर्थः। कृतानतीन्-कृतप्रणामान्। अनुव्रजतः-अनुगच्छतः। नभसि-आकाशे सीदन्ति-गच्छन्तीति-नभःसदः-सुरान्। 'सत्सूद्विष-' इत्यादिना क्विप्। निवर्त्य-प्रतिषिध्य। सः—मुनिः। सादितदैत्यसंपदः—सादिताःविध्वस्तीकृताः दैत्यानां संपदो येन तस्य, चक्रिणः-कृष्णस्य, पदं-स्थानं, महेन्द्रालय चारु-इन्द्रभवनमिव भासमानं, समासदत्। समाङ्पूर्वात्षद्लृधातोर्लुङ्। 'पुषादि-' इत्यङ्। अत्र 'नतीनती' 'पदःपद'मिति च द्वयोर्व्यञ्जनयुग्मयोरसकृदावृत्त्या छेकानुप्रासः। अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास इत्यनयोः संसृष्टिः ॥ ११ ॥

[अन्वयः] अतीन्द्रियज्ञाननिधिः कृतानतीन् अनुव्रजतः नभःसदः निवर्त्य सः सादितदैत्यसम्पदः चक्रिणः महेन्द्रालयचारु पदं समासदत् ॥

[विग्रहः] इन्द्रियमतिक्रान्ताः अतीन्द्रियाः, अतीन्द्रियाणां ज्ञानम्—अतीन्द्रियज्ञानम्, अतीन्द्रियज्ञानस्य निधिः—अतीन्द्रियज्ञाननिधिः। कृता आनतयो यैस्ते कृतानयतः—तान् कृतानतीन्। नभसि सीदन्तीति नभः सः, तान्—नभःसदः। दैत्यानां सम्पदो-दैत्यसम्पदः, सादिता दैत्यसम्पदो-ऽसौ—सादितदैत्यसम्पत्, तस्य—सादितदैत्यसम्पदः। महेन्द्रस्य आलयः महेन्द्रालयः, महेन्द्रालय इव चारु महेन्द्रालयचारु, तत्तथाभूतम्।

[अर्थः] अतीन्द्रियज्ञाननिधिः = चक्षुरादीन्द्रियाऽगोचरपदार्थतत्त्वज्ञानविशारदः । ब्रह्मसाक्षात्कारवान् । योगी । अतीतानागतवेत्ता च । सः = ब्रह्मपुत्रो नारदः । कृतानतीन् = कृतप्रणामान् । कृतसपर्यान् । नम्रान् वा । अनुव्रजतः = अनुगच्छतः । नभःसदः = इन्द्रादिदेवान् । निवर्त्य = परावर्त्य । (स मुनिः) सादितदैत्यसम्पदः = दैत्यकुलराजलक्ष्मीहरणपरायणस्य । विनाशितहिरण्यकशिपुहिरण्याक्षादिदैत्यसम्पदः । चक्रिणः = चक्रायुधस्य श्रीविष्णोःकृष्णस्य।महेन्द्रालयचारु=इन्द्रभवनमनोहरं। महेन्द्रभवनशोभातिशायि । पदं = भवनम्। स्थानम्। समासदत् = प्रापत्। समाससाद। आजगाम।

[भावार्थः] कृतोचितसत्कारानुगच्छतो देवान्निवर्त्य भगवान् नारदो महेन्द्रभवनातिशायि श्रीकृष्णभवनमाजगाम।

[कोशः] 'चक्री कोके कुलालेऽहौ वैकुण्ठे चक्रवर्तिनि' इति हैमः।

[वाच्यप०] अतीन्द्रियज्ञाननिधिना तेन कृतानतीन् अनुव्रजतः नभःसदः निवर्त्य सादितदैत्यसम्पदः चक्रिणः महेन्द्रालयचारु पदं समासादि।

[भाषाटीका] जिन्होंने बड़ी श्रद्धा से पूजा व सत्कार किया है ऐसे (अपने पीछे २ आते हुए) देवताओं को वापिस स्वर्ग को लौटाकर श्रीनारद मुनि इन्द्र के भवन से भी श्रेष्ठ श्रीकृष्णभगवान् के स्थान पर पधारे ॥११॥

पतत्पतङ्गप्रतिमस्तपोनिधिः
पुरोऽस्य यावन्न भुवि व्यलीयत।
गिरेस्तडित्वानिव तावदुच्चकै-
र्जवेन पीठादुदतिष्ठदच्युतः ॥ १२ ॥

[सर्वङ्कषा] पतदिति। पतन्-यः पतङ्गः-सूर्यः स प्रतिमोपमानं यस्य सः। 'पतङ्गौ पक्षिसूर्यौ च' इत्यमरः। तपोनिधिः—मुनिरस्य-हरेः पुरो भुवि-पुरःप्रदेशे यावन्न व्यलीयत-नातिष्ठत्। 'लीङ् गतौ' इति धातोर्दिवादिकात्कर्तरि लङ्। तावदच्युतः-हरिः, गिरेः—शैलात्। तडितोऽस्य

सन्तीति तडित्वान्–मेघ इव । 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' इति मतुपो मकारस्य वकारः । 'तसौ मत्वर्थे' इति भसंज्ञायामेकसंज्ञाधिकारेणाऽपदत्वान्न जश्त्वम् । उच्चैः–उन्नतात्पीठादासनाज्जवेनोदतिष्ठत् । मुनिचरणस्य भूस्पर्शात्प्रागेव स्वयमुत्थितवान् । 'ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति। प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते ॥' इति शास्त्रमनुस्मरन्निति भावः । 'उदोऽनूर्ध्वकर्मणि' इति नियमादिहोर्ध्वकर्मणि नात्मनेपदम् । पतत्पतङ्ग इत्यत्र पतङ्गस्य पतनासंभवादियमभूतोपमेत्याचार्यदण्डिप्रभृतयो बभणुः । अत एवाप्रसिद्धस्योपमानत्वायोगादुत्प्रेक्षेत्याधुनिकालङ्कारिकाः सर्वे वर्णयन्ति ॥ १२ ॥

[अन्वयः] पतत्पतङ्गप्रतिमः तपोनिधिः अस्य पुरो भुवि यावन्न व्यलीयत तावत् अच्युतः–गिरेस्तडित्वानिव–उच्चैः पीठात् जवेन उदतिष्ठत् ।

[विग्रहः] पतंश्चासौ पतङ्गश्च पतत्पतङ्गः, पतत्पतङ्गः प्रतिमा यस्याऽसौ—पतत्पतङ्गप्रतिमः । तपसां निधिः तपोनिधिः । तडितोऽस्य सन्तीति तडित्वान् । उच्चैरेव उच्चैः ।

[अर्थः] पतत्पतङ्गप्रतिमः = निष्पतन्मार्त्तण्डमण्डलोपमः । प्रसर्पत्सूर्यसङ्काशः । तपोनिधिः = तपोमूर्त्तिर्भगवान् नारदः । अस्य = भगवतो वासुदेवस्य । पुरः = अग्रे । भुवि = पृथिव्यां । यावत् = यावत्कालं । न व्यलीयत = नातिष्ठत् । नाजगाम । न सम्प्राप्तो, नावतीर्ण इति वा । तावत् = तावदेव । (मुनिचरणयोर्भूस्पर्शात्प्रागेव) । अच्युतः = श्रीवासुदेवः । गिरेः = महीधरात् । पर्वतशिखरात् । तडित्वानिव = मेघ इव । उच्चैः = समुन्नतात् । पीठात् = आसनात् । सिंहासनात् । जवेन = वेगेन । ससम्भ्रमं, सत्वरञ्चेति यावत् । उदतिष्ठत् = समुत्तस्थौ ।

[भावार्थः] सूर्यसङ्काशो भगवान् तपस्विपरिवृढो मुनिर्नारदो यावद्भुवि नावतीर्णस्तावदेव तत्सपर्यार्थं श्रीकृष्णचन्द्रः समुन्नतादासनात्–गिरिशिखराज्जलधर इव–उदतिष्ठत् ।

[कोशः] ' पतङ्गौ पक्षिसूर्यौ च ' इत्यमरः ।

[दाच्यप०] पतत्पतङ्गप्रतिमेन तपोनिधिना तस्य पुरो भुवि यावन्न व्यलीयत तावद्गिरेस्तडित्वता इव अच्युतेन उच्चैः पीठाज्जवेन उदस्थीयत।

[भाषाटीका] सूर्य की तरह तेजस्वी तपोमूर्ति श्रीनारदजी जब भगवान् श्रीकृष्ण के सामने पहुँचे और पृथिवी पर पैर रखने ही लगे तभी (उससे पहिले ही) भगवान् श्रीकृष्ण अपने ऊँचे सिंहासन से—पर्वत से जैसे मेघ ऊपर उठते हैं वैसे ही—उठ खड़े हुए ॥ १२ ॥

अथ प्रयत्नोन्नमिताऽऽनमत्फणै-
धृते कथंचित्फणिनां गणैरधः ।
न्यधायिषातामभिदेवकीसुतं
सुतेन धातुश्चरणौ भुवस्तले ॥ १३ ॥

[सर्वङ्कषा] अथ—अच्युताभ्युत्थानानन्तरं, धातुः सुतेन—नारदेन, प्रयत्नोन्नमितास्तथापि मुनिपादन्यासभारादानमन्त्यः फणा येषां तैः, फणिनां गणैरधोऽधः प्रदेशे कथंचिद्धृते—स्थापिते । भुवस्तले—भूपृष्ठे । अभिदेवकीसुतं—देवकीसुतमभिलक्ष्यीकृत्येत्यर्थः । 'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये ' इत्यव्ययीभावः । चरणौ—पादौ । 'पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम् ' इत्यमरः । न्यधायिषातां—निहितौ । दधातेः कर्मणि लुङ् । 'स्यसिच्सीयुट्' इत्यादिना चिण्वदिटि युक् । अत्र फणानां नमनोन्नमनासम्बन्धेऽपि मुनिगौरवाय तत्सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिभेदः ॥ १३ ॥

[अन्वयः] अथ धातुः सुतेन–प्रयत्नोन्नमितानमत्फणैः फणिनां गणैः भुवस्तले अधः कथंचित धृते (सति)–अभिदेवकीसुतम् चरणौ न्यधायिषाताम् ।

[विग्रहः] प्रयत्नेन उन्नमिताः प्रयत्नोन्नमिताः, प्रयत्नोन्नमिता अपि आनमन्त्यः फणा येषां ते प्रयत्नोन्नमितानमत्फणाः, तैः—प्रयत्नोन्नमितानमत्फणैः । देवक्याः सुतः देवकीसुतः, देवकीसुतस्य अभि इति—अभिदेवकीसुतम् ।

[अर्थः] अथ = श्रीकृष्णाभ्युत्थानानन्तरं । धातुः = ब्रह्मणः। सुतेन = पुत्रेण । नारदेन । प्रयत्नोन्नमितानमत्फणैः = प्रयासपरम्परोन्नमितभरावनतफणामण्डलैः फणिनां = दर्वीकराणां । सर्पाणां । गणैः = समूहैः । अधः = अधःप्रदेशे । भूतलप्रदेशे । कथञ्चित् = महता प्रयत्नेन । धृते = उत्तोलिते सति । भुवः = पृथिव्याः तले = भूपृष्ठे । अभिदेवकीसुतं = श्रीकृष्णमभिमुखीकृत्य । चरणौ = पादौ । न्यधायिषाताम् अस्थायिषाताम् ।

[भावार्थः] प्रयत्नशतेन फणिनां कुलैः सम्भूय भूतले कथञ्चिदद्धृते सति श्रीकृष्णाभिमुखं श्रीनारदो भूतले पादन्यासं चकार ।

[कोशः] 'फटायान्तु फणा द्वयोः' इत्यमरः । 'पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] धातुः सुतः प्रयत्नोन्नमितानमत्फणैः फणिनां गणैर्भुवस्तले अधः कथञ्चिद्धृते सति अभिदेवकीसुतम् चरणौ न्यधित ।

[भाषाटीका] 'नारदजी के भार से पृथ्वी कहीं दब न जाए'—इस भय से पाताल निवासी सर्पों ने मिलकर बड़े प्रयत्न से जब पृथ्वी को किसी तरह सावधानतापूर्वक स्थिर किया उस समय श्रीकृष्णचन्द्र के सम्मुख भूतल पर भगवान् नारदजी उतरे ॥ १३ ॥

तमर्घ्यमर्घ्यादिकयाऽऽदिपूरुषः
सपर्यया साधु स पर्यपूपुजत् ।
गृहानुपैतुं प्रणयादभीप्सवो
भवन्ति नाऽपुण्यकृतां मनीषिणः ॥१४॥

[सर्वङ्कषा] तमिति । आदिपुरुषः—पुराणपुरुषः । 'अन्येषामपि दृश्यते' इति वा दीर्घः। सः—कृष्णः । अर्घं पूजामर्हतीत्यर्घ्यः। 'दण्डादिभ्यो यः' । तं नारदम् । अर्घार्थं द्रव्यमर्घ्यम् । 'पदार्घाभ्यां च' इति यत्प्रत्ययः । 'मूल्ये पूजाविधावर्घः' । 'षट् तु त्रिष्वर्घ्यमर्घार्थे' इति चामरः ।

अर्घ्यमादिर्यस्यास्तया—अर्घ्यादिकया । 'शेषाद्विभाषा' इति विकल्पेन कप्प्रत्ययः । सपर्यया—पूजया । 'पूजा नमस्याऽपचितिः सपर्याऽर्चाऽर्हणाः समाः' इत्यमरः । साधु यथा तथा पर्यपूपुजत्—परिपूजितवान् । णौ चङ्न्तं । कर्तव्यम्, युक्तं चैतदित्यर्थान्तरं न्यस्यति—गृहानिति । मनस ईषिणो मनीषिणः—सन्तः । पृषोदरादित्वात्साधुः । अपुण्यकृतां—पुण्यमकृतवताम् । 'सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः' इति भूते क्विप् । गृहान्प्रणयादुपैतुमभीप्सवः—प्राप्तुमिच्छवः। आप्नोतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । 'आप्ज्ञप्यृधामीत्' इतीकारः । न भवन्ति । किन्तु पुण्यकृतामेव । अतः कृच्छ्रलभ्याः सन्तः पूज्या इत्यर्थः ॥ १४ ॥

[अन्वयः] आदिपूरुषः स अर्घ्यं तम् अर्घ्यादिकया सपर्यया साधु पर्यपूपुजत् । मनीषिणः अपुण्यकृतां गृहानुपैतुं प्रणयात् अभीप्सवो न भवन्ति ।

[विग्रहः] आदिश्चासौ पूरुषश्च आदिपूरुषः । अर्घमर्हतीति अर्घ्यः,तम्—अर्घ्यम् । अर्घ्यः आदिर्यस्याः सा अर्घ्यादिका, तथा—अर्घ्यादिकया । पुण्यं कृतवन्तः पुण्य कृतः, न पुण्यकृतः—अपुण्यकृतः, तेषाम्—अपुण्यकृताम् ।

[अर्थः] आदिपूरुषः = पुराणपुरुषः । पुरुषोत्तमः । सः = श्रीहरिः । अर्घ्यं = पूज्यं । तं = ब्रह्मपुत्रं तपस्विश्रेष्ठं नारदम् । अर्घ्यादिकया = पाद्यार्घ्यादिप्रधानया । सपर्यया = पूजया । साधु = समुचितं यथा स्यात्तथा । पर्यपूपुजत् = पूजयामास । मनीषिणःमहान्तो विद्वांसः । अपुण्यकृताम् = अपुण्यशीलानाम् । अधन्यानाम् । गृहान् = वेश्मानि । प्रणयात् = स्नेहात् । उपैतुम् = आगन्तुम् । समागन्तुम् । अभीप्सवः = कृताभिलाषाः । औत्सुक्यवन्तः । उत्कण्ठिताः । न भवन्ति = नैव भवन्ति ।

[भावार्थः] पूज्यं तं नारदं भगवान् श्रीनारायणः शास्त्रबोधितेन विधिना अर्घ्यपाद्याचमनीयादिभिर्यथोचितं पूजयामास । सत्कारकुशलानां विनीतानां पुण्यशीलानां कुले एव महान्तः प्रणयाद्गन्तुमिच्छति नापुण्यशीलानाम् ।

[कोशः] 'पूजा नमस्यापचितिः सपर्याऽर्चार्हणाः समाः' इत्यमरः। 'गृहाः पुंसि च भूम्न्येव निकाय्यनिलयालयाः' इत्यमरः। 'धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः' इत्यमरः। 'मूल्ये पूजाविधावर्घः' इत्यमरः।

[वाच्यप०] आदिपूरुषेण अर्घ्यः स अर्घ्यादिकया सपर्यया साधु पर्यपूजि। मनीषिभिरपुण्यकृतां गृहानुपैतुं प्रणयादभीप्सुभिर्न भूयते।

[भाषाटीका] अतिथि के सत्कार करने में कुशल पुरातन पुमान् भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने पूजनीय नारदजी की (अर्घ्य पाद्य आचमनीय आदि निवेदनपूर्वक) शास्त्रीय रीति से पूजा की। महात्मा लोग विनीत व पुण्यात्मा लोगों के घर पर ही प्रेम से जाते हैं अविनीत दुष्टलोगों के घरों पर नहीं (अतः उनकी पूजा करना उचित ही है) ॥ १४ ॥

न यावदेतावुदपश्यदुत्थितौ
जनस्तुषाराऽञ्जनपर्वताविव।
स्वहस्तदत्ते मुनिमासने मुनि-
श्चिरन्तनस्तावदभिन्यवीविशत् ॥ १५ ॥

[सर्वङ्कषाः] न यावदिति। उत्थितावेतौ—मुनिकृष्णौ, जनः—तुषाराञ्जनयोः पर्वताविव यावन्नोदपश्यत्—नोत्प्रेक्षितवान्। तावच्चिरन्तनः—पुराणो मुनिः——कृष्णः। 'पुरा किल भगवान्बदरिकाश्रमे नारायणावतारे[ण] तपसि स्थितवान्' इति पुराणात्। 'सायंचिरम्—' इत्यादिना ट्युप्रत्ययस्तुडागमश्च। स्वहस्तेन दत्ते आसने—मुनिं—नारदमभिन्यवीविशत्—स्वाभिमुखेनोपवेशितवान्। अभिनिपूर्वाद्विशतेर्ण्यन्ताल्लुङि 'णिश्रि—' इति चङ् ॥१५॥

[अन्वयः] उत्थितौ एतौ जनः तुषाराञ्जनपर्वतौ इव यावन्नोदपश्यत् तावत् चिरन्तनः मुनिः स्वहस्तदत्ते आसने मुनिम् अभिन्यवीविशत्।

[विग्रहः] तुषारश्च अञ्जनञ्च तुषाराञ्जने, तुषाराञ्जनयोः पर्वतौ तुषारा-

ञ्जनपर्वतौ, तौ। स्वस्य हस्तौ स्वहस्तौ, स्वहस्ताभ्यां दत्त स्वहस्तदत्तम्, तस्मिन् स्वहस्तदत्ते। चिरं भवः—चिरन्तनः।

[अर्थः] जनः=द्वारकानिवासिलोकः। तुषाराञ्जनपर्वताविव = तुहिनसौवीराऽञ्जनशैलाविव। हिमाञ्जनाचलाविव। उत्थितौ = समुत्थितौ। एतौ = नारदश्रीकृष्णौ। यावत् = यावत्कालं। न उदपश्यत् = न वितर्कितवान्। नोत्प्रेक्षितवान्। नोदैक्षत। तावत् = तावदेव। झटिति। चिरन्तनः = पुराणः। मुनिः = भगवान्नारायणः। स्वहस्तदत्ते = ससम्भ्रमं स्वयमानीय विस्तारिते। आसने= स्वास्तरणे हेमपीठे। सुखासने च। मुनिं = नारदम्। अभिन्यवीविशत् = स्वाभिमुखं निवेशयामास। अतिष्ठिपत्।

[भावार्थः] 'किमिमौ हिमालयाञ्जनपर्वतावुत्थितौ—' इति यदुपुरीनिवासिलोकाश्शंकिता न यावन्नारदवासुदेवावुत्प्रेक्षन्ते तावदेव ससम्भ्रमं भगवान्वासुदेवः स्वहस्तदत्ते आसने मुनिं निवेशयामास।

[अत्र नारदः श्वैत्यात्तुपारगिरितुल्यः, श्रीकृष्णश्च घनश्यामतयाऽञ्जनशैलोपम इत्यप्यवधेयम्।]

[कोशः] 'तुषारस्तुहिनं हिमम्' इत्यमरः। 'यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे' इत्यमरः।

[वाच्यप०] जनेन उत्थितौ एतौ तुषाराञ्जनपर्वताविव यावन्नोदृश्येतां तावच्चिरन्तनेन मुनिना मुनिः स्वहस्तदत्ते आसने अभिन्यवेशि।

[भाषाटीका] बर्फ की तरह उज्ज्वलवर्ण नारदजी को और अञ्जन (सुर्मा) की तरह नीलवर्ण भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको एक साथ खड़े हुए देखकर द्वारकानिवासी लोग जबतक यह उत्प्रेक्षा करें कि—'ये हिमालय और अञ्जनगिरि एक साथ कैसे उठ खड़े हुए ?' तब तक ही भगवान् ने झट से अपने हाथ से आसन बिछाकर उसपर नारद मुनि को (अपने सामने ही) बैठाया॥ १५॥

महामहानीलशिलारुचः पुरो
निषेदिवान्कंसकृषः स विष्टरे ।
श्रितोदयाद्रेरभिसायमुच्चकै-
रचूचुरच्चन्द्रमसोऽभिरामताम् ॥ १६ ॥

[सर्वङ्कषा] महामहेति ॥ महत्या महानीलशिलायाः—सिंहलद्वीपसंभवेन्द्रनीलोपलस्य रुगिव रुग्यस्य तस्येत्युपमालङ्कारः । 'सिंहलस्थाकरोद्भूता महानीलास्तु ते स्मृताः' इति भगवानगस्त्यः । कंसकृषः—हरेः । पुरः—अग्रे । उच्चकैः—उन्नते । विष्टरे—आसने । वृक्षासनयोर्विष्टरः' इति षत्वम् । निषेदिवान्—उपविष्टवान् । 'भाषायां सदवसश्रुवः' इति क्वसुः । सः—मुनिः, अभिसायं—सायङ्कालाभिमुखम् । अव्ययीभावसमासः । सायङ्कालस्य कार्ष्ण्यात्कृष्णोपमानत्वम् । श्रित आश्रित उदयाद्रिरुदयाचलो येन तस्य चन्द्रमसोऽभिरामतां—शोभामचूचुरत्—चोरितवान् । प्राप्तवानित्यर्थः । 'चुर स्तेये' 'णिश्रि'—इति चङ् । अन्यस्यान्यधर्मसम्बन्धासम्भवाच्चन्द्रमसोऽभिरामतामिवाभिरामतामित्यौपम्यपर्यवसानादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूपो निदर्शनाभेदः । स चोक्तोपमयाऽङ्गाङ्गिभावेन सङ्कीर्यते ॥ १६ ॥

[अन्वयः] महामहानीलशिलारुचः कंसकृषः पुरः उच्चकैः विष्टरे निषेदिवान् सः अभिसायं श्रितोदयाद्रेश्चन्द्रमसः अभिरामताम् अचूचुरत् ।

[विग्रहः] महानीलस्य शिला महानीलशिला । महती चासौ महानीलशिला च महामहानीलशिला । महामहानीलशिलाया रुगिव रुग्यस्य स महामहानीलशिलारुक्, तस्य—महामहानीलशिलारुचः । कंसं कृषतीति कंसकृट्, तस्य कंसकृषः । श्रित उदयाद्रिर्येनासौ श्रितोदयाद्रिः, तस्य श्रितोदयाद्रेः । सायम् अभिलक्ष्मीकृत्येति अभिसायम् । उच्चैरेव—उच्चकैः । अभिरामस्य भावः अभिरामता, ताम्—अभिरामताम् ।

[अर्थः] महामहानीलशिलारुचः = महामहेन्द्रनीलमणि-

शिलात्विषः । स्वच्छमहेन्द्रनीलमणिप्रभस्य । कंसकृपः = कंस द्विषः । कंसारेः । श्रीकृष्णस्य । पुरः = अग्रे । उच्चकैः = महोन्नते । विष्टरे = आसने । पीठे । निषेदिवान् = निषण्णः । उपविष्टः । सः = नारदः । अभिसायं = सायङ्काले । रजनीमुखे । श्रितोदयाद्रेः = उदयाचलचूडावलम्बिनः । समाश्रितोदयाचलस्य । चन्द्रमसः = इन्दोः । अभिरामतां = रमणीयताम् । शोभाम् । अचूचुरत् = चोरयामास । तिरश्चकार । स्वीचकारेति च ।

[भावार्थः] स्वच्छमहेन्द्रनीलमणिकान्तेः कंसद्विपः पुरतो महोन्नते विष्टरे समुपविष्टस्य तुपारकान्तेर्नारदस्य—उदयाद्रिशिखरमधिरूढस्य चन्द्रमस इव—महती शोभाऽऽसीत् । नीलरुचः कृष्णस्य पुरतः स्वर्णविष्टरे समुपविष्टश्चन्द्रशुभ्रद्युतिर्नारदः प्रदोपसमयोदितचन्द्रशोभां बभारेति यावत् ।

[कोषः] 'स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भाभाश्छविद्युतिदीप्तयः' इत्यमरः । 'विष्टरः पीठमस्त्रियाम्' इति त्रिकाण्डशेषः ।

[वाच्यपरि०] महामहानीलशिलारुचः पुरो निषेदुषा तेन अभिसायम् उच्चकैः चन्द्रमसोऽभिरामता अचोरि ।

[भाषाटीका] विशाल महेन्द्रनीलमणि (पन्ना) की तरह नीली कान्ति वाले श्रीकृष्णभगवान् के सामने ऊँचे सोने के सिंहासन पर बैठे हुए नारदजी ऐसे मालूम होते थे जैसे—सायंकाल के समय उदयाचलशिखरारूढ चन्द्रमा । [सोने का सिंहासन—सायंकालिक अरुण प्रभा के तुल्य । नीलवर्ण श्रीकृष्णचन्द्र—सायङ्कालिक आकाश के तुल्य । नारदजी श्वेत चन्द्रमा के तुल्य ।] ॥ १६ ॥

विधाय तस्याऽपचितिं प्रसेदुषः
प्रकाममप्रीयत यज्वनां प्रियः ।
ग्रहीतुमार्यान्परिचर्यया मुहु-
र्महानुभावा हि नितान्तमर्थिनः ॥ १७ ॥

[सर्वङ्कषा] विधायेति । यज्वानो—विधिनेष्टवन्तः । 'यज्वा तु विधिनेष्टवान्' इत्यमरः । 'सुयजोः–' इति यजिधातोर्ङ्वनिप् । तेषां प्रियो-हरिः प्रसेदुषः–प्रसन्नस्य । 'सदेःक्वसुः' इत्युक्तम् । तस्य मुनेरपचिति–पूजाम् । 'पूजा नमस्यापचितिः' इत्यमरः । विधाय–विशेषेण मनोवाक्का-यकर्मभिस्तत्परतया कृत्वा, प्रकामम्–अत्यर्थम्, अप्रीयत–प्रीतोऽभूत् । प्रीयतेर्दैवादिकात्कर्तरि लङ् । मुनिपूजायाः प्रीतिहेतुत्वेऽर्थान्तरं न्यस्यति–महानुभावाः–महात्मानः, आर्यान्-पूज्यान्परिचर्यया मुहुर्ग्रहीतुं–वशी-कर्तुम् । 'ग्रहोऽलिटि दीर्घः' इतीटो दीर्घः । नितान्तमर्थिनः–अभिलाष-वन्तो हि भवन्ति । अर्थनमर्थोऽभिलाषः स एषामस्तीति मत्वर्थ इनिर्न तु णिनिः । 'कृद्वृत्तेस्तद्धितवृत्तिर्बलीयसी'ति भाष्यात् ॥ १७ ॥

[अन्वयः] यज्वनां प्रियः (स) प्रसेदुषस्तस्य अपचितिं विधाय प्रकामम् अप्रीयत । हि महानुभावाः आर्यान् परिचर्यया मुहुर्ग्रहीतुम् नितान्तमर्थिनः (भवन्ति) ।

[विग्रहः] विधिना इष्टवन्त इति-यज्वानः, तेषां यज्वनाम् । महान् अनुभावो येषां ते महानुभावाः । अर्थनम्–अर्थः, अर्थ एषामस्तीति अर्थिनः ।

[अर्थः] यज्वनां=विधिनेष्टवताम् । प्रियः=वल्लभः । (स–हरिः) प्रसेदुषः=प्रसन्नस्य । तस्य=नारदस्य । अपचितिं= पूजाम् । विधाय=कृत्वा। प्रकामं=नितराम् । अप्रीयत=प्रासदत् । प्रसन्नोऽभवत् । हि=यतः । महानुभावाः=तेजस्विनो महान्तो महाप्रभावाः प्रभवः । आर्यान्=पूज्यान् । साधून् । परिचर्यया= सेवया । शुश्रूषया । मुहुः=भृशं, पौन-पुन्येन च । ग्रहीतुं= वशीकर्त्तुम् । अनुकूलयितुम् । नितान्तं=नितराम् । अर्थिनः= साभिलाषाः । (भवन्ति । विद्यन्ते । जायन्ते ।)

[भावार्थः] पूज्यस्य मुनेर्नारदस्य पूजां विधाय भगवा-न्वासुदेवः प्रकाममप्रीयत । सतां हि शुश्रूषाङ्कर्त्तुं महानुभावा अप्यभिलाषं बिभ्रति ।

[कोशः] 'पूजा नमस्याऽपचितिः' इत्यमरः । 'यज्वा तु विधिनेष्टवान्'

इत्यमरः । 'परिचर्या तु शुश्रूषा वरिवस्या' इत्यमरः । 'अनुभावः प्रभावे च सतां च मतिनिश्चये' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] प्रसेदुषस्तस्याऽपचितिं विधाय यज्वनां प्रियेण अप्रीयत । आर्यान् परिचर्यया ग्रहीतुं महानुभावैः हि—नितान्तम् अर्थिभिः (भूयते)

[भाषाटीका] यज्ञयागशील ऋषिमुनियों में सहज भक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र नारदजी की पूजा कर के बड़ेही प्रसन्न हुए। यह ठीक भी है, क्योंकि—नारदजी ऐसे साधु महात्माओं के कृपाकटाक्ष के पाने के लिए महानुभाव (बड़े बड़े प्रभावशाली राजा तथा महाराजा व सम्राट्) भी लालायित रहते हैं ॥ १७ ॥

अशेषतीर्थोपहृताः कमण्डलो-
र्निधाय पाणावृषिणाभ्युदीरिताः ।
अघौघविध्वंसविधौ पटीयसी-
र्नतेन मूर्ध्ना हरिरग्रहीदपः ॥१८॥

[सर्वङ्कषा] अशेषेति । **अशेषेभ्यस्तीर्थेभ्य उपहृताः**—आहृताः तथा **पाणौ निधाय कमण्डलोः**—उदकपात्रादुद्धृत्य पाणौ निधायेत्यर्थः । क्रयान्तराक्षिप्तक्रियापेक्षया कमण्डलोरपादानत्वम् । 'अर्थी कमण्डलुः ण्डी' इत्यमरः । **ऋषिणाभ्युदीरिताः**—आक्षिप्ताः, अत एवाघौघानां—पापसमूहानां **विध्वंसविधौ**—विनाशकरणे, **पटीयसीः**—समर्थतराः । पटुशब्दादीयसुनि 'उगितश्च' इति ङीप् । अपः—**हरिर्नतेन मूर्ध्ना अग्रहीत्**—स्वीकृतवान् । ग्रहेर्लुङ् ॥ १८ ॥

[अन्वयः] **अशेषतीर्थोपहृताः कमण्डलोः पाणौ निधाय ऋषिणा अभ्युदीरिताः अघौघविध्वंसविधौ पटीयसीः अपः हरिः नतेन मूर्ध्ना अग्रहीत् ।**

[विग्रह-] अशेषाणि च तानि तीर्थानि च—अशेषतीर्थानि । अशेषतीर्थेभ्य उपहृताः—अशेषतीर्थोपहृताः, तास्तथाभूताः । अघानाम् ओघः अघौघः, अघौघस्य विध्वंसः—अघौघविध्वंसः । अघौघविध्वंस एव

विधिः-अघौघविध्वंसविधिः (अघौघविध्वंसस्य विधिरिति वा) तस्मिन्— अघौघविध्वंसविधौ । अतिशयेन पटव इति पटीयस्यः, ताः-पटीयसीः ।

[अर्थः] अशेषतीर्थोपहृताः=सकलतीर्थाहृताः । निखिलेभ्य-स्तीर्थेभ्य आनीताः । कमण्डलोः=जलपात्रात् । आकृतिविशेष-मनोहराज्जलपात्रात् । तत उद्धृत्येति यावत् । पाणौ=स्वकरे । निधाय = गृहीत्वा । स्थापयित्वा । ऋषिणा = नारदेन । अभ्युदीरिताः = स्वाभिमुखं प्रक्षिप्ताः । अघौघविध्वंसविधौ= पापनिवहनिरासव्यापारे । कलुषसमूहविनाशकर्मणि । पाप-परम्परानाशविधौ । पटीयसीः = नितरां समर्थाः । अपः = जलानि । हरिः = अच्युतः । नतेन = नम्रेण । मूर्ध्ना=मस्तकेन । शिरसा । अग्रहीत् = =जग्राह ।

[भावार्थः] महर्षिणा नारदेन कमण्डलोरुद्धृत्य स्वपाणौ नि-धाय निक्षिप्तं सर्वतीर्थोदकं नतेन शिरसा सभक्ति हरिरग्रहीत् ।

[कोशः] 'अस्त्री कमण्डलुः कुण्डी'त्यमरः । 'कलुषं वृजिनैनोऽघमं-होदुरितदुष्कृतम्' इत्यमरः । 'विधिर्विधाने दैवे चे'ति हैमः । 'उत्तमाङ्गं शिरः शीर्षं मूर्धा ना मस्तकोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । 'आपः स्त्री भूम्नि वार्वारि सलिलं कमलं जलम् ' इत्यमरः ।

[वाच्यपरि०] अशेषतीर्थोपहृताः अघौघविध्वंसविधौ पटीयस्य आपः हरिणा नतेन मूर्ध्ना अग्राहिषत ।

[भाषाटीका] सम्पूर्ण तीर्थों से लाया हुआ जो पवित्र जल नारदजी के कमण्डलु में था उसे उन्होंने अपने हाथ में लेकर भगवान् श्रीकृष्ण के ऊपर छिड़का । और भगवान् ने भी उस पवित्र जल को भक्तिभाव से अपने शिर पर धारण किया ॥ १८ ॥

स काञ्चने यत्र मुनेरनुज्ञया
नवाम्बुदश्यामतनुर्न्यविक्षत ।
जिगाय जम्बूजनितश्रियः श्रियं
सुमेरुश्रृङ्गस्य तदा तदासनम् ॥ १९ ॥

[सर्वङ्कषा] स काञ्चनेति । नवाम्बुदश्यामतनुः स हरिर्मुनेरनुज्ञया काञ्चने-काञ्चनविकारे । वैकारिकोऽण्प्रत्ययः । यत्र—आसने न्यविक्षत—उपविष्टवान् । निपूर्वविशो लुङि 'नेर्विशः' इत्यात्मनेपदे 'शल इगुपधादनिटः क्सः' । तत्—आसनं, तदा-हर्युपवेशनसमये जम्बूः—नीलफलविशेषः । 'जम्बूः सुरभिपत्रा च राजजम्बूर्महाफला' इत्यभिधानरत्नमालायाम् । तया जनिता श्रीर्यस्य सत्तथोक्तस्य । भाषितपुंस्कत्वात्पक्षे पुंवद्भावान्नुसभावः । सुमेरुशृङ्गस्य श्रियं जिगाय । अभिभावितवानित्यर्थः । 'सँल्लिटोर्जेः' इति कुत्वम् । उपमानुप्रासयोः संसृष्टिः ॥ १९ ॥

[अन्वयः] नवाम्बुदश्यामतनुः स मुनेरनुज्ञया काञ्चने यत्र (आसने) न्यविक्षत तद् आसनम् तदा जम्बूजनितश्रियः सुमेरुशृङ्गस्य श्रियं जगाय ।

[विग्रहः] नवश्चासौ अम्बुदश्च नवाम्बुदः, नवाम्बुद इव श्यामा नवाम्बुदश्यामा । नवाम्बुदश्यामा तनुर्यस्याऽसौ—नवाम्बुदश्यामतनुः । जम्ब्वा जनिता जम्बूजनिता, तादृशीश्रीर्यस्य तत्—जम्बूजनितश्रि, तस्य—जम्बूजनितश्रियः । सुमेरोः शृङ्गं—सुमेरुशृङ्गं, तस्य सुमेरुशृङ्गस्य ।

[अर्थः] नवाम्बुदश्यामतनुः = नवीनमेघश्यामवपुः । नीलजलधरश्यामशरीरः । नवीनजलधररुचिरकान्तिरिति यावत् । सः = अच्युतः । मुनेः = महर्षेर्नारदस्य । अनुज्ञया = आज्ञया । निदेशेन । आदेशेन वा । काञ्चने = हिरण्मये । सौवर्णे । यत्र = यस्मिन्नासने । न्यविक्षत = निविष्टः । निविविशे । तदासनं = तत्काञ्चनं सिंहासनम् । तदा = तस्मिन्समये । श्रीकृष्णोपवेशनकाले । जम्बूजनितश्रियः = दिव्यजम्बूमहाफलाऽऽहितशोभस्य । दिव्यजम्बूवृक्षसम्पादितशोभातिशयस्येति वा । सुमेरुशृङ्गस्य = हेमाद्रिशिखरस्य । श्रियं = शोभाम् । जिगाय = तिरश्चकार । आददे । जितवान् ॥

[भावार्थः] सुवर्णसिंहासनोपविष्टस्य घनश्यामस्य वासु-

देवस्य शोभा दिव्यजम्बूवृक्षफलाऽवस्थानमनोहरस्य सुमेरुशृङ्गस्य शोभामधश्चकार ।

[कोशः] 'जम्बूः सुरभिपत्रा च राजजम्बूर्महाफला' इत्यमरः । 'मेरुः सुमेरुर्हेमाद्री रत्नसानुः सुरालयः' इत्यमरः । 'कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्' इत्यमरः । 'विष्टरः पीठमस्त्रियाम्' इति त्रिकाण्डशेषः ।

[वाच्यपरि०] नवाम्बुदश्यामतनुना तेन मुनेरनुज्ञया काञ्चने यत्र आसने न्यवेशि तेन आसनेन तदा सुमेरुशृङ्गस्य श्रीः जिग्ये ।

[भाषाटीका] नारदमुनि की आज्ञा (अनुमति) से श्रीकृष्ण जिस सोने के ऊँचे सिंहासन पर बैठे उसकी शोभा उस समय ऐसी मालूम हुई जैसे सुमेरुपर्वत के शृङ्गपर अवस्थित नीले जामुन के फल की शोभा होती है । (सिंहासन—सुमेरुशृङ्ग । श्रीकृष्ण—जामुन का फल) ॥ १९ ॥

स तप्तकार्त्तस्वरभास्वराऽम्बरः
कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविः ।
विदिद्युते वाडवजातवेदसः
शिखाभिराश्लिष्ट इवाम्भसां निधिः ॥२०॥

[सर्वङ्कषाः] स तप्तेति । तप्तं–पुटपाकशोधितं, कार्तस्वरं–सुवर्णम् । 'रुक्मं कार्तस्वरं जाम्बूनदमष्टापदोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । तद्वद्भास्वरं–दीप्यमानमम्बरं यस्य सः । पीताम्बर इत्यर्थः । कठोरताराधिपस्य–पूर्णेन्दोर्लाञ्छनस्य छविरिव छविर्यस्य स इत्युपमानपूर्वपदो बहुव्रीहिरुत्तपदलोपश्च । सः–हरिर्वाडवजातवेदसः—वाडवाग्नेः–शिखाभिः—ज्वालाभिराश्लिष्टोऽम्भसां निधिरिव–समुद्र इव विदिद्युते–बभौ ॥२०॥

[अन्वयः] तप्तकार्तस्वरभास्वराम्बरः कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविः स वाडवजातवेदसः शिखाभिः आश्लिष्टः अम्भसां निधिरिव विदिद्युते ।

[विग्रहः] तप्तं च तत् कार्तस्वरञ्च तप्तकार्तस्वरम् । तप्तकार्तस्वरमिव

भास्वरम्—तप्तकार्तस्वरभास्वरभास्वरं, तप्तकार्त्तस्वरभास्वरम्—अम्बरं यस्याऽसौ तप्तकार्तस्वरभास्वराम्बरः । कठोरश्चासौ ताराधिपश्च—कठोरताराधिपः, कठोरताराधिपस्य लाञ्छनं कठोरताराधिपलाञ्छनम्, तस्य छविरिव छविर्यस्यासौ—कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविः । वडवायां भवो वाडवः, वाडवश्चासौ जातवेदाश्च—वाडवजातवेदाः, तस्य वाडवजातवेदसः ।

[अर्थः] तप्तकार्त्तस्वरभास्वराम्बरः = सुतप्तसुवर्णोज्ज्वलवस्त्रः । सुवर्णसूत्रानुषङ्गोज्ज्वलवस्त्रः । कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविः= पूर्णचन्द्रचिह्नद्युतिः । परिपूर्णेन्दुमण्डलमध्यवर्त्ति (शश)—लाञ्छनरुचिररुचिः । सः = श्रीकृष्णः । वाडवजातवेदसः = वडवाग्नेः । शिखाभिः = ज्वालाभिः । आश्लिष्टः = विष्वग्व्याप्तः । आलिङ्गिततनुः । अम्भसां = निधिरिव । जलनिधिरिव । समुद्र इव । विदिद्युते = शुशुभे ।

[भावार्थः] सुघटितनिष्टप्तसुवर्णसूत्रजालसमावेशोज्ज्वलाम्बरधरो नीलाच्छविः स भगवान्कृष्णो वडवानलज्वालावलिव्याप्तवपुर्जलनिधिरिव शुशुभे । अत्र हि समुद्रोपमो हरिर्वडवाग्नितुल्यञ्च सुवर्णाम्बरम् ।

[कोशः] 'कठोरौ पूर्णकठिनौ' इति हैमः । 'रुक्मं कार्त्तस्वरं जम्बूनदमष्टापदोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । 'कलङ्काङ्कौ लाञ्छनञ्च चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्' इत्यमरः । 'और्वस्तु वाडवो वडवाऽनलः' इत्यमरः । 'कृपीटयोनिर्ज्वलनो जातवेदास्तनूनपात्' इत्यमरः । 'अर्चिर्हेतिः शिखाऽस्त्रियाम्' इत्यमरः ।

[वाच्य०] तप्तकार्तस्वरभास्वराम्बरेण कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविना तेन वाडवजातवेदसः शिखाभिराश्लिष्टेन अम्भसां निधिना इव विदिद्युते ।

[भाषाटीका] भगवान् श्रीकृष्ण की कान्ति पूर्णचन्द्र के कलङ्क की तरह नीली थी और सुनहरी जरी के बने हुए बढ़िया पीताम्बर को उन्होंने धारण कर रखा था अतः वे वडवाग्नि से घिरे हुए समुद्र की तरह उस समय शोभित हो रहे थे ॥ २० ॥

रथाङ्गपाणेः पटलेन रोचिषा-
मृषित्विषः संवलिता विरेजिरे ।
चलत्पलाशान्तरगोचरास्तरो-
स्तुषारमूर्तेरिव नक्तमंशवः ॥ २१ ॥

[सर्वङ्कषा] रथाङ्गपाणेरिति । रथाङ्गं–चक्रं पाणौ यस्य तस्य—हरेः । 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवतः' इति पाणेः परनिपातः । रोचिषां—छवीनां, पटलेन–समूहेन, संवलिताः–मिलिता ऋषित्विषो, नक्तं–रात्रौ । सप्तम्यर्थेऽव्ययम् । तरोश्चलतां पलाशानां–पत्राणामन्तराणि–विवराणि—गोचरः–आश्रयो येषां ते । तुषारा मूर्तिर्यस्य तस्येन्दोः–अंशव इव विरेजिरे–चकाशिरे ॥ २१ ॥

[अन्वयः] रथाङ्गपाणेः रोचिषां पटलेन संवलिता ऋषित्विषः नक्तं तरोः चलत्पलाशान्तरगोचराः तुषारमूर्तेरंशव-इव विरेजिरे ।

[विग्रहः] रथस्य अङ्गम् रथाङ्गम् । रथाङ्गं पाणौ यस्य च रथाङ्गपाणिः, तस्य–रथाङ्गपाणेः । ऋषेः त्विषः ऋषित्विषः । चलन्ति च तानि पलाशानि च–चलत्पलाशानि, चलत्पलाशानामन्तराणि—चलत्पलाशान्तराणि, चलत्पलाशान्तराण्येव गोचरो येषां ते–चलत्पलाशान्तरगोचराः । तुषारा मूर्तिर्यस्यासौ तुषारमूर्तिस्तस्य तुषारमूर्त्तेः ।

[अर्थः] रथाङ्गपाणेः = चक्रपाणेर्भगवतो वासुदेवस्य । रोचिषां = प्रभाणां । पटलेन = समूहेन । संवलिताः = मिलिताः। सम्पृक्ताः । ऋषित्विषः = नारददेहकान्तयः । नक्तं = रात्रौ । तरोः = पादपस्य । चलत्पलाशान्तरगोचराः = स्फुरत्पत्रमध्यावकाशपरिदृश्यमानाः । तुषारमूर्त्तेः = तुहिनदीधितेः, शीतांशोश्चन्द्रमसः । अंशव इव = किरणा इव । विरेजिरे = शुशुभिरे । प्रचकाशिरे ।

[भावार्थः] नीलतनोः कृष्णस्य तुषारकान्तेर्नारदस्य च

शरीरप्रभाः परस्परं मिलिताः सत्यश्चञ्चलपिप्पलादिवृक्षपत्रान्तर-दृश्यमानेन्दुकिरणा इव नितरां विरेजिरे ।

[कोशः] 'रोचिः शोचिरुभे क्लीबे प्रकाशो द्योत आतपः' इत्यमरः । 'स्युः प्रभारुग्रुचित्विड्भाभाश्छविद्युतिदीप्तयः' इत्यमरः । 'पत्रं पलाशं छदनम्' इत्यमरः । 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये' इत्यमरः । 'किरणोस्रमयूखांशुगभस्तिघृणिरश्मयः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] रथाङ्गपाणेः रोचिषां पटलेन संवलिताभिः ऋषिन्विड्भिः नक्तं तरोः चलत्पलाशान्तरगोचरैः तुषारमूर्तेरंशुभिरिव विरेजे ।

[भाषाटीका] श्रीकृष्ण की नीली कान्ति से नारद ऋषि की शुभ्र शरीरकान्ति परस्पर मिलकर ऐसी सुन्दर मालूम होती थी जैसे वृक्ष के चञ्चल पत्तों के बीच से छनकर आती हुई चन्द्रमा की किरणें मालूम हुआ करती हैं ॥ २१ ॥

प्रफुल्लतापिच्छनिभैरभीषुभिः ।
शुभैश्च सप्तच्छदपांशुपाण्डुभिः ।
परस्परेण च्छुरिताऽमलच्छवी
तदैकवर्णाविव तौ बभूवतुः ॥ २२ ॥

[सर्वङ्कषा] प्रफुल्लेति । प्रफुल्लतीति प्रफुल्लं—विकसितम् । 'फुल्ल विकसने' इति धातोः पचाद्यजन्तम् । फले र्निष्ठायाम् 'अनुपसर्गात्फुल्लक्षीब-कृशोल्लाघाः' इति निपातनात्प्रफुल्लमित्यपीति क्षीरस्वामी । तापिच्छस्य—तमालस्य—पुष्पं—तापिच्छम् । 'फले लुक्' इति तद्धितलुक् । 'क्लीबं प्रसवे सर्वम्' इति नपुंसकत्वम् । 'कालस्कन्धस्तमालः स्यात्तापिच्छोऽपि' इत्यमरः । तेन सदृशैः—प्रफुल्लतापिच्छनिभैः । नित्यसमासत्वादस्वपद-विग्रहः । अत एव 'स्युरुत्तरपदे त्वमी' इति, 'निभसंकाशनीकाशप्रतीकाशोप-मादयः' इत्यमरः । सप्त छदाः पर्णानि, पर्वसु यस्येति सप्तच्छदो वृक्ष-भेदः । 'सप्तपर्णो विशालत्वक्शारदो विषमच्छदः' इत्यमरः । सङ्ख्याशब्दस्य वृत्तिविषये वीप्सार्थत्वं सप्तपर्णादिवदित्युक्तं भाष्ये । शेषं तापिच्छवत् । तस्य पुष्पाणि—सप्तच्छदानि, तेषां पांशुवत्पाण्डुभिः—शुभ्रैः, अभीषुभिः—अन्योन्य-

रश्मिभिः । 'अभीषुः प्रग्रहे रश्मौ' इति शाश्वतः । परस्परेण छुरिते-रूषिते-अमले छवी-अन्योन्यकान्ती ययोस्तौ । छव्योरभीषूणामवयवावयविभावाद्भेदनिर्देशः । तौ हरिनारदौ, तदैकवर्णाविव बभूवतुः । उभयप्रभामेलनादुभयोरपि सर्वाङ्गीणो गङ्गायमुनासङ्गम इव स्फटिकेन्द्रनीलमणिप्रभामेलनप्रायः कश्चिदेको वर्णः प्रादुर्बभूव, तन्निमित्ता चेयमनयोरेकवर्णत्वोत्प्रेक्षा।

[अन्वयः] प्रफुल्लतापिच्छनिभैः सप्तच्छदपांसुपाण्डुभिः शुभैः अभीषुभिः—परस्परेण छुरितामलच्छवी तौ—तदा एकवर्णौ इव बभूवतुः ।

[विग्रहः] तापिच्छस्य पुष्पम् तापिच्छम्, प्रफुल्लतीति प्रफुल्लं, प्रफुल्लञ्च तत्तापिच्छं च-प्रफुल्लतापिच्छम्, प्रफुल्लतापिच्छेन तुल्याः प्रफुल्लतापिच्छनिभाः, तैः—प्रफुल्लतापिच्छनिभैः । सप्त छदाः येषां ते सप्तच्छदाः, सप्तच्छदानां पुष्पाणि सप्तच्छदानि, सप्तच्छदानां पांशवः सप्तच्छदपांशवः, तद्वत् पाण्डवः-सप्तच्छदपांशुपाण्डवः, तैः—सप्तच्छदपांशुपाण्डुभिः । छुरिते अमले छवी ययोस्ते—छुरितामलच्छवी । एकं वर्णं ययोस्तौ एकवर्णौ ।

[अर्थः] प्रफुल्लतापिच्छनिभैः = विकसिततमालकुसुमसन्निभैः । विकचतमालपुष्पनीलैरिति यावत् । सप्तच्छदपांशुपाण्डुभिः=सप्तपर्णपरागधवलैः । शुभैश्च=हृद्यैश्च । सहृदयहृदयावर्जकैः । अभीषुभिः=देहकान्तिभिः । शरीररश्मिभिः । परस्परेण= अन्योन्यम् । छुरितामलच्छवी = सम्पृक्तस्वच्छकान्ती । व्यतिषक्तनिर्मलप्रभौ सन्तौ । तौ = मुनिवासुदेवौ । तदा=तस्मिन्काले । एकवर्णाविव = तुल्यवर्णाविव । समानरूपाविव । बभूवतुः = अभूताम् । सञ्जज्ञाते ।

[भावार्थः] तमालनीलस्य भगवतो वासुदेवस्य देहप्रभया सह सप्तच्छदपरागरागगौराया मुनेः शरीरस्य कान्तेः सम्बन्धात्परस्परं तयोस्तुल्यवर्णतेवाभूत् ।

[कोशः] 'कालस्कन्धस्तमालः स्यात्तापिच्छोऽपि' इत्यमरः । 'निभसङ्काशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः' इत्यमरः । 'सप्तपर्णो विशालत्वक् शारदो

विषमच्छदः' इत्यमरः। 'अभीषुः प्रग्रहे रश्मौ' इति शाश्वतः। 'भाश्छविद्युतिदीप्तयः' इत्यमरः।

[वाच्यपरि०] प्रफुल्लतापिच्छनिभैरभीषुभिः परस्परेण च्छुरिताऽमलच्छविभ्यां तदैकवर्णाभ्यामिव ताभ्यां बभूवे॥

[भाषाटीका] तमालनीलवर्ण भगवान् कृष्ण की देहकान्ति और मनोहर सप्तपर्ण (सतौना) के पुष्प के पराग की तरह गौरवर्ण नारद मुनि की शरीरकान्ति—इन दोनों के परस्पर मिलने से वे दोनों कृष्ण और नारद समान रूप से ही मालूम पड़ने लगे॥ २२॥

युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो
जगन्ति यस्यां सविकासमासत।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विष-
स्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः॥ २३॥

[सर्वङ्कषा] युगान्तेति। युगान्तकाले प्रतिसंहृतात्मनः—आत्मन्युपसंहृता आत्मानो जीवा येन तस्य, कैटभद्विषः—हरेर्यस्यां तनौ जगन्ति सविकासं—सविस्तरमासत—अतिष्ठन्। 'आस उपवेशने' लङ्। तत्र तनौ—देहे, तपोधनाभ्यागमेन संभवन्तीति संभवाः—संभूताः। पचाद्यच्। मुदः—सन्तोषा न ममुः। अतिरिच्यन्ते इत्यर्थः। चतुर्दशभुवनभरणपर्याप्ते वपुषि मुदः अन्तर्न मान्तीति कविप्रौढोक्तिसिद्धातिशयेन स्वतः—सिद्धस्याऽभेदेनाध्यवसितातिशयोक्तिः, सा च मुदामन्तःसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्त्या सम्बन्धासम्बन्धरूपा॥ २३॥

[अन्वयः] युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनः कैटभद्विषः यस्यां तनौ जगन्ति सविकासमासत तत्र तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः न ममुः।

[विग्रहः] युगस्य अन्तः युगान्तः, युगान्तस्य कालः—युगान्तकालः, युगान्तकाले प्रतिसंहृता आत्मानो येनासौ—युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मा, तस्य—युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनः। तप एव धनं यस्यासौ—तपोधनः,

तपोधनस्य—अभ्यागमः तपोधनाभ्यागमः, तपोधनाभ्यागमात्सम्भवन्तीति—तपोधनाभ्यागमसम्भवाः ।

[अर्थः] युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनः=प्रलयसमयोपसंहृतप्राणिजातस्य । संवर्त्तवेलाकुक्षिस्थापितचराचरस्य । कैटभद्विषः=कैटभारेः श्रीकृष्णस्य । यस्यां तनौ=यस्मिन्वपुषि । जगन्ति=भुवनानि । सविकाशं=सावकाशं । यथासुखम् । आसत=न्यविक्षन्त । अतिष्ठन् । तत्र=तस्यां तनौ । तस्मिन्नेव विभोर्वपुषि । तपोधनाभ्यागमसम्भवाः=तपस्विश्रेष्ठनारदागमनप्रभवाः । मुदः=प्रीतयः । प्रमोदाः । हर्षाः । न ममुः=न मान्ति स्म ।

[भावार्थः] प्रलयकालोपसंहृतजगतः कुक्षिकुहरनिविष्टजीवजातस्य कैटभरिपोरपि तनौ नारदागमनप्रभवा मुदो न मान्ति स्म । (नारदं दृष्ट्वा परं प्रीतिमभजत भगवान् श्रीकृष्णः ।)

[कोश-] 'त्रिष्वथो जगती लोको विष्टपं भुवनं जगत्' इत्यमरः । 'मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्षः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनः कैटभद्विषो यस्यां तनौ जगद्भिः सविकाशम् आस्यत तत्र तपोधनाभ्यागसम्भवाभिर्मुद्भिर्न ममे ।

[भाषाटीका] प्रलयकालमें जगत् जिनके उदर में बड़ी सुविधा से रहता है उन्हीं भगवान् श्रीकृष्ण के शरीर में नारदजी के आनेका हर्ष नहीं समाया । अर्थात् नारदजी को देखकर भगवान् रोमाञ्चित होगए ॥

निदाघधामानमिवाधिदीधितिं
मुदा विकाशं मुनिमभ्युपेयुषी ।
विलोचने बिभ्रदधिश्रितश्रिणी
स पुण्डरीकाक्ष इति स्फुटोऽभवत् ॥२४॥

[सर्वङ्कषा] निदाघेति । निदाघमुष्णं धाम किरणो यस्य तं तथोक्तम् ।

'निदाघो ग्रीष्मकाले स्यादुष्णस्वेदाम्बुनोरपि' इति विश्वः । अर्कमिव । **अधिदीधितम्**—अधिकतेजसं, मुनिमभिलक्ष्य । 'अभिरभागे' इति लक्षणे कर्मप्रवचनीयसंज्ञा । 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' । **मुदा विकाममुपेयुषी** उपगते । क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः । अत एवाधिश्रिता प्राप्ता श्रीर्याभ्यां ते तथोक्ते । 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुमागमः । **विलोचने बिभ्रत्** । 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमभावः । सः—हरिः, **पुण्डरीकाक्ष इत्येव स्फुटोऽभवत्** । सूर्यसंनिधाने श्रीविकासभावादृग्दृशां पुण्डरीकसाधर्म्यात् । पुण्डरीके इवाक्षिणी यस्येत्यवयवार्थलाभे पुण्डरीकाक्ष इति व्यक्तम्—अन्वर्थसंज्ञोऽभूदित्यर्थः । बिभ्रत्स्फुटोऽभवदिति पदार्थहेतुकस्य निदाघधामानमिवेत्युपमा-सापेक्षत्वादनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ २४ ॥

[अन्वयः] निदाघधामानमिव अधिदीधितिम् मुनिम् अभि मुदा विकाशम् उपेयुषी अधिश्रितश्रिणी विलोचने बिभ्रत् सः पुण्डरीकाक्ष इति स्फुटः अभवत् ।

[विग्रहः] निदाघं धाम यस्याऽसौ निदाघधामा, तं निदाघधामानम् । अधि-अधिका दीधितिर्यस्याऽसौ अधिदीधितिः, तम्—अधिदीधितिम् । अधिश्रिता श्रीः याभ्यां ते-अधिश्रितश्रिणी, ते तथाभूते । पुण्डरीके इव अक्षिणी यस्यासौ पुण्डरीकाक्षः ।

[अर्थः] निदाघधामानमिव=उष्णदीधितिमिव । आदित्यमिव । अधिदीधितम्=प्ररूढमहसम । प्रचण्डतेजसम् । मुनिं=नारदम् । अभि=लक्ष्यीकृत्य । मुदा=प्रमोदेन । प्रीत्या । हर्षेण । विकासं=प्रसादं । प्रफुल्लताम् । विकचताञ्च । उपेयुषी=प्राप्ते । अत एव—अधिश्रितश्रिणी=प्राप्तशोभे । विशेषं शोभमाने । विलोचने=नयने । बिभ्रत्=दधानः । सः=श्रीकृष्णः । पुण्डरीकाक्ष इति=पुण्डरीकाक्ष इत्येवं प्रसिद्धाभिधानः । स्फुटः=अन्वर्थनामा । अभवत्=आसीत् अन्वर्थां पुण्डरीकाक्षतां भेजे इति यावत् ।

[भावार्थः] सूर्यवर्चसं मुनिं दृष्ट्वा प्रसन्नो विकसित-

विलोचनश्चाच्युतः पुण्डरीकाक्षतामन्वर्थां बभार । पुण्डरीकं हि सूर्योदये विकसतीति लौकिकी प्रसिद्धिः । भगवांश्च सूर्यमिव भासमानं नारदं दृष्ट्वा लोचनप्रसादं भेजे इति स्फुटा पुण्डरीकाक्षता भगवत इत्याशयः ।

[कोशः] 'धाम रश्मौ गृहे देहे स्थाने जन्मप्रभावयोः' इति हैमः । 'निदाघो ग्रीष्मकाले स्यादुष्णस्वेदाम्बुनोरपि' इति विश्वः ।

[वाच्यप०] निदाघधामानमिवाधिदीधितिं मुनिमभि विकाशमुपेयुषी लोचने बिभ्रता तेन पुण्डरीकाक्ष इति स्फुटोपमेनाभूयत ॥

[भाषाटीका] सूर्य की तरह तेजवाले नारदजी को देखकर भगवान् के नेत्र विकसित हो गए (प्रसन्नता से खिल गए)। अतः भगवान् का पुंडरीकाक्ष (कमलनेत्र) नाम आज ही सच्चा सिद्ध हुआ। क्योंकि सूर्य को देखकर कमलों का खिलना प्रसिद्ध ही है और सूर्यरूप नारदजी को देखकर प्रभु के नेत्र खिल गए । अतः भगवान्के नेत्र जरूर कमल हैं–यह सिद्ध होगया॥२४

सितं सितिम्ना सुतरां मुनेर्वपु–
र्विसारिभिः सौधमिवाऽथ लम्भयन् ।
द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः
शुचिस्मितां वाचमवोचदच्युतः ॥२५॥

[सर्वङ्कषा] सितमिति । अथ–उभयोरुपवेशनानन्तरम् । अच्युतो हेतुकर्ता । विसारिभिः—अभीक्ष्णं प्रसरद्भिः । 'बहुलमाभीक्ष्ण्ये' इति णिनिः । द्विजावलिः—दन्तपङ्क्तिः । 'दन्तविप्राण्डजा द्विजाः' इत्यमरः । सैव व्याजः–कपटं यस्य सः । तद्रूप इत्यर्थः । स चासौ निशाकरश्च तस्य-अंशुभिः-किरणैः, सितं-स्वभावशुभ्रं मुनेर्वपुःसौधं-प्रासादमिव सुतराम्–अत्यन्तम्। अव्ययाद्घादाम्प्रत्ययः । सितिम्ना-धावल्येन प्रयोज्यकर्त्रा,लम्भयन्–व्यापारयन् । अतिधवलयन्नित्यर्थः। लभेरत्र गत्युपसर्जनप्राप्त्यर्थत्वेनागत्यर्थत्वात् 'गतिबुद्धि–' इत्यादिना अणिकर्तुर्न कर्मत्वम् । तथाह वामनः—'लभेर्गत्यर्थत्वाण्णिच्यणौ कर्तुः कर्मत्वाकर्मत्वे' इति । प्राप्त्युपसर्जनगत्यर्थत्वे

तु कर्मत्वमेवेति रहस्यम् । 'लभेश्च' इति नुमागमः । शुचिस्मितां वाच
वोचत्—उक्तवान् । ब्रुवो वच्यादेशः । लुङ् । 'वच उम्' इत्युमागमे गुण
अत्र सौधमिवेत्युपमायाः सितिम्ना लम्भयन्नित्यसम्बन्धरूपातिशयोक्तेः द्वि
वलिव्याजनिशाकरेति छलादिशब्दैरसत्यत्वप्रतिपादनरूपाऽपह्नवस्य च मि
नैरपेक्ष्यात्संसृष्टिः ॥२५॥

[अन्वयः] अथ अच्युतः विसारिभिः द्विजावलिव्याजनिश
कराऽशुभिः सितं मुनेर्वपुः सौधमिव सुतरां सितिम्ना लम्भय
शुचिस्मितां वाचमवोचत् ।

[विग्रहः] अभीक्ष्णं विसरन्तीति विसारिणः, तैः—विसारिभिः
द्विजानामावलिः, द्विजावलिः, द्विजावलिरेव व्याजो यस्यासौ द्विजाव
व्याजः, द्विजावलिव्याजश्चासौ निशाकरश्च द्विजावलिव्याजनिशाकरः, त
अंशवः, तैः—द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः । शुचि स्मितं यस्यां
तां—शुचिस्मिताम् ।

[अर्थः] अथ = तदनन्तरम् । नारदकृष्णयोरुपवेशा
नन्तरम् । अच्युतः = वासुदेवः । विसारिभिः = प्रसारिभिः
प्रसरणशीलैः । द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः = दन्तपङ्क्ति
च्छद्मचन्द्रमयूखैः । सितं = स्वभावगौरम् । शुभ्रम् । मुनेः =
नारदस्य । वपुः = शरीरम् । सौधमिव = राजभवनमिव
सितिम्ना = नितरां श्वैत्येन । लम्भयन् = प्रापयन् । श्वैत्यप्रकर्षेण
योजयन् । शुचिस्मितां = विशदेषद्धास्ययुतां । वाचं = मधुरां
वाणीम् । अवोचत् = उवाच ।

[भावार्थः] श्रीकृष्णो दन्तकान्त्या नारदं सौधमिव मुहुः
श्वेतिमानं लम्भयन्निव सस्मितमित्थं जगाद ।

[कोशः] 'सौधोऽस्त्री राजसदनम्' इत्यमरः । 'दन्तविप्राण्डजा द्विजाः'
इत्यमरः । 'किरणोस्रमयूखांशुगभस्तिघृणिरश्मयः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] सितं मुनेर्वपुः सितिम्ना लम्भयताऽच्युतेन वागवोचि ।

[भाषाटीका] जैसे सफेद राजमहलपर पुनः सफेदी की जाती है वैसे

ही श्वेत (गौर) वर्ण नारदजी को श्रीकृष्णचन्द्र अपने दाँतों की स्वच्छ कान्ति से और भी श्वेत करते हुए इस प्रकार बोले ॥२५॥

हरत्यघं सम्प्रति हेतुरेष्यतः
शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः ।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं
व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥ २६ ॥

[सर्वङ्कषा] हरतीति । भवदीयदर्शनम्—शरीरभाजाम् । द्रष्टृणामित्यर्थः । 'भजो ण्विः' । कालत्रितये—भूतादिकालत्रितयेऽपि । योग्यताम्—पवित्रतां, व्यनक्ति—गमयति । कुतः ?—सम्प्रति—दर्शनकाले । अघं—पापं—हरति । एष्यतः—भाविनः । शुभस्य–श्रेयसो–हेतुः । तथा पूर्वाचरितैः–प्रागनुष्ठितैः, शुभैः—सुकृतैः, कृतम् । एवं त्रैकाल्येऽपि कार्यत्वेन कारणत्वेन च पुंसि सुकृतसमवायमवगमयते । अत एतादृशं दर्शनं कस्य न प्रार्थ्यमिति भावः। अत्र हरतीत्यादिवाक्यत्रयस्यार्थस्य शरीरेत्यादिवाक्यत्रये हेतुतया वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥२६॥

[अन्वयः] भवदीयदर्शनम् शरीरभाजाम् कालत्रितये अपि योग्यतां व्यनक्ति । [यतः–] सम्प्रति अघम् हरति । एष्यतः शुभस्य हेतुः । पूर्वाचरितैः शुभैः कृतम् ।

[विग्रहः] भवत इदं भवदीयम् । भवदीयं दर्शनं–भवदीयदर्शनम् । शरीरं भजन्तीति शरीरभाजः, तेषां शरीरभाजाम् । त्रयोऽवयवा अस्य तत्–त्रितयम् । कालस्य त्रितयं—कालत्रितयम् । तस्मिन् कालत्रितये । योग्यस्य भावो योग्यता, तां—योग्यताम् ।

[अर्थ] भवदीयदर्शनं = श्रीमतां तत्रभवतां भवतां दर्शनम् । शरीरभाजां = वपुष्मतां । शरीरिणाम् । प्राणिनाम् । द्रष्टृणामिति यावत् । कालत्रितयेऽपि = भूतादिकालत्रयेऽपि । योग्यतां= धन्यताम् । पवित्रताञ्च । व्यनक्ति—गमयति । बोधयति ।
[तथाहि] सम्प्रति = इदानीं दर्शनकाले । अघं = पापं । हरति=

विनाशयति। अपसारयति। किञ्च—एष्यतः = भाविनः। आगामिनः। भविष्यत इति यावत्। शुभस्य = श्रेयसः। मङ्गलस्य। कल्याणस्य। हेतुः = कारणम्। किञ्च—पूर्वाचरितैः = पूर्वमनुष्ठितैः। प्रागाचरितैः। शुभैः = सुकृतैः। पुण्यैः। कृतं = लब्धम्। आपादितम्। उपनतम्।

[भावार्थः] हे मुने! भवतां दर्शनं भूतभविष्यद्वर्त्तमानरूपकालत्रितयेऽपि द्रष्टॄणां मादृशां वपुष्मतां धन्यतामेवानुमापयति। तथाहि—वर्त्तमाने दर्शनकाले पापमपनुदति। भविष्यतः शुभस्य भाग्यस्य निदानम्। पूर्वमनुष्ठितैः शुभैरिदं दर्शनं लब्धमिति सुकृतित्वं गमयतीति—कालत्रयेऽप्यस्माकं सौभाग्यं सूचयति भवतां दर्शनमिति सुष्ठूक्तम्।

[कोशः] 'एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा' इत्यमरः। 'कलुषं वृजिनैनोऽघम्' इत्यमरः।

[वाच्यप०] भवदीयदर्शनेन शरीरभाजां कालत्रितयेऽपि योग्यता व्यज्यते। (यतस्तेन) सम्प्रति अघं ह्रियते। एष्यतः शुभस्य हेतुना भूयते। पूर्वाचरितैः शुभैः कृतेन भूयते॥

[भाषाटीका] हे मुने! आपका दर्शन वर्त्तमान काल में पाप को दूर करनेवाला है। भविष्यत्काल में मङ्गलकारी है और पूर्वकाल में किए हुए शुभकर्मों का सूचक है, क्योंकि पूर्व के बड़े पुण्यों के बिना आपका दर्शन दुर्लभ है। अतः आपके पधारने से तीनों कालों में हमारी योग्यता ही सूचित होती है॥२६॥

जगत्यपर्याप्तसहस्रभानुना
न यन्नियन्तुं समभावि भानुना।
प्रसह्य तेजोभिरसङ्ख्यतां गतै-
रदस्त्वया* नुन्नमनुत्तमं तमः॥ २७॥

* 'नुन्न' मिति पाठान्तरम्।

[सर्वङ्कषा] जगतीति । जगति—अपर्याप्ताः—अपरिच्छिन्नाः सहस्रं भानवोऽशवो यस्य तेन । भानुना—अर्केण । 'भानवोऽर्कहरांशवः' इति वैजयन्ती । यत्तमो नियन्तुं — निवारयितुं — न समभावि— न शेके । भावे लुङ् । अविद्यमानमुत्तमं यस्मात्तत्—अनुत्तमं—सर्वाधिकम्, अदः—तमो मोहात्मकम्, असङ्ख्यतां गतैस्तेजोभिः प्रसह्य—बलात् । त्वया नुत्तं—छिन्नम् । अतः श्लाघ्यदर्शनो भवानिति भावः । 'नुदविद—'इत्यादिना विकल्पान्निष्ठानत्वाऽभावः । अत्रोपमानाद्भानोर्मुनेराधिक्यप्रतिपादनाद्व्यतिरेकालङ्कारः ॥ २७ ॥

[अन्वयः] जगति अपर्याप्तसहस्रभानुना भानुना यत् (तमः) नियन्तुं न समभावि अनुत्तमम् अदस्तमः असङ्ख्यता गतैस्तेजोभिः प्रसह्य त्वया नुत्तम् ।

[विग्रहः] अपर्याप्ताः सहस्रं भानवो यस्याऽसौ—अपर्याप्तसहस्रभानुः, तेन अपर्याप्तसहस्रभानुना । नास्ति उत्तमं यस्मात्तदनुत्तमम् । अनोदीति नुत्तम् ॥१॥

[अर्थः] जगति = लोके । अपर्याप्तसहस्रभानुना=अपरिच्छिन्नसहस्रकिरणेन । भानुना=सूर्येण । यत् = अस्माकं यत्तमः । यदज्ञानध्वान्तम् । नियन्तुं=निवारयितुम् । न समभावि = न शेके । अनुत्तमं = नितरां प्रगाढं । सर्वतो बलीयः । अदस्तमः=अदोऽस्माकं मोहध्वान्तम् । असङ्ख्यताङ्गतैः = अनन्तैः । असङ्ख्यैः । तेजोभिः = स्वतेजोभिः । प्रसह्य = बलात् । झटिति । सहसैव । अनायासेनैव । त्वया = भवता नारदेन । नुत्तं = समूलं छिन्नम् । नुन्नमितिपाठेऽपि स एवार्थः ।

[भावार्थः] भगवान् सहस्रकिरणोऽपि बद्धमूलमनादि यदस्माकं मोहान्धकारमुन्मूलयितुं न समर्थोऽभूत्तदेवाऽस्माकमज्ञानध्वान्तं भवता द्रागेवोन्मूलितमित्यहो ? सर्वातिशायिमाहात्म्यातिशयो महामुनेः ॥

---

१ 'नुन्न मिति पाठे 'नत्वभावः' इति पाठान्तरम् ।

[कोशः] 'भानवोऽर्कहरांशवः' इति वैजयन्ती । 'भानुर्हंसः सहस्रांशुः' इत्यमरः । 'त्रिष्वथो जगती लोको विष्टपं भुवनं जगत्' इत्यमरः।

[वाच्यप०] जगति अपर्याप्तसहस्रभानुर्भानुः यत्तमः नियन्तुं न समभूत् त्वम् तेजोभिः प्रसह्य अनुत्तमम् अदः तमः नुत्तवान् ।

[भाषाटीका] जिस जबर्दस्त अज्ञानरूपी अन्धकार को भगवान् सूर्य नारायण अपनी हजारों किरणों से भी दूर नहीं कर सकते हैं (क्योंकि सूर्य बाहरी अन्धकार को हटाता है, अन्तःकरण के मोहान्धकार को नहीं) मेरे उस प्रबल मोहान्धकार को आपने तुरन्त दूर कर दिया । अर्थात्— आपके दर्शन से मेरा मोहान्धकार दूर हो गया ॥ २७ ॥

कृतः प्रजाक्षेमकृता प्रजासृजा
सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना ।
सदोपयोगेऽपि गुरुस्त्वमक्षयो
निधिः श्रुतीनां धनसम्पदामिव ॥ २८ ॥

[सर्वङ्कषा] कृत इति । प्रजानां—जनानामपत्यानां च, क्षेमकृता-कुशलकारिणा । 'प्रजा स्यात्सन्ततौ जने' इत्यमरः । सुपात्रे—योग्यपुरुषे, कटाहादिदृढभाजने च, निक्षेपेण—प्रदानेन, निधानेन च, निराकुलात्मना—स्वस्थचित्तेन । 'योग्यभाजनयोः पात्रम्' इत्यमरः । प्रजासृजा—ब्रह्मणा, पुत्रिणा च । त्वं धनसम्पदामिव श्रुतीनां—वेदानां, सदोपयोगे—दानभोगाभ्यां व्ययेऽपि, अक्षयः । एकत्राऽऽम्नानादन्यत्रानन्त्याच्चेति भावः । गुरुः—उपदेष्टा । सम्प्रदायप्रवर्तक इति यावत् । अन्यत्र—महान् । निधियत इति निधिः —निक्षेपः कृतः । 'उपसर्गे घोः किः' । श्रुतिसम्प्रदायद्वारा धर्माऽधर्मव्यवस्थापकतया जगत्प्रतिष्ठाहेतूनां भवादृशां दर्शनं कस्य न श्लाघ्यमिति भावः । अत्र शब्दमात्रसाधर्म्याच्छ्लेषोऽयं प्रकृतविषय इत्याहुः ॥२८॥

[अन्वयः] प्रजाक्षेमकृता सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना प्रजासृजा त्वम् धनसम्पदामिव श्रुतीनाम् सदोपयोगे अपि अक्षयः गुरुः निधिः कृतः ।

[विग्रहः] प्रजानाम् क्षेमं प्रजाक्षेमं, प्रजाक्षेमं कृतवान् प्रजाक्षेमकृत्, तेन प्रजाक्षेमकृता । सुपात्रे निक्षेपः सुपात्रनिक्षेपः, सुपात्रनिक्षेपेण निराकुलः सुपात्रनिक्षेपनिराकुलः, सुपात्रनिक्षेपनिराकुल आत्मा यस्य सः—सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मा, तेन सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना । प्रजाः सृजति प्रजासृट्, तेन—प्रजासृजा । निधीयते इति निधिः । निधानं वा निधिः ।

[अर्थः] प्रजाक्षेमकृता=लोकहितकारिणा । जनकल्याणकारिणा । स्वापत्यहितैषिणा च । सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना= योग्यपुरुषनिक्षेपस्वस्थचित्तेन । ताम्रादिदृढपात्रनिधानस्वस्थचित्तेन च । प्रजासृजा=ब्रह्मणा । प्रजापतिना, पुत्रिणा च । त्वं=भवान् नारदः । धनसम्पदामिव=धनसम्पत्तीनामिव । श्रुतीनां=वेदानाम् । सदोपयोगेऽपि=दानोपभोगादिना सदा व्ययेऽपि । अध्ययनाध्यापनादौ सर्वदोपयोगेऽपि च । अक्षयः=विनाशरहितः । अयातयामः । सम्प्रदायाम्नायादिशुद्ध्या, पक्षे आनन्त्याच्च क्षयरहित इति यावत् । गुरुः=उपदेष्टा । अतिमहांश्च । निधिः=निक्षेपः । निधानश्च । शेवधिश्च । कृतः=प्रवर्त्तितः । सम्यक् संस्थापितश्च ।

[भावार्थः] यथा कश्चन पुत्री पित्रादिः स्वापत्यकल्याणाय सुदृढे कटाहादौ भाजनेऽनन्त महान्त धनराशिं स्वापत्योपभोगाद्यर्थं सुगूढ संस्थाप्य स्वस्थो भवत्येवं वेदसम्प्रदायरक्षार्थं भवन्तं योग्यतम सम्प्रदायप्रवर्तकं गुरु श्रुतिनिधानं कृत्वा प्रजापतिर्ब्रह्मा स्वस्थचित्तः प्रमोदते । तदेवं—सत्सम्प्रदायप्रवर्त्तकानां भवादृशां दर्शनं कस्य न कल्याणाय प्रभवेदिति भावः ।

[कोशः] 'प्रजाः स्यात्सन्ततौ जने' इत्यमरः । 'योग्यभाजनयोः पात्रम्' इत्यमरः । 'श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायः' इत्यमरः ।

[वाक्यप०] प्रजाक्षेमकृत् सुपात्रनिक्षेपनिरकुलात्मा प्रजासृट् धनसम्पदामिव श्रुतीनां सदोपयोगेऽपि अक्षयम् गुरुम् त्वां निधिं कृतवान् ।

[भाषा टीका] जैसे कोई गृहपति (पिता पितामह आदि) अपनी सन्तान के कल्याणार्थ अक्षय अनन्त धनराशि को सुदृढ़ पात्र (कण्डाल कलसा आदि) में रखकर उसे भूमि में गाड कर स्वस्थ होता है, वैसे ही प्रजापति ब्रह्माजी भी आपको वेदसम्प्रदाय की रक्षा के लिए महान् (गुरु) निधि (खजाना) के रूप में उत्पन्न करके स्वस्थ व निश्चिन्त हो रहे हैं। ऐसे सम्प्रदाय प्रवर्त्तक जगद्गुरु आपका दर्शन किसके लिए कल्याणकारक नहीं होगा ? ॥ २८ ॥

विलोकनेनैव तवामुना मुने !
कृतः कृतार्थोऽस्मि निबर्हितांऽहसा ।
तथापि शुश्रूषुरहं गरीयसी-
र्गिरोऽथवा श्रेयसि केन तृप्यते ? ॥२९॥

[सर्वङ्कषा] विलोकनेनेति । हे मुने ! निबर्हितांऽहसा—अपहृतपाप्मना, अतएव—अमुना तव विलोकनेनैव कृतार्थः कृतोऽस्मि । तथाऽप्यहं गरीयसीः—अर्थवत्तराः । 'द्विवचन—' इत्यादिना ईयसुन्प्रत्ययः । उगितश्च' इति ङीप् । 'प्रियस्थिर—' इत्यादिना गुरोर्गरादेशः । ।गिरः—तव वाचोऽपि—शुश्रूषुः—श्रोतुमिच्छुरस्मि । शृणोतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । न चैतद्व्यर्थेत्याह—अथवा । तथाहीत्यर्थः । 'अथवेति पक्षान्तरप्रसिद्ध्योः' रिति गणव्याख्यानात् । श्रेयसि विषये केन तृप्यते ? । न केनापीत्यर्थः । कृतार्थताया इयत्ताऽभावादिति भावः । भावे लट् ॥ २९ ॥

[अन्वयः] मुने ! निबर्हितांहसा अमुना तव विलोकनेनैव कृतार्थः कृतः अस्मि । तथाऽपि अहं गरीयसीः गिरः शुश्रूषुरस्मि । अथवा श्रेयसि केन तृप्यते ? ।

[विग्रहः]—निबर्हितम् अंहो येन तत्—निबर्हितांहः, तेन निबर्हितांऽहसा । कृतः अर्थो यस्य येनवाऽसौ वा कृतार्थः । श्रोतुमिच्छुः—शुश्रूषुः । अतिशयेन गुर्व्यः—गरीयस्यः । ताः—गरीयसीः ।

[अर्थः] मुने = हे मुनिश्रेष्ठ नारद ! । निबर्हितांहसा = अपहृतकिल्बिषेण । अपहृतपाप्मना । अमुना = पवित्रतमेन । शुभेन च । तव = भवतः । विलोकनेनैव = दर्शनेनैव । कृतार्थः = कृतकृत्यः । धन्यश्च । कृतोऽस्मि = विहितोऽस्मि । तथाऽपि = एवमपि । अथाऽपि । अहं = वासुदेवः । गरीयसीः = अर्थवत्तराः । अर्थगुर्वीः । गिरः = तव वाचोपि । शुश्रूषुरस्मि = श्रोतुमिच्छुरस्मि । अथवा = तथाहि । श्रेयसि=कल्याणकारिणि विषये । केन तृप्यते = केन पुंसा तृप्यते ? । न केनाऽपि तृप्यते इत्यर्थः ।

[भावार्थः] हे मुने ! भवद्दर्शनेन कृतार्थस्याऽपि मम भवद्वाणीमपि श्रोतुं मनः साभिलाषमस्ति । तत्किञ्चिदाज्ञापय । श्रेयसि विषये हि कस्य तृप्तिर्भवति ? । न कस्यापि ।

[कोशः] 'कलुषं वृजिनैनोऽघमंहोदुरितदुष्कृतम्' इत्यमरः । 'श्रेयो निःश्रेयसाऽमृतम्' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] हे मुने ! निबर्हितांहः अदः तव विलोकनमेव (मां) कृतार्थं कृतवत्, तथापि गरीयसीः ते गिरः शुश्रूषुणा मया श्रूयते । अथवा श्रेयसि कस्तृप्यति ।

[भाषाटीका] हे मुने ! यद्यपि आपके दर्शन से ही मैं कृतार्थ हो गया । तथापि आपकी पवित्र व मीठी वाणी सुनने को भी मेरी इच्छा प्रबल हो रही है । ठीक ही है—कल्याणकारक विषय में किसको तृप्ति होती है ?, किसी को नहीं । अतः मुझे आपकी वाणी सुनने की इच्छा होनी उचित ही है । कृपया आज्ञा करिए कि आपकी मैं क्या सेवा करूँ ? ॥२९॥

गतस्पृहोऽप्यागमनप्रयोजनं
वदेति वक्तुं व्यवसीयते यया ।
तनोति नस्तामुदितात्मगौरवो
गुरुस्तवैवागम एष धृष्टताम् ॥ ३० ॥

[सर्वङ्कषा] गतस्पृहोऽपीति । गतस्पृहः—विरक्तोऽपि, त्वमागमनप्रयोजनं वदेति वक्तुं यया—धृष्टतया व्यवसीयते—उद्यम्यते । स्यतेर्भावे लट् । उदितमुत्पन्नमुक्तं वा आत्मनो मम गौरवं येन सः । गुरुः—श्लाघ्यः, एष तवागमः—आगमनमेव, नोऽस्माकं तां धृष्टतां तनोति—विस्तारयति । 'तनु विस्तारे' लट् । भवतो निःस्पृहत्वेपि प्रेक्षावत्प्रवृत्तेः प्रयोजनव्याप्त्या सावकाशः प्रश्न इति भावः ॥ ३० ॥

[अन्वयः] गतस्पृहोऽपि (त्वम्) आगमनप्रयोजनं वद इति वक्तुं यया व्यवसीयते उदितात्मगौरवो गुरुः एष तव आगम एव नः तां धृष्टतां तनोति ।

[विग्रहः] गता स्पृहा यस्यासौ गतस्पृहः । आगमनस्य प्रयोजनम्—आगमनप्रयोजनं, तत्—आगमनप्रयोजनम् । गुरोर्भावः कर्म वा गौरवम् , आत्मनो गौरवम्—आत्मगौरवम् ,उदितं आत्मगौरवं येनाऽसौ उदितात्मगौरवः।

[अर्थः] गतस्पृहोऽपि = निःस्पृहोऽपि । विरक्तोऽपि च त्वम् । आगमनप्रयोजनम् = आगमनकारणं । वद = ब्रूहि । इति = इत्थम् । इत्येवम् । वक्तुं = निगदितुम् । यया = धृष्टतया । व्यवसीयते = उद्यम्यते । उदितात्मगौरवः = अभिहितमदीयगौरवः । प्रख्यापितमदीयमाहात्म्यातिशयः । गुरुः = महीयान् । श्लाघ्यतमः । एषः = अयं । तव = भवतः । आगमः = आगमनमेव । नः = अस्माकम् । तां धृष्टताम् = अनुचितामपीमां मम धृष्टतां । तनोति = वर्द्धयति । विस्तारयति ।

[भावार्थः] 'गतस्पृहाणां वीतरागाणां भवतामिहागमनस्य प्रयोजनं कि'मिति मदीयं जिज्ञासाधाष्ट्र्यं प्रकटितमद्गौरवभर एष भवतामागम एव वर्द्धयति । [भवदागमनस्य प्रयोजनं ज्ञातुमिच्छामीति यावत् ।]

[कोशः] 'इच्छा काङ्क्षा स्पृहेहा तृड्वाञ्छा लिप्सा मनोरथः'इत्यमरः।

[वाच्यप०] 'गतस्पृहेणापि आगमनप्रयोजनमुच्यताम्' इति वक्तुं या व्यवस्यति, उदितात्मगौरवेण गुरुणा तव आगमेनैव सा धृष्टता तायते ।

[भाषाटीका] हे मुने ! 'आप ऐसे निःस्पृह व वीतरागमहात्माओं के यहाँ आने का क्या कारण है कहिए' यह प्रश्न करने की जो मैं धृष्टता कर रहा हूँ उस धृष्टता को आपके आगमन में (जिस आगमन से जगत् में मेरा गौरव बहुत बढ़ गया है—) ही बढ़ाया है । अर्थात्—आपके आगमन से मेरा गौरव इतना बढ़ गया है कि मैं आपसे यह पूछने की धृष्टता कर रहा हूँ कि—'श्रीमान् के आने का क्या कारण है ?' । कहिए,—यहाँ पधारने का श्रीमान् ने क्यों कष्ट किया ? ॥ ३० ॥

इति ब्रुवन्तं तमुवाच स व्रती
न वाच्यमित्थं पुरुषोत्तम ! त्वया ।
त्वमेव साक्षात्करणीय इत्यतः
किमस्ति कार्यं गुरु योगिनामपि ॥ ३१ ॥

[सर्वङ्कषा] इति ब्रुवन्तमिति । इति ब्रुवन्तं तं—हरिं स व्रती—मुनिरुवाच । किमिति ?—हे पुरुषोत्तम—पुरुषेषु श्रेष्ठ । 'न निर्धारणे' इति षष्ठीसमासप्रतिषेधः । त्वया इत्थं—'गतस्पृहोऽपी'ति, न वाच्यम् । निःस्पृहस्याप्यत्र प्रयोजनसम्भवादिति भावः । तदेवाह—योगिनामपि त्वमेव साक्षात्करणीयः—प्रत्यक्षीकर्तव्य इत्यतः—अस्मादन्यद्, गुरु कार्यं किमस्ति ?—न किञ्चिदित्यर्थः । तस्मान्न प्रयोजनान्तरप्रश्नावकाश इति भावः ॥ ३१ ॥

[अन्वयः] इति ब्रुवन्तं तं स व्रती उवाच—पुरुषोत्तम ! त्वया इत्थं न वाच्यम् । योगिनामपि त्वमेव साक्षात्करणीय इत्यतो गुरु कार्यं किमस्ति ? ।

[विग्रहः] व्रतमस्यास्तीति व्रती । पुरुषेषु उत्तमः पुरुषोत्तमः, तत्सम्बुद्धौ हे पुरुषोत्तम ! योगोऽस्त्येषां ते योगिनः, तेषां योगिनाम् ।

[अर्थः] इति = इत्थं । ब्रुवन्तं = कथयन्तम् । तं = हरिम् । सः = ब्रह्मणो मानसस्तनूजः । व्रती = मुनिर्नारदः । उवाच = जगाद । पुरुषोत्तम = हे नरोत्तम । त्वया = भवता । इत्थम् =

[भाषाटीका] हे मुने ! 'आप ऐसे निःस्पृह व वीतरागमहात्माओं के यहाँ आने का क्या कारण है कहिए' यह प्रश्न करने की जो मैं धृष्टता कर रहा हूँ उस धृष्टता को आपके आगमन में (जिस आगमन से जगत् में मेरा गौरव बहुत बढ़ गया है—) ही बढ़ाया है । अर्थात्—आपके आगमन से मेरा गौरव इतना बढ़ गया है कि मैं आपसे यह पूछने की धृष्टता कर रहा हूँ कि—'श्रीमान् के आने का क्या कारण है ?' । कहिए,—यहाँ पधारने का श्रीमान् ने क्यों कष्ट किया ? ॥ ३० ॥

इति ब्रुवन्तं तमुवाच स व्रती
न वाच्यमित्थं पुरुषोत्तम ! त्वया ।
त्वमेव साक्षात्करणीय इत्यतः
किमस्ति कार्यं गुरु योगिनामपि ॥ ३१ ॥

[सर्वङ्कषा] इति ब्रुवन्तमिति । इति ब्रुवन्तं तं—हरिं स व्रती——मुनिरुवाच । किमिति ?—हे पुरुषोत्तम—पुरुषेषु श्रेष्ठ । 'न निर्धारणे' इति षष्ठीसमासप्रतिषेधः । त्वया इत्थं—'गतस्पृहोऽपी'ति, न वाच्यम् । निःस्पृहस्याप्यत्र प्रयोजनसम्भवादिति भावः । तदेवाह—योगिनामपि त्वमेव साक्षात्करणीयः—प्रत्यक्षीकर्तव्य इत्यतः—अस्मादन्यद्, गुरु कार्यं किमस्ति ?—न किञ्चिदित्यर्थः । तस्मान्न प्रयोजनान्तरप्रश्नावकाश इति भावः ॥ ३१ ॥

[अन्वयः] इति ब्रुवन्तं तं स व्रती उवाच—पुरुषोत्तम ! त्वया इत्थं न वाच्यम् । योगिनामपि त्वमेव साक्षात्करणीय इत्यतो गुरु कार्यं किमस्ति ? ।

[विग्रहः] व्रतमस्यास्तीति व्रती । पुरुषेषु उत्तमः पुरुषोत्तमः, तत्सम्बुद्धौ हे पुरुषोत्तम ! योगोऽस्त्येषां ते योगिनः, तेषां योगिनाम् ।

[अर्थः] इति = इत्थं । ब्रुवन्तं = कथयन्तम् । तं = हरिम् । सः = ब्रह्मणो मानसस्तनूजः । व्रती = मुनिर्नारदः । उवाच = जगाद । पुरुषोत्तम = हे नरोत्तम । त्वया = भवता । इत्थम् =

परास्कन्दिपाटच्चरमलिम्लुचाः' इत्यमरः । अभीक्ष्णमक्षुण्णतया—अनभ्यस्तत्वेन, अप्रतिहतत्वेन च, जनैरतिदुर्गमं मोक्षपथम्—अपवर्गमार्गं, कान्तारं च, उपेयुषः—प्राप्तवतः । 'उपेयिवान्—'इत्यादिना क्वस्वन्तो निपातः । मनस्विनः—सुमनसः, धीरस्य च । प्रशंसायां विनिः । त्वमेव निरपायः—पुनरावृत्तिरहितः संश्रयः प्राप्तिर्यस्याः सा तथोक्ता । 'न स पुनरावर्तते' इति श्रुतेः । अग्रभूमिः—प्राप्यस्थानम् । 'अग्रमालम्बने प्राप्ये' इति विश्वः । 'सोऽहम्' इत्यादिश्रुतेस्तत्प्राप्तेरेव मोक्षत्वादिति भावः । तस्मान्मुमुक्षूणामपि त्वमेव साक्षात्करणीय इति सिद्धम् । 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति श्रुतेः । यथा कस्यचित्कुतश्चित्संकटान्निर्गतस्य केनचित्कान्तारेण गतस्य किंचिन्निर्बाधस्थानप्राप्तिरभयाय कल्पते तथा त्वमपि मुमुक्षोरिति ध्वनिः ॥ ३२ ॥

[विग्रहः] उदीर्णश्चासौ रागश्च उदीर्णरागः, उदीर्णराग एव प्रतिरोधको यस्मिन्नसौ—उदीर्णरागप्रतिरोधकः, तम्—उदीर्णरागप्रतिरोधकम् । अन्यत्र—उदीर्णो रागो यस्यासौ उदीर्णरागः—चौरादिः । स एव प्रतिरोधको यस्मिन्नसौ उदीर्णरागप्रतिरोधकः, तमितिविग्रहः । दुःखेन गम्यते इति दुर्गमः, अतिशयितो दुर्गमः—अतिदुर्गमस्तम् । मोक्षस्य पन्थाः मोक्षपथः, तम् । निरपायः संश्रयो यस्याः सा निरपायसंश्रया । अग्रेभूमिः—अग्रभूमिः ।

[अन्वयः] उदीर्णरागप्रतिरोधकं अभीक्ष्णम् अक्षुण्णतया जनैः अतिदुर्गमम् मोक्षपथम् उपेयुषो मनस्विनः त्वमेव निरपायसंश्रया अग्रभूमिः [असि] ।

[अथः] उदीर्णरागप्रतिरोधक=प्रवृद्धविषयाभिलाषप्रतिरोधकाकुलम् । अनादिवासनापरिप्राप्तप्ररूढविषयाऽभिलाषनिरोधविसङ्कटम् । कान्तारपक्षे—मोहान्धचौरादिविरोधिगणसङ्कुलम् । अभीक्ष्णम्—पौनःपुन्येन । अक्षुण्णतया=अनभ्यस्तत्वेन । (कान्तारपक्षे–)—अपरिचितत्वेन, अप्रतिहतत्वेन च । जनैः=मुमुक्षुभिः । पान्थलोकैश्च । अतिदुर्गमम्=अतिगहनम् । गन्तुमशक्यम् । निबिडतमम् । (कान्तारपक्षे–) अतिदुस्तरम् ।

दुर्लङ्घ्यश्च । मोक्षपथम्=अपवर्गमार्गम् । निःसरणमार्गम्। निर्गमनमार्गम् । कान्तारमार्गं च । उपेयुषः=परिशीलयतः। प्राप्तवतश्च । मनस्विनः=आत्मचिन्तनपरायणस्य मोक्षार्थिनो वीतरागस्य सुमनसः । कान्तारपक्षे—उत्साहवतो निर्भयस्य धीरस्य च । त्वमेव=भवानेव। निरपायसंश्रया=पुनरावृत्तिरहिता । संसृतिरहिता। जन्ममरणभयरहिता। कान्तारपक्षे—सकलभयवर्जिता च। अग्रभूमिः=प्राप्यस्थानम्। असीति शेषः। त्वमेव भयवर्जित परम पदमसि।

[भावार्थः] यथा दस्युचोरसिंहादिहिंस्रसङ्कुले पान्थजनभीषणेऽप्रतिहते कान्तारे गच्छतः पान्थस्य अग्रे प्राप्तव्यं निर्भयमाश्रयस्थानं भवति तथैव कामक्रोधादिपरिपन्थिसङ्कुलं दुर्गमं मोक्षमार्गं प्रविचरतो मुनेर्भवानेव संसरणभयविकलं परमं पदमस्ति।

[कोशः] 'प्रतिरोधिपरास्कन्दिपाटच्चरमलिम्लुचाः' इत्यमरः। 'अग्रमवलम्बने प्राप्ये' इति विश्वः।

[वाच्यप०] उदीर्णरागप्रतिरोधकं मोक्षपथमुपेयुषा मनस्विनः त्वया निरपायसंश्रयया अग्रभूम्या भूयते।

[भाषाटीका] जैसे चोर डाकुओं से भरे हुए बीहड़ उजाड़ दुर्गम जंगल में जाता हुआ पथिक अपने गन्तव्य (सर्व सुखसाधनों से परिपूर्ण) भयरहित आश्रयस्थान (धर्मशाला या ग्राम आदि) को प्राप्त होकर कृतकृत्य होता है वैसे ही बीहड़ गहन दुर्गम तथा काम क्रोधादि विघ्नों से परिपूर्ण मोक्षमार्ग में चलनेवाले योगियों के लिए आपही प्राप्तव्य निर्भय परम पद हैं। अर्थात्—आपके पास पहुँचने के लिए ही योगिजन कठिन मोक्षमार्ग का परिशीलन करते हैं अतः आपका दर्शन ही परम पुरुषार्थ है ॥ ३२ ॥

ननु प्रकृतिविविक्तपुरुषसाक्षात्कारान्मोक्षो नास्मत्साक्षात्कारादित्याशङ्क्य सोऽपि त्वमेवेत्याह—

उदासितारं निगृहीतमानसै-
गृहीतमध्यात्मदृशा कथंचन ।
बहिर्विकारं प्रकृतेः पृथग्विदुः
पुरातनं त्वां पुरुषं पुराविदः ॥ ३३ ॥

[सर्वङ्कषा] उदासितारमिति । पुराविदः—पूर्वज्ञाः कपिलादयः । त्वां निगृहीतमानसैः—अन्तर्निबद्धचित्तैर्योगिभिः—आत्मनि अधि इत्यध्यात्मम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । 'अनश्च' इति समासान्तष्टक् । अध्यात्मं यादृक् ज्ञानं तया—अध्यात्मदृशा—प्रत्यग्दृष्ट्या, कथंचन गृहीतं—साक्षात्कृतम् । केन रूपेण गृहीतमित्यत आह—उदासितारम्—उदासीनम् । प्रकृतौ स्वार्थप्रवृत्तायामपि स्वयमप्राकृतत्वादस्पृष्टमित्यर्थः । आसेस्तृच् । विकारेभ्यो बहिः—बहिर्विकारम् । महदादिभ्यः पृथग्भूतमित्यर्थः । 'अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या' इत्यव्ययीभावः । किञ्च प्रकृतेः—त्रैगुण्यात्मनो मूलकारणात्पृथग्—भिन्नम् । 'प्रकृतिः पञ्चभूतेषु प्रधाने मूलकारणे' इति यादवः । पुरा भवं पुरातनम्—अनादिम् । 'सायंचिरम्—' इत्यादिना ट्यु प्रत्ययः । पुरुषं—पुरुषपदवाच्यं विज्ञानघनं । विदुः—विदन्ति । 'विदो लटो वा' इति झेरुसादेशः । यथाहुः—'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥' इति 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' इत्यादिश्रुतिश्च । सोऽपि त्वमेव, 'तत्त्वमसि' इत्यादिवाक्यैरैक्यश्रवणात् । तस्मात्त्वमेव साक्षात्करणीय इति सुष्ठूक्तमिति भावः ॥३३॥

[अन्वयः] पुराविदः त्वां निगृहीतमानसैः अध्यात्मदृशा कथंचन गृहीतम् उदासितारम बहिर्विकारम् प्रकृतेः पृथक् पुरातनम् पुरुषं विदुः ।

[विग्रहः] निगृहीतं मानसं यैस्ते निगृतमानसाः, तैः—निग्रहीतमानसैः । आत्मनि इति अध्यात्मम्, अध्यात्मं या दृक् सा अध्यात्मदृक् । तया,—अध्यात्मदृशा । विकारेभ्यो बहिरिति बहिर्विकारम् । पुरा भवः पुरातनः, तं—पुरातनम् ।

[अर्थः] पुराविदः = पूर्वज्ञाः। पुराणतत्त्वविदः कपिलादयो मुनयः। त्वां = भवन्तम्। निगृहीतमानसैः = अन्तर्निबद्धचित्तैः। संयतचित्तैर्योगिभिः। अध्यात्मदृशा = प्रत्यग्दृष्ट्या। अन्तर्दृशा। कथञ्चन = महता प्रयासेन। गृहीतं = कथमपि साक्षात्कृतम्। उदासितारम् = प्रकृतौ स्वार्थे प्रवृत्तायामपि उदासीनम्। बहिर्विकारं = प्रकृतिविकारेभ्यो महदादिभ्यो बहिर्भूतम्। महदादिविकारभिन्नम्। प्रकृतेः = मूलप्रकृतेस्त्रिगुणात्मिकायाः। पृथक् = भिन्नम्। पुरातनम् = अनादिम्। पुराणम्। पुरुषं = पुरुषपदवाच्यम्। विदुः = विदन्ति। जानन्ति।

[भावार्थः] मूलप्रकृतेर्महदादिभ्योऽपि भिन्नं प्रकृतौ व्याप्रियमाणायामप्युदासीनं विज्ञानघनं त्वां कपिलादयो महामुनयः पुरुषपदवाच्यं क्षेत्रज्ञं विदन्ति।

[कोशः] 'प्रकृतिः पञ्चभूतेषु प्रधाने मूलकारणे' इति वैजयन्ती। 'क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः' इत्यमरः।

[वाच्यप०] पुराविद्भिः निगृहीतमानसैर्गृहीतः बहिर्विकार उदासिता प्रकृतेः पृथक्त्वं पुरातनः पुरुषो विद्यसे।

[भाषाटीका] कपिल आदि पुरातन मुनि लोग आपको प्रकृति और उसके महत्तत्त्व आदि विकारों से पृथक् प्रतिपादन करते हैं और आपको ही पुरुषपद से कहते हैं ॥३३॥

एवं भगवतो निर्गुणस्वरूपमुक्त्वा संप्रति प्रस्तुतोपयोगितया सगुणमाश्रित्य षड्भिः स्तौति—

निवेशयामासिथ हेलयोद्धृतं
फणाभृतां छादनमेकमोकसः।
जगत्त्रयैकस्थपतिस्त्वमुच्चकै-
रहीश्वरस्तम्भशिरःसु भूतलम् ॥ ३४ ॥

[सर्वङ्कषा] निवेशयामासिथेति । जगत्त्रयस्य एकस्थपतिः—एकाधिपतिः, एकशिल्पी च । 'स्थपतिरधिपतौ तक्षिण बृहस्पतिसचिवयोः' इति वैजयन्ती । त्वं हेलयोद्धृतम् । वराहावतारे इति भावः । फणाभृताम् ओकसः—आश्रयस्य, सद्मनश्च । 'ओकः सद्मनि चाश्रये' इति विश्वः । एकं छादनम्—आवरणं, भूतलमुच्चकैरुन्नतेषु च,—अहीश्वरः–शेषएव स्तम्भस्तस्य शिरःसु—मूर्धसु, अग्रेषु च । फणासहस्रेष्विति भावः । निवेशयामासिथ—निवेशितवानसि । विशतेर्ण्यन्ताल्लिटि थल् । 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इत्यस्तेरनुप्रयोगः । अत्र श्लिष्टाश्लिष्टरूपकयोर्हेतु-हेतुमद्भावाच्छ्लिष्टं परम्परितरूपकम् ॥ ३४ ॥

[अन्वयः] जगत्त्रयैकस्थपतिः त्वं हेलया उद्धृतं फणाभृताम् ओकसः एकं छादनं भूतलम् उच्चकैः अहीश्वरस्तम्भशिरःसु निवेशयामासिथ ।

[विग्रहः] जगतां त्रयम् जगत्त्रयम् । एकश्चासौ स्थपतिश्च एकस्थपतिः । जगत्त्रयस्य एकस्थपतिः—जगत्त्रयैकस्थपतिः । फणा बिभ्रतीति फणाभृतः, तेषां फणाभृताम् । अहीश्वर एव स्तम्भः—अहीश्वरस्तम्भः, अहीश्वरस्तम्भस्य शिरांसि—अहीश्वरस्तम्भशिरांसि, तेषु—अहीश्वरस्तम्भशिरःसु ।

[अर्थः] जगत्त्रयैकस्थपतिः = त्रैलोक्यैकाधिपतिः । त्रैलोक्यैकशिल्पी च । त्वं = भवान् । हेलया = लीलया । उद्धृतम् = उत्थापितम् । वराहावतारे समुद्धृतम् । फणाभृतां = सर्पाणाम् । फणिनाम् । ओकसः = आश्रयस्य, सद्मनश्च । पातालरूपस्य फणिनिलयस्य । एकं = मुख्यम् । प्रधानम् । छादनम् = आवरणम् । भूतलं = भूवलयम् । उच्चकैः = उच्छ्रितेषु । उन्नतेषु । अहीश्वरस्तम्भशिरःसु = सर्पाधिपतिशेषशिरोरूपस्तम्भाग्रभागेषु । शेषसम्बन्धिफणासहस्रेषु । निवेशयामासिथ = विनिवेशितवानसि ।

[भावार्थः] वराहावतारे जगत्त्रयैकसूत्रधारेण भवता

लीलया पातालाच्छादनं भूवलयमुद्धृत्य शेषशिरःस्तम्भेषु विनिवेशतमित्यहो! महिमातिशयो भगवतो जगदीश्वरस्य भवतः।

[कोशः] 'स्थपतिश्चाधिपे तक्षिण बृहस्पतिसचिवयोः' इति वैजयन्ती। 'ओकः सद्मनि चाश्रये' इति विश्वः।

[वाच्यप०] जगत्त्रयैकस्थपतिना त्वया भूतलमहीध्रस्तम्भशिरःसु निवेशयाम्बभूवे।

[भाषाटीका] आपने वराह अवतार के समय समुद्र में से पृथ्वी का उद्धार कर और उसे शेषनाग के हजारों शिररूपी स्तम्भोंपर स्थापना कर अपनी जगत् निर्माण की शिल्पचातुरी प्रदर्शित की है ॥ ३४ ॥

अनन्यगुर्वास्तव* केन केवलः
पुराणमूर्तेर्महिमाऽवगम्यते।
मनुष्यजन्माऽपि सुरासुरान्गुणै-
र्भवान्भवच्छेदकरैः करोत्यधः ॥ ३५ ॥

[सर्वङ्कषा] अनन्येति। न विद्यतेऽन्यो गुरुर्यस्यास्तस्याः—अनन्यगुर्वा इत्यनीकारान्तः पाठः। समासात्प्राङ्ङीपि 'नद्यृतश्च' इति कप्प्रसङ्गः स्यात्। पश्चात्त्वनुपसर्जनाधिकारात् 'वोतो गुणवचनात्' इति न प्राप्नोति। 'ङिति ह्रस्वश्च' इति वा नदीसंज्ञात्वात् 'आण्नद्याः' इत्याडागमः। केचित्तु समासान्तविधिरनित्य इति कपं वारयन्ति। तस्याः—सर्वोत्तमायाः, तव पुराणमूर्तेः—अमानुषस्वरूपस्य। केवलः—कृत्स्नः। 'केवलः कृत्स्न एकः स्यात्केवलश्चावधारणे' इति विश्वः। महिमा केनावगम्यते?। न केनापीत्यर्थः। कुतः?। मनुष्याज्जन्म यस्य स मनुष्यजन्मा भवान्। 'अवर्ज्यो हि बहुव्रीहिर्व्यधिकरणो जन्माद्युत्तरपदः' इति वामनः। भवच्छेदकरैः—संसारनिवर्तकैः, गुणैर्ज्ञानादिभिः सुरासुरान्। सुरासुरविरोधस्य कार्योपाधिकत्वेनाशाश्वति-

* अनन्यगुर्व्या इति पाठान्तरम्।

कत्वात् 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः' इति न द्वन्द्वैकवद्भाव इत्याहुः । अधः करोति । 'शेषे प्रथमः' इति प्रथमपुरुषः । भवच्छब्दस्य युष्मदस्मदन्यत्वेन शेषत्वादिति । मानुष एव ते महिमा दुरवगाहः, अमानुषस्तु किमितीति तात्पर्यार्थः । द्वितीयार्धेऽसकृद्व्यञ्जनावृत्त्या छेकानुप्रासः ॥ ३५ ॥

[अन्वयः] अनन्यगुर्वाः तव पुराणमूर्तेः केवलः महिमा केन अवगम्यते ? । मनुष्यजन्माऽपि भवान् भवच्छेदकरैः गुणैः सुरासुरान् अधः करोति ।

[विग्रहः] न विद्यते अन्यो गुरुर्यस्याः सा—अनन्यगुरुः, तस्याः—अनन्यगुर्वाः । पुराणा चासौ मूर्तिश्च पुराणमूर्तिः, तस्याः पुराणमूर्तेः । मनुष्यात् जन्म यस्याऽसौ मनुष्यजन्मा । भवस्य च्छेदः भवच्छेदः, भवच्छेदं कुर्वन्तीति भवच्छदकराः, तैः भवच्छेदकरैः । सुराश्च असुराश्च सुरासुराः, तान् सुरासुरान् ।

[अर्थः] अनन्यगुर्वाः = अनितरश्रेष्ठायाः । अनन्यसाधारण-गौरवशालिन्याः । सर्वश्रेष्ठायाः । तव = भवतः । पुराणमूर्तेः = वामनादिपुरातनस्वरूपस्य । दिव्यस्य वपुषः । केवलः = अशेषः । सर्वोऽपि । महिमा = माहात्म्यातिशयः । केनावगम्यते = केन पुरुषेण ज्ञायते ? । न केनापि तत्त्वतो भवतो महिमा ज्ञायते इत्यर्थः । मनुष्यजन्मा = धृतमानुषवपुः । वसुदेवादुद्भूतोऽपि मर्त्यदेहधार्यपि खलु । भवान् = त्वम् । भवच्छेदकरैः = संसार-जालनिवर्त्तकैः । भवबन्धनकर्त्तनपटुभिः । गुणैः = दयादाक्षिण्यानु-ग्रहादिभिर्ज्ञानैश्वर्यादिभिश्च गुणैः । सुराऽसुरान् = देवासुरान् । अधः करोति = तिरस्करोति ।

[भावार्थः] सर्वातिशायिन्यास्तव पुरातनमूर्त्तेः (वामना-दिमूर्त्तेः) महिमानं कार्त्स्न्येन वक्तुं कः किल पुमान् समर्थः ? । न कोऽपि । यन्मानुषेऽप्यस्मिन्नवतारे भवच्छेदकरैर्गुणैर्भवान् सुरांश्चाऽसुरांश्च तिरस्करोति । यस्य मानुषावतारस्यापि

सुरासुरातिशायी महिमा वर्त्तते तस्य दिव्यावताराणां महिमानं कार्त्स्न्येन वक्तुं कः प्रभुः ?, न कोपीत्याशयः ।

[कोशः] 'केवलः कृत्स्न एकः स्यात्केवलश्चावधारणे' इति विश्वः ।

[वाच्यप०] अनन्यगुर्वास्तव पुराणमूर्तेः केवलं महिमानं कोऽवगच्छति ? मनुष्यजन्मनाऽपि भवता भवच्छेदकरैः गुणैः सुरासुरा अधः क्रियन्ते ।

[भाटीका] आपके दिव्य वामन आदि अवतारों की सर्वश्रेष्ठ महिमा का यथार्थ वर्णन तो असम्भव ही है, क्योंकि आप मनुष्यावतार (रामकृष्णावतार) में भी जब देवासुरों को अपने गुणों से नीचा दिखा रहे हैं, (उनसे श्रेष्ठ आपके गुण हैं) तो आपके दिव्य अवतारों की महिमा को कौन वर्णन कर सकता है ? ॥ ३५ ॥

लघूकरिष्यन्नतिभारभङ्गुरा-
मनूं किल त्वं त्रिदिवादवातरः ।
उदूढलोकत्रितयेन साम्प्रतं
गुरुर्धरित्री क्रियतेतरान्त्वया ॥ ३६ ॥

[सर्वङ्कषा] लघूकरिष्यन्निति । त्वमतिभारेणोर्जिन स्वरूपेण भङ्गुरां—स्वयं भज्यमानाम् । 'भञ्जभासमिदो घुरच्' । 'भङ्गुरः कर्मकर्तरि इति वामनः । अमूम् । भुवमित्यर्थः । लघूकरिष्यन्—निर्भारां करिष्यन् किल । 'कृभ्वस्ति—'इत्यादिनाऽभूततद्भावे च्विः । 'च्वौ च' इति दीर्घः । तृतीया द्यौः—त्रिदिवः—स्वर्गस्तस्मात् । 'घञर्थे कविधानम्' । वृत्तिविषये सङ्ख्याशब्दस्य पूरणार्थत्वं, त्रिभागादिवत् । अवातरः—अवतीर्णोऽसि । साम्प्रतं—सम्प्रति । उदूढलोकत्रितयेन । 'कुक्षा'विति शेषः । त्वया धरित्री गुरुः—पूज्या, भारवती च, क्रियतेतराम्—अतिशयेन क्रियते । 'तिङश्च' इति तरप् । 'किमेत्तिङव्ययघात्–' इत्यादिना आमुप्रत्ययः । लघुकर्ता गुरूकरोतीति विरोधाभासोऽलङ्कारः । 'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास उच्यते' इति लक्षणात् ॥ ३६ ॥

[अन्वयः] त्वम् अतिभारभङ्गुराम् अमूम् लघूकरिष्यन् किल त्रिदिवात् अवातरः। साम्प्रतम् उदूढलोकत्रितयेन त्वया धरित्री गुरुः क्रियतेतराम्।

[विग्रहः] अतिशयितो भारः—अतिभारः, अतिभारेण भङ्गुरा अतिभारभङ्गुरा, ताम् अतिभारभङ्गुराम्। लोकानां त्रितयं लोकत्रितयम्। उदूढं लोकत्रितयं येनासौ उदूढलोकत्रितयः, तेन—उदूढलोकत्रितयेन।

[अर्थः] त्वम्=भवान्। अतिभारभङ्गुराम्=अतिभारेण स्वयमेव भज्यमानाम्। अमूम्=भुवम्। लघूकरिष्यन् किल=निर्भारां करिष्यन् किल। व्यपगतभारां विधास्यन्। त्रिदिवात्=स्वर्गात्। वैकुण्ठाख्यान्निजधाम्नः। अवातरः=अवतीर्णोऽसि। वसुदेवगृहे लीलामानुषरूपेणावतीर्णोऽसि। किन्तु-साम्प्रतम्=इदानीम्। उदूढलोकत्रितयेन=कुक्षिविनिवेशितलोकत्रयेण। त्वया=भवता श्रीकृष्णेन। धरित्री=पृथ्वी। गुरुः=भाराक्रान्ता, पूज्या च। क्रियतेतराम्=अतिशयेन क्रियते। विशेषतो विधीयते।

[भावार्थः] हे पुरुषोत्तम ! भूभारावतारणायावतीर्णोऽपि त्वं (विपरीतं—) स्वकुक्षिस्थत्रैलोक्यभारेण पृथ्वीं भारवतीमेव करोषि, स्वचरणन्यासेन पूज्यां च विदधासीत्याशयः। तदत्र त्रिलोकीपतिर्भवान् भूभारापहरणायावतीर्णोऽस्तीति तत्त्वम्।

[कोशः] 'धरा धरित्री धरणिः' इत्यमरः। 'स्वर्गनाकत्रिदिवत्रिदशालयाः' इत्यमरः।

[वाच्यप०] अतिभारभङ्गुरामिमां लघूकरिष्यता भवता त्रिदिवात् अवातीर्यत। साम्प्रतम् उदूढलोकत्रितयः धरित्रीं गुरुं करोषितराम्।

[भाषाटीका] हे अच्युत ! आपका यह अवतार यद्यपि पृथ्वी के भार [जिस भारसे पृथ्वी टुकड़ा टुकड़ा होना चाहती है) को दूर करने के लिए हुआ है। परन्तु भार हटाना तो दूर रहा है-अपनी कुक्षि में स्थित त्रैलोक्य के भार से उलटे आप इस पृथ्वी पर और अधिक भार बढ़ा रहे है ह विरोधा-

भास है। इसका परिहार—'आपके अवतार लेने से पृथ्वी का गौरव (मान मर्यादा) बढ़ गई।' अब पृथ्वी का भार जल्दी दूर करिए यह भावार्थ है]॥३६॥

निजौजसोज्जासयितुं जगद्द्रुहा-
मुपाजिहीथा न महीतलं यदि।
समाहितैरप्यनिरूपितस्ततः
पदं दृशः स्याः कथमीश ! मादृशाम् ?॥३७॥

[सर्वङ्कषा] निजेति । निजौजसा—स्वतेजसा । जगद्भ्यो द्रुह्यन्तीति जगद्द्रुहः—कंसादयः । 'सत्सूद्विष—' इत्यादिना क्विप् । तेषां उज्जासयितुम् । तान्हिंसितुमित्यर्थः । 'जासिनिप्रहण—'इत्यादिना कर्मणि शेषे षष्ठी । 'जसु हिंसायाम्' इति चुरादिः । महीतलं नोपाजिहीथाः यदि—नावतरेश्चेत् । 'ओहाङ् गतौ' लङि थासि रूपम् । ततः—तर्हि । समाहितैः—समाधिनिष्ठैरपि । सकर्मकादप्याशितादिवदविवक्षिते कर्मणि कर्तरि क्तः । अथवा—समाहितैः । समाहितचित्तैरित्यर्थः । विभक्तधनेषु 'विभक्ता भ्रातरः' इतिवदुत्तरपदलोपो द्रष्टव्यः । गम्यमानार्थस्याप्रयोग एव लोप इति कैय्यटः । अनिरूपितः—अगृहीतस्त्वमीश मादृशाम् । चर्मचक्षुषामिति भावः । विनयोक्तिरियम् । दृशः—दृष्टेः, पदं—गोचरः, कथं स्याः ? । न कथञ्चिदित्यर्थः । यस्मात्त्वत्साक्षात्कार एवागमनप्रयोजनमिति भावः ॥३७॥

[अन्वयः] निजौजसा जगद्द्रुहामुज्जासयितुं महीतलं न उपाजिहीथाः यदि ततः समाहितैरपि अनिरूपितः त्वम् ईश मादृशां दृशः पदं कथं स्याः ? ।

[विग्रहः] जगद्भ्यो द्रुह्यन्तीति जगद्द्रुहः,तेषां जगद्द्रुहाम् । निजञ्चतदोजश्च निजौजः, तेन निजौजसा । मह्यास्तलं महीतलं, तत्—महीतलम् ।

[अर्थः] निजौजसा=स्वतेजसा । जगद्द्रुहां=जगद्दुःपीडकानां । कंसादीनाम् । उज्जासयितुं=प्रोज्जासयितुम् । तान् विनिहिंसितुमित्यर्थः । महीतलं=भुवस्तलम् । पृथ्वीतलम् ।

नोपाजिहीथा यदि=नावतरेश्चेत् । ततः=तर्हि । समाहितैरपि= समाधिनिष्ठैरपि । समाहितचित्तैरपि । अनिरूपितः=अगृहीतः । अनधिगतः । ज्ञातुमशक्यश्च । त्व=भवान् । ईश=हे विभो । मादृशा=मत्सदृशानां चर्मचक्षुषाम् । दृशः=दृष्टेः । पदं=गोचरः । कथं स्या=कथं भवेः । न कथञ्चिदपीत्यर्थः ।

[भावार्थः] यदि स्वतेजसा कंसादीन् विश्वद्रुहो विनिहन्तुं त्वमत्र नावतरेस्तर्हि योगिभिर्ध्यानादिनाऽपि ज्ञातुमशक्यस्त्वं कथं मादृशां लोचनातिथिः स्याः ? । नैव स्याः । अतो द्रष्टुमेव त्वामहमत्रायातोऽस्मि ।

[कोशः] 'ओजोदीप्तावववष्टम्भे प्रकाशबलयोरपि' इति मेदिनी ।

[वाच्यप०] निजौजसा जगद्द्रुहामुज्जासयितुं त्वया महीतलं नोपाहीयत यदि । हे ईश ! समाहितैरपि अनिरूपितेन मादृशां दृशः पदेन कथं भूयेत ? ।

[भाषाटीका] हे इश ! यदि जगत् को क्लेश देनेवाले कंसादिको मारने के लिए आप अवतार न लेते तो योगियों से भी अगम्य यह आपकी मूर्त्ति (छबि) हम लोगों को देखने को कैसे मिलती ? । अतः आपका दर्शन करना ही मेरे आने का सबसे बड़ा कारण है ॥ ३७ ॥

ननु कोऽयं नियमो यन्ममैवायं दुष्टनिग्रहाधिकार इत्याशङ्क्यानन्य-साध्यत्वमेवाह—

उपप्लुतं पातुमदो मदोद्धतै-
स्त्वमेव विश्वम्भर ! विश्वमीशिषे ।
ऋते रवेः क्षालयितुं क्षमेत कः
क्षपातमस्काण्डमलीमसं नभः ॥ ३८ ॥

[सर्वङ्कषा] उपप्लुतमिति । विश्वं बिभर्तीति विश्वम्भरस्तत्सम्बुद्धौ हे विश्वम्भर ! विश्वत्रातः । 'सञ्ज्ञायां भृतॄवृजि—' इत्यादिना खच्प्रत्यये मुमागमः । मदोद्धतैः—कंसादिभिः—उपप्लुतं—पीडितम् । अदो-विश्वं पातुं त्वमेव ईशिषे—शक्तोऽसि । विश्वम्भरत्वादिति भावः ।

'ईश ऐश्वर्ये' लिटि थासि रूपम्। अत्र वैधर्म्येण दृष्टान्तमाह—क्षपायास्तमस्काण्डैः—तमोवर्गैः। 'काण्डोऽस्त्री दण्डबाणार्ववर्गावसरवारिषु' इत्यमरः। 'कस्कादिषु च' इति विसर्जनयस्य सत्वम्। मलीमसं—मलिनम्। 'मलीमसं तु मलिनं कच्चरं मलदूषितम्' इत्यमरः। 'ज्योत्स्नातमिस्रा' इत्यादिना मत्वर्थीयो निपातः। नभः क्षालयितुं रवेः ऋते—रविं विना। 'अन्यारादितरर्ते—' इति पञ्चमी। कः—क्षमेत—शक्नुयात्। न कोऽपीत्यर्थः। अत्र वाक्यद्वये समानधर्मस्यैकस्येशिपेक्षमेतेति शब्दद्वयेन वस्तुभावेन निर्देशात्तत्रापि व्यतिरेकमुखत्वाद्वैधर्म्येण प्रतिवस्तूपमालङ्कारः। तदुक्तम्—'सर्वस्य वाक्यार्थगतत्वेन सामान्यस्य वाक्यद्वये पृथङ्निर्देशे प्रतिवस्तूपमा' ॥ ३८ ॥

[अन्वयः] विश्वम्भर! मदोद्धतैः उपप्लुतम् अदः विश्वं पातुम् त्वमेव ईशिषे। क्षपातमस्काण्डमलीमसम् नभः क्षालयितुम रवेः ऋते कः क्षमेत ?।

[विग्रहः] विश्वं बिभर्तीति विश्वम्भरः, तत्सम्बुद्धौ हे विश्वम्भर!। मदेन उद्धताः मदोद्धताः, तैः—मदोद्धतैः।तमसः काण्डानि तमस्काण्डानि। क्षपायाः तमस्काण्डानि क्षपातमस्काण्डानि। —क्षपातमस्काण्डैः मलीमसं क्षपातमस्काण्डमलीमसम्, तत्।

[अर्थः] विश्वम्भर=हे जगत्त्रातः। हे जगदीश! हे त्रैलोक्यरक्षक! मदोद्धतैः=दुर्मदोद्धतैः। उन्मत्तैः कंसादिभिः। उपप्लुतं=पीडितम्। अदः=इदं। विश्वं=जगत्। पातुं=रक्षितुम्। त्वमेव=भवानेव। ईशिषे=समर्थोऽसि। शक्तोऽसि। क्षपातमस्काण्डमलीमसं = निशाऽन्धकारसन्तानमलिनम्। रात्रिप्रगाढान्धकारपरम्परामलिनितम्। निशान्धकारपटलावलीढम्। नभः = गगनं। क्षालयितुं=विशदीकर्तुम्। प्रकाशयितुम्। रवेः ऋते=आदित्यं विना।कः क्षमेत=कः खलु शक्नुयात्?। नकोऽपि शक्नुयादित्यर्थः।

[भावार्थः] हे प्रभो ! उद्वृत्तैर्दुष्टैः कंसादिभिरुपप्लुतं जगदिदं भवानेव त्रातुं समर्थो विश्वम्भरत्वान्नान्यः। ननु प्रचण्डमहसं मार्त्तण्डं विना रात्रेर्घनमन्धकारं गगनतलादपसारयितुं कः समर्थः ?। न कोऽपीति भावः।

[कोशः] 'काण्डोऽस्त्री दण्डबाणार्ववर्गावसरवारिषु' इत्यमरः। 'मलीमसन्तु मलिनं कच्चरं मलदूषितम्' इत्यमरः।

[वाच्यप०] विश्वम्भर ! मदोद्धतैरुपप्लुतम् अदो विश्वं पातुं त्वया एव ईश्यते। ऋते रवेः......मलीमसं नभः क्षालयितुं केन क्षम्येत ?।

[भाषाटीका] हे विश्वम्भर ! कंस आदि दुष्टों से सताये गए इस त्रैलोक्य की रक्षा आप ही कर सकते हैं, दूसरे की सामर्थ्य नहीं है। क्योंकि रात्रि के गहरे अन्धकार को आकाश से भगाने की शक्ति सूर्य भगवान् में ही है, दूसरे में नहीं॥ ३८॥

करोति कंसादिमहीभृतां वधा-
ज्जनो मृगाणामिव यत्तव स्तवम्।
हरे ! हिरण्याक्षपुरःसरासुर-
द्विपद्विषः प्रत्यत सा तिरस्क्रिया॥३९॥

[सर्वङ्कषा] करोतीति। किञ्च—जनो मृगाणामिव कंसादिमहीभृतां वधाद्धेतोः स्तवं—स्तोत्रम्। 'स्तवः स्तोत्रं स्तुतिर्नुतिः' इत्यमरः। करोति यत्। हे हरे—हे कृष्ण। हे सिंहेति च गम्यते। सा स्तुतिक्रिया। हिरण्याक्षपुरःसराः—हिरण्याक्षप्रभृतयो येऽसुरास्त एव द्विपास्तेषां द्विषः। हन्तुरित्यर्थः। तस्य तव प्रत्युत—वैपरीत्येन। 'प्रत्युतेत्युक्तवैपरीत्ये' इति गणव्याख्यानात्। तिरस्क्रिया—अवमानः। यदिति सामान्ये नपुंसकम्। सेति विधेयलिङ्गम्। गजघातिनः सिंहस्य मृगवधवर्णनमिव महासुरहन्तुस्तव कंसादिक्षुद्रनृपवधवर्णनं तिरस्कार एवेत्यर्थः। अत्रासुरद्विपानामिति हरिवद्धरिरिति श्लिष्टपरम्परितरूपकं मृगाणामिवेत्युपमयाऽङ्गाङ्गिभावेन सङ्कीर्यते॥ ३९॥

[अन्वयः] जनः मृगाणामिव कंसादिमहीभृतां वधात् यत् (तव) स्तवं करोति, हरे ! सा स्तुतिक्रिया हिरण्याक्षपुरः सरासुरद्विपद्विषः तव प्रत्युत तिरस्क्रिया [भवति] ।

[विग्रहः] कंस आदिर्येषां ते कंसादयः, कंसादयश्च ते महीभृतश्च कंसादिमहीभृतः, तेषां—कंसादिमहीभृताम् । हिरण्याक्ष एव पुरःसरो येषां ते हिरण्याक्षपुरःसराः, हिरण्याक्षपुरस्सराश्च ते असुराश्च—हिरण्याक्षपुरःसराऽसुराः त एव द्विपाः हिरण्याक्षपुरःसरासुरद्विपाः, तेषां द्विट् हिरण्याक्षपुरस्सरासुरद्विपद्विट्, तस्य हिरण्याक्षपुरस्सरासुरद्विपद्विषः । तिरस्करणं तिरस्क्रिया ।

[अर्थः] जनः=लोकः । मृगाणामिव=हरिणानामिव । कंसादिमहीभृतां=कंसादिनृपाणाम् । वधात = निबर्हणात् । मारणाद्धेतोः । यत् (तव=भवतः) । स्तोत्रं=स्तुतिम् । 'हे कंसनिषूदन ! हे कालियमर्दन ! हे केशिहन्' इत्येवं भवतः प्रशंसाम् । करोति=विदधाति । विरचयति । हरे=हे कृष्ण ! हे केसरिन् ! हे नृसिंह ! । सा=स्तुतिक्रिया । हिरण्याक्षपुरस्सराऽसुरद्विपद्विषः= हिरण्याक्षहिरण्यकशिपुमधुकैटभाद्यसुरगजेन्द्रहन्तुः । तव=भवतः । प्रत्युत=वैपरीत्येन । तिरस्क्रिया=तिरस्कारः । अपमान एव भवति न स्तुतिः ।

[भावार्थः] हे नृसिंह ! यथा गजेन्द्रयूथाधिपनिबर्हणपरायणस्य कण्ठीरवस्य मृगादिक्षुद्रपशुवधास्तुतिक्रियापमान एव, एवं हिरण्याक्षाद्यसुरराजमहागजेन्द्रहन्तुर्भवतः क्षुद्रकंसादिरूपमृगवधात् (हे कंसारे इत्यादिना) लोके स्तुतिः प्रत्युत तिरस्क्रियैव न स्तुतिः ।

[कोशः] 'यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांऽशुवाजिषु । शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु' इत्यमरः । 'प्रत्युतोक्तविरोधे स्यात्' इति गणव्याख्या ।

[वाच्यप०] मृगाणामिव कंसादिमहीभृतां वधात्—जनेन यत्तव स्तवः क्रियते तया स्तुतिक्रियया तव तिरस्क्रियया भूयते ।

[भाषाटीका] हे हरे (हे नृसिंह !) जैसे मत्त हाथियों के झुण्ड को मारनेवाले सिंह की मृगों के मारने से स्तुति करना निन्दा के समान है, वैसे ही हिरण्याक्ष आदि दुर्दान्त असुर रूपी हाथियों के मारनेवाले आपकी कंस आदि छोटे २ असुररूपी हरिणों को मारने से स्तुति करना आपका अपमान ही करना है ॥ ३९ ॥

एवं स्तुत्या देवमभिमुखीकृत्यागमनप्रयोजनं वक्तुमुपोद्घातयति—

प्रवृत्त एव स्वयमुज्झितश्रमः
क्रमेण पेष्टुं भुवनद्विषामसि ।
तथापि वाचालतया युनक्ति मां
मिथस्त्वदाभाषणलोलुपं मनः ॥४०॥

[सर्वङ्कषा] प्रवृत्त इति । त्वम्—उज्झितश्रमः—त्यक्तश्रमः सन् । क्रमेण—भुवनानि द्विषन्तीति भुवनद्विषः—दुष्टास्तेषां पेष्टुम् । तान्हिंसितुमित्यर्थः । 'जासिनिप्रहण—' इत्यादिना कर्मणि शेषे षष्ठी । स्वयम्—अपरप्रेरित एव प्रवृत्तोऽसि । एवं तर्हि पिष्टपेषणं किमिति चेत्तत्राह—तथापि—स्वतः प्रवृत्तेऽपि, मिथो—रहसि, त्वदाभाषणे—त्वया सह संलापे, लोलुपं—लुब्धम् । 'लुब्धोऽभिलाषुकस्तृष्णक्समौ लोलुपलोलुभौ' इत्यमरः । मनो मां वाचालतया सह युनक्ति । वाचालं करोतीत्यर्थः वाचो बह्व्योऽस्य सन्तीति वाचालः । 'आलजाचटौ बहुभाषिणि' इत्यालच् । 'स्याजल्पाकस्तु वाचालो वाचाटो बहुगर्ह्यवाक्' इत्यमरः ॥४०॥

[अन्वयः]—(त्वम्) उज्झितश्रमः (सन्) क्रमेण भुवनद्विषां पेष्टुं स्वयम् एव प्रवृत्तोऽसि । तथापि मिथस्त्वदाभाषणलोलुपं मनः मां वाचालतया (सह) युनक्ति ।

[विग्रहः] उज्झितः श्रमो येनाऽसौ उज्झितश्रमः । भुवनानि द्विषन्तीति भुवनद्विषः, तेषां भुवनद्विषाम् । बह्व्यो वाचोऽस्य सन्तीति वाचालः, तस्य भावो वाचालता, तया—वाचालतया । त्वया आभाषणं त्वदाभाषणं, मिथः—त्वदाभाषणे लोलुपं मिथस्त्वदाभाषणलोलुपम्, तत ।

[अर्थः] त्वम्— उज्झितश्रमः=परित्यक्तपरिश्रमः सन्। अविश्रान्तः सन्। क्रमेण=क्रमशो। यथायथम्। भुवनद्विषां=जगद्द्रुहां कंसादिदुष्टानाम्। पेष्टुम्=उज्जासयितुम्। तान् विनिहन्तुम्। स्वयमेव=आत्मनैव। प्रवृत्तोऽसि=प्रवृत्त एवासि। तथापि=स्वतः प्रवृत्तेऽपि। मिथस्त्वदाभाषणलोलुप=परस्परं रहसि च त्वया सह संलापे समुत्सुकम्। मनः=मच्चेतः। मां=निःस्पृहमपि मां नारदम्। वाचालतया=वाचालत्वेन सार्कं। युनक्ति=योजयति। मां वाचाल करोति।

[भावार्थः] यद्यपि स्वयमेव त्वं क्रमशोऽविश्रान्तो दुष्टान् विनिहन्तुं प्रवृत्तोऽसि, तथाऽपि मिथस्त्वदालापसमुत्सुकमानसः किञ्चिद्वच्मि।

[कोशः] 'स्याज्जल्पाकस्तु वाचालो वाचाटो बहुगर्ह्यवाक्' इत्यमरः। 'लुब्धोऽभिलापुकस्तृष्णक् समौ लोलुपलोलुभौ' इत्यमरः।

[वाच्यप०] उज्झितश्रमेण त्वया स्वयमेव भुवनद्विषां पेष्टुं प्रवृत्तेन भूयते। तथापि मिथस्त्वदाभाषणलोलुपेन मनसाऽहं वाचालतया युज्ये।

[भाषाटीका] यद्यपि किसीके कहे बिना ही आप अविश्रान्त रूप से दुष्ट असुरों को क्रमशः मारने में प्रवृत्त हो ही रहे हैं तथापि आपके साथ एकान्त में कुछ देर वार्त्तालाप करने की इच्छा से ही मैं कुछ कहना चाहता हूँ॥४०॥

अथ स्ववाक्यश्रवणं सहेतुकं प्रार्थयते—

तदिन्द्रसन्दिष्टमुपेन्द्र ! यद्वचः
क्षणं मया विश्वजनीनमुच्यते।
समस्तकार्येषु गतेन धुर्यता-
महिद्विषस्तद्भवता निशाम्यताम्॥४१॥

[सर्वङ्कषा] तदिति। तत्—तस्मादिन्द्रमुपगतः उपेन्द्रः—इन्द्रावरजः। अत एवेन्द्रसन्दिष्टम् श्रोतव्यमिति भावः। किञ्च—विश्वस्मै

जनाय हितं विश्वजनीनम्। 'आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात्खः'। यद्वचः क्षणं, ननु चिरं मयोच्यते, तत्—वचोऽहिद्विषो—वृत्रघ्नः। 'सर्पे-वृत्रासुरेऽप्यहिः' इति वैजयन्ती। समस्तकार्येषु धुर्यतां—धुरन्धरत्वं गतेन। अतोऽपि भवता निशम्यताम्। प्रार्थनायां लोट्। धुरं वहतीति धुर्यः। 'धुरो यड्ढकौ' इति यत्प्रत्ययः। स्फुटमत्र पदार्थहेतुकं काव्य-लिङ्गमलङ्कारः॥ ४१॥

[अन्वयः]—तत उपेन्द्र! इन्द्रसन्दिष्टं विश्वजनीनं यद्वचः क्षणं मया उच्यते तत् अहिद्विषः समस्तकार्येषु धुर्यताङ्गतेन भवता निशम्यताम्।

[विग्रहः] इन्द्रमुपगतः—उपेन्द्रः, तत्सम्बुद्धौ हे उपेन्द्र!। इन्द्रेण सन्दिष्टम् इन्द्रसन्दिष्टम्। विश्वस्मै जनाय हितं विश्वजनीनम्। समस्तानि कार्याणि समस्तकार्याणि, तेषु समस्तकार्येषु। धुरं वहतीति धुर्यः, धुर्यस्य भावो धुर्यता, तां धुर्यताम्।

[अर्थः] तत् = तस्मात्। उपेन्द्र = हे इन्द्रानुज। हे श्रीकृष्ण। इन्द्रसन्दिष्टम् = महेन्द्रसन्दिष्टं। महेन्द्रोक्तम्। विश्व-जनीनम् = सर्वलोकोपकारकम्। सर्वजगद्धितावहम्। यद्वचः = यद्वाक्यम्। क्षणं = किञ्चित्कालम्। क्षणमात्रम्। मया = नार-देन। उच्यते = कथ्यते। तत् = तद्वचः। अहिद्विषः = वृत्रघ्नः। समस्तकार्येषु = सर्वेषु कार्येषु। धुर्यतां = धुरन्धरताम्। गतेन = प्राप्तेन। भवता = त्वया। निशम्यतां = श्रूयताम्।

[भावार्थः] हे कृष्ण! भवानिन्द्रकार्यधुरन्धरः। तत्कि-ञ्चित्क्षणं महेन्द्रसन्देशं जगदुपकाराय वच्मि तच्छृणु।

[कोशः] 'उपेन्द्र इन्द्रावरजश्चक्रपाणिश्चतुर्भुजः' इत्यमरः। 'सर्पे वृत्राऽसुरेऽप्यहिः' इति वैजयन्ती।

[वाच्यपरि०] उपेन्द्र इन्द्रसन्दिष्टं विश्वजनीनं यद्वचः क्षणमहं वच्मि अहिद्विषः समस्तकार्येषु धुर्यतां गतो भवान् तन्निशामयतु।

[भाषाटीका] हे श्री कृष्ण! इन्द्र ने आपको लोकोपकारार्थ कुछ सन्देश (सन्देशा) कहलाया है उसे मैं संक्षेप से आपको सुनाऊँगा।

सो आप ध्यानपूर्वक सुनें । क्योंकि इन्द्र के कार्यों को पूरा करनेवाले आप ही तो एक हैं ॥ ४१ ॥

अथ 'शिशुपालो हन्तव्य' इति वक्तुं तस्यावश्यवध्यत्वेऽनन्यवध्यत्वज्ञापनौपयिकतयौद्धत्यप्रकटनार्थं जन्मान्तरवृत्तान्तं तावदुद्घाटयति—

अभूदभूमिः प्रतिपक्षजन्मनां
भियां तनूजस्तपनद्युतिर्दितेः ।
यमिन्द्रशब्दार्थनिषूदनं हरे-
र्हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते ॥ ४२ ॥

[सर्वङ्कषा] अभूदिति । प्रतिपक्षात्—शत्रोः जन्म यासां तासां भियामभूमिः—अविषयः । निर्भीक इत्यर्थः । तपनद्युतिः—सूर्यतापः. दितेस्तनूजो — दैत्योऽभूत् । कोऽसावत आह — हरेः — इन्द्रस्य, इन्द्रशब्दार्थनिषूदनम् । इन्दतीति, इन्द्रः । इदि परमैश्वर्ये' 'ऋज्रेन्द्र—' इत्यादिना रन्प्रत्ययान्त औणादिकनिपातः । तस्य इन्द्र इति शब्दस्येन्द्र इति सञ्ज्ञापदस्य, योऽर्थः परमैश्वर्यलक्षणस्तस्य निषूदनं—निवर्तकम् । कर्तरि ल्युट् । हरेरैश्वर्यनिहन्तारमित्यर्थः । यं—दैत्यं, हिरण्य शब्दपूर्वं कशिपुशब्दं प्रचक्षते । हिरण्यकशिपुमाहुरित्यर्थः । अत्र हिरण्यशब्दपूर्वकत्वं कशिपुशब्दस्यैव न तु सञ्ज्ञिनस्तदर्थस्येतिशब्दपरस्य[कशिपुशब्दस्य] कशिपुशब्दस्यार्थगतत्वेनाप्रयोज्यस्य प्रयोगादवाच्यवचनाख्यार्थदोषमाहुः । 'यद्वावाच्यवचनमवाच्यवचनं हि तत्' इति । समाधानम्—एवंविधविषयं शब्दपरेणार्थलक्षणेति कथंचित्सम्पाद्यमित्युक्तमस्माभि'र्दैवपूर्वं गिरिं ते' इति 'धनुरुपपदमस्मै वेदमभ्यादिदेश' इत्येतद्व्याख्यानावसरे सञ्जीविन्यां घण्टापथे च । विशेषश्चात्र—यं दैत्यमुद्दिश्य हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते—सञ्ज्ञात्वेन प्रयुञ्जते॥४२॥

[अन्वयः] प्रतिपक्षजन्मनां भियाम् अभूमिः (सः) तपनद्युतिर्दितेस्तनूजः अभूत्, हरेः इन्द्रशब्दार्थनिषूदनं यं हिरण्यपूर्वं कशिपुम्प्रचक्षते ।

[विग्रहः] न भूमिः अभूमिः । प्रतिपक्षाज्जन्म यासां ताः प्रतिपक्षजन्मानः, तासाम्—प्रतिपक्षजन्मनाम् । तपनस्य द्युतिरिव द्युतिर्यस्यासौ तपनद्युतिः । इन्द्रशब्दस्य अर्थः इन्द्रशब्दार्थः, इन्द्रशब्दार्थस्य निषूदनम्—इन्द्रशब्दार्थनिषूदनम् । तम् । हिरण्यं पूर्वो यस्याऽसौ हिरण्यपूर्वस्तं—हिरण्यपूर्वम् ।

[अर्थः] प्रतिपक्षजम्मनां = शत्रुसमुद्भूतानाम् । विपक्षादागतानाम् । भियाम् = भीतीनाम् । अभूमिः=अविषयः । निर्भय इति यावत् । तपनद्युतिः=सूर्यप्रभः । प्रचण्डतेजाः । (सः) दितेस्तनूजः = दितिसुतः—दैत्यः । अभूत = बभूव । हरेः= इन्द्रस्य । इन्द्रशब्दार्थनिषूदनम् = इन्द्रपदार्थनिवर्त्तकम् । इन्द्रपदार्थभूतैश्वर्यविनाशकम् । यं—हिरण्यपूर्वं कशिपुं= हिरण्यशब्दपूर्वकं कशिपुं । हिरण्यकशिपुमिति यावत् । प्रचक्षते=कथयन्ति । निगदन्ति । लोका इति शेषः ।

[भावार्थः] शत्रुसमुद्भूतभीतिवर्जितो भास्करप्रभो दैत्यो हिरण्यकशिपुर्नाम बभूव यः किल महेन्द्रस्य इन्द्रशब्दार्थभूतपरमैश्वर्यनिवर्त्तक आसीत् । महेन्द्रराजलक्ष्मीर्येन हठादाच्छिद्य गृहीतेति यावत् ।

[कोशः] 'भीतिर्भीःसाध्वसं भय'मित्यमरः। 'इन्द्रोमरुत्वान्मघवा' इत्यमरः।

[वाच्यप०] प्रतिपक्षजन्मनां भियामभूम्या तपनद्युतिना दितेस्तनूजेनाऽभावि । यो हरेरिन्द्रशब्दार्थनिषूदनो हिरण्यपूर्वः कशिपुः प्रख्यायते ।

[भाषाटीका] शत्रुपक्ष से जिसे कभी भय नहीं होता था ऐसा (निर्भय) हिरण्यकशिपुनामक दैत्य पूर्वकाल में हुआ, जो इन्द्र के इन्द्रत्व—परमैश्वर्य—का ही निवर्त्तक था । अर्थात् इन्द्र की राजलक्ष्मी को जिसने बलपूर्वक छीन लिया था ॥ ४२ ॥

समत्सरेणाऽसुर इत्युपेयुषा
चिराय नाम्नः प्रथमाभिधेयताम् ।
भयस्य पूर्वावतरस्तरस्विना
मनस्सु येन द्युसदां न्यधीयत ॥ ४३ ॥

[सर्वङ्कषा] समत्सरेणेति । समत्सरेण—अन्यशुभद्वेषसहितेन । 'मत्सरोऽन्यशुभद्वेषे'—इत्यमरः । अस्यतीत्यसुरः । असेरुरन् । असुर इति नाम्नः चिराय—चिरकालेन । 'चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः' इत्यमरः । प्रथमाभिधेयतामुपेयुषा—अन्वर्थतया मुख्यार्थतां गतेन । तरस्विना—बलवता । 'तरसी बलरंहसी' इति विश्वः । येन—हिरण्यकशिपुना । दिवि सीदन्तीति द्युसदां—देवानां, मनस्सु भयस्य पूर्वावतरः—प्रथमप्रवेशः । 'ऋदोरप्' । न्यधीयत—निहितः । धाञः कर्मणि लङ् । अस्मादेव देवानां प्रथमं भयस्योत्पत्तिरभूदित्यर्थः ॥ ४३ ॥

[अन्वयः] समत्सरेण असुर इति नाम्नः चिराय प्रथमाभिधेयतामुपेयुषा तरस्विना येन द्युसदाम् मनःसु भयस्य पूर्वावतरः न्यधीयत । (—सोऽसुरोऽभूत्) ।

[विग्रहः] मत्सरेण सहितः समत्सरस्तेन समत्सरेण । प्रथमम् अभिधेयं, प्रथमाभिधेयं, तस्य भावः प्रथमाभिधेयता, ताम्—प्रथमाभिधेयताम् । दिवि सीदन्तीति द्युसदः, तेषां द्युसदाम् ।

[अर्थः] समत्सरेण = अन्यशुभद्वेषिणा । असुर इतिनाम्नः = असुर इत्यभिधानस्य । चिराय = चिरेण । चिरकालेन । प्रथमाभिधेयताम् = अन्वर्थतया मुख्याभिधेयताम् । गतेन = प्राप्तेन । तरस्विना = बलवता । येन = हिरण्यकशिपुना । द्युसदां = देवानाम् । मनःसु = मानसेषु । भयस्य = भीतेः । पूर्वावतरः = प्रथमप्रवेशः । न्यधीयत = निहितः । कारितः । विहितः । (सदैत्योऽभूत्) ।

[भावार्थः] जगदुद्वेजकतया असुरपदस्य मुख्येनाभिधेयेन बलिना येनासुरेण देवानां मनस्सु भयस्य प्रथमः प्रवेशो विहितः स हिरण्यकशिपुर्बभूवेतिपूर्वेण सम्बन्धः ।

[कोशः] 'मत्सरोऽन्यशुभद्वेषे' इत्यमरः । 'चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः' इत्यमरः । 'तरसी बलरंहसी' इति विश्वः ।

[वाच्यप०] समत्सरः असुर इति नाम्नः प्रथमाभिधेयतामुपेयिवान् तरस्वी यः द्युसदां मनःसु भयस्य पूर्वावतरं न्यदधात् ।

[भाषाटीका] जगत् का द्रोह करनेवाला वह हिरण्यकशिपु अपने नाम के अनुसार सच्चा असुर हुआ। (असुर = फेंकनेवाला, पीड़ा देने वाला)। वह बड़ा बलिष्ठ भी था और इसीने देवताओं के मनमें पहिले पहल भय का सञ्चार किया ॥ ४३ ॥

दिशामधीशांश्चतुरो यतः सुरा-
नपास्य तं रागहृताः सिषेविरे ।
अवापुरारभ्य ततश्चला इति
प्रवादमुच्चैरयशस्करं श्रियः ॥४४॥

[सर्वङ्कषा] दिशामिति । श्रियः—सम्पदः । यतः । यदेत्यर्थः । दिशामधीशान्—दिक्पतीनपि चतुरः सुरान्—इन्द्रवरुणयमकुबेरान्, अपास्य—त्यक्त्वा, तं—हिरण्यकशिपुं, रागहृताः—रागकृष्टाः सत्यः । न तु बलादिति भावः । सिषेविरे । यतोवीर प्रियाः श्रिय इति भावः । तत आरभ्य तदाप्रभृति । अयशः करोतीति–अयशस्करम् । दुष्कीर्तिहेतुमित्यर्थः । 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु' इति टप्रत्ययः । 'अतः कृकमि—' इत्यादिना विसर्जनीयस्य सत्वम् । उच्चैः—प्रचुरं, चलाः—अस्थिरा इति प्रवादं—जनापवादमवापुः । दिगीशानामपि सर्वस्वहारित्वात्तदौद्धत्यस्य प्राकट्यमिति भावः ॥४४॥

[अन्वयः] श्रियः यतः दिशामधीशान् चतुरः सुरान् अपास्य तं रागहृताः (सत्यः) सिषेविरे ततः आरभ्य अयशस्करम् उच्चैः चला इति प्रवादमवापुः ।

[विग्रहः] रागेण हृताः रागहृताः । न यशः—अयशः, अयशः करोतीति अयशस्करः, तम्—अयशस्करम् ।

[अर्थः] श्रियः = राजलक्ष्म्यः । सम्पदः । यतः = यदा । दिशाम् = पूर्वादिदिशाम् । अधीशान् = अधिपतीन् । दिक्पालानपि । चतुरः सुरान् = चतुरो देवान् इन्द्रयमवरुणकुबेरान् । अपास्य = त्यक्त्वा । तान् विहाय । तं = हिरण्यकशिपुम् ।

रागहृताः = गुणानुरागाकृष्टाः सत्यः । सिषेविरे = भेजिरे । सेवितुमुपचक्रमुः । तत आरभ्य = ततः प्रभृति । तदा प्रभृति । अयशस्करम् = अकीर्त्तिकरम् । उच्चैः = महान्तम् । प्रकटम् । चला इति = लक्ष्म्यश्चञ्चला भवन्तीति । प्रवादं = लोकापवादम् । अवापुः = प्रापुः । हिरण्यकशिपुभजनात्प्रभृति 'चला लक्ष्म्य' इति प्रवादो लक्ष्मीनामिति यावत् ।

[भावार्थः] चतुर्णां दिशामधीशान् दिक्पालानिन्द्रादीनपि विहाय गुणलुब्धा राजलक्ष्म्यो यदा हिरण्यकशिपुं भेजुस्तदाप्रभृति 'चञ्चला भवन्ति लक्ष्म्यः' इति दुष्कीर्तिकरं लोकप्रवादं प्रापुः । सकलगुणनिधानं स हिरण्यकशिपुस्त्रैलोक्याधिपतिश्चासीदित्याशयः ।

[कोशः] 'दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] श्रीभिः यतः रागहृताभिः सिषेवे ततः चला इति अयशस्करः प्रवादः अवापे ।

[भाषाटीका] पूर्व आदि दिशाओं के मालिक इन्द्र यम वरुण कुबेर ऐसे देवताओं को छोड़कर भी सब [दिशाओं की] राजलक्ष्मी गुणों के लोभ से हिरण्यकशिपु के पास चली गईं तभी से 'लक्ष्मी चञ्चल है' यह अकीर्तिकर लोकप्रवाद उनके विषय में प्रसिद्ध हुआ ॥४४॥

> पुराणि दुर्गाणि, निशातमायुधं,
> बलानि शूराणि, घनाश्च कञ्चुकाः ।
> स्वरूपशोभैकफलानि नाकिनां
> गणैर्यमाशङ्क्य तदादि चक्रिरे ॥४५॥

[सर्वङ्कषा] पुराणीति । किञ्च—नाकिनां—सुराणां, गणैः यं—हिरण्यकशिपुमाशङ्क्य—बाधकत्वेनोत्प्रेक्ष्य, स कालः आदिर्यस्मिंस्तद्यथा तदादि यथा तत्—तदाप्रभृति । स्वरूपशोभैवैकं फलं मुख्यं प्रयोजनं येषां तेषां पुरादीनां तानि तथोक्तानि । प्रागीदृगसाध्यशत्रोरभावादिति भावः । 'नपुंसकमनपुंस-

क्त—' 'इत्यादिना नपुंसकशेषः। पुराणि दुर्गाणि—प्राकारपरिखादिना अगम्यानि चक्रिरे। 'सुदुरोरधिकरणे' इति गमेर्डः। आयुधं निशातं—निशितं, चक्रे इति विभक्तिविपरिणामेनान्वयः। 'शो तनूकरणे' इति धातोः क्तः। 'शाच्छोरन्यतरस्याम्' इतीत्त्वविकल्पात्पक्षे आत्वम्। बलानि—सैन्यानि। शूराणि—शौर्यवन्ति, चक्रिरे—सम्पादितानि। कञ्चुकाःवारबाणाः। लोहवर्माणीत्यर्थः। 'कञ्चुको वारबाणोऽस्त्री' इत्यमरः। घनाःदुर्भेदाश्चक्रिरे। इत्थं नित्यसन्नद्धा जाग्रति स्मेत्यर्थः ॥४५॥

[अन्वयः] नाकिनां गणैः यमाशङ्क्य तदादि स्वरूपशोभैकफलानि पुराणि—दुर्गाणि चक्रिरे, आयुधं—निशातम् चक्रे, बलानि—शूराणि चक्रिरे, कञ्चुकाः—घनाः चक्रिरे।

[विग्रहः] स आदिर्यस्मिंस्तत् तदादि तद्यथास्यात्तथा। स्वरूपस्य शोभा स्वरूपशोभा, स्वरूपशोभा एव एकं फलं येषां तानि स्वरूपशोभैकफलानि, तानि तथाभूतानि। नाकोऽस्त्येषान्ते नाकिनः, तेषां—नाकिनाम्।

[अर्थः] नाकिनां=स्वर्गिणाम्। देवानाम्। गणैः = सङ्घैः। यम् = य हिरण्यकशिपुम्। आशङ्क्य = शत्रुमाशङ्क्य। तत्कृतां बाधामाशङ्क्य। तदादि = ततः प्रभृति। स्वरूपशोभैकफलानि = शोभामात्रफलानि। पुराणि—नगराणि। दुर्गाणि=प्राकारपरिखाकण्टकादिनाऽगम्यानि। चक्रिरे = कृतानि। (किञ्च–) आयुधं = शस्त्रजातम्। निशातं = निशितं। तीक्ष्णम्। चक्रे [इति विभक्तिविपरिणामेनान्वयः]। (तथा—) बलानि = सैन्यानि। शूराणि = आयाससहानि, बलोपबृंहितानि च। चक्रिरे। कञ्चुकाः = वारबाणाः। कवचाः। घनाः = सुदृढाः। दुर्भेदाः। चक्रिरे = कृताः। सम्पादिताः। इत्थं तद्भयाद्देवा नित्यं सन्नद्धा जाग्रति स्मेत्यर्थः।

[भावार्थः] देवा यद्भयादहर्निशमतन्द्रिताः कृतसन्नाहाश्च सन्तो जाग्रति स्म। किञ्च–पूर्वं स्वरूपशोभैकफलानि पुराणि-सम्प्रति दुर्गाणि कृतानि, आयुधानि तीक्ष्णतां नीतानि, सैन्यानि

शूराणि आयाससहानि कृतानि, कवचाश्च सुदृढाःकृताः। एवञ्च ततो महद्भयं देवानामुत्पन्नमिति भावः।

[कोशः] 'कञ्चुको वारबाणोऽस्त्री' इत्यमरः।

[वाच्यप०] नाकिनां गणाः पुराणि दुर्गाणि......चक्रुः।

[भाषाटीका] देवताओं ने उस हिरण्यकशिपु के डर से अपने नगर आदि को दुर्ग—अगम्य बनाया, और शस्त्रों को शानपर चढ़ाया, पल्टनों को मजबूत किया, कवच आदि सेना के उपकरणों को सुदृढ़ किया। और उसके भय से देवताओं को रातदिन जागते ही बीतना था और उन्हें निद्रा भी नहीं आती थी ॥४५॥

स सञ्चरिष्णुर्भुवनान्तरेषु यां
यदृच्छयाऽशिश्रियदाश्रयः श्रियः।
अकारि तस्यै मुकुटोपलस्खल-
त्करैस्त्रिसन्ध्यं त्रिदशैर्दिशे नमः ॥४६॥

[सर्वङ्कषा] स इति। अन्येषु भुवनेषु भुवनान्तरेषु। 'सुप्सुपा' इति समासः। सञ्चरिष्णुः—सञ्चरणशीलः। 'अलङ्कृञ्—' इत्यादिना चरेरिष्णुच्। श्रियः—लक्ष्म्याः, आश्रयः सः—हिरण्यकशिपुः। यदृच्छया—स्वैरवृत्त्या। 'यदृच्छा स्वैरवृत्तिः' इत्यमरः। यां दिशमशिश्रियत्—अगमत्। श्रयतेर्लुङ्। 'णिश्रि—' इत्यादिना चङि द्विर्भावः। इयङादेशः। मुकुटोपलेषु—मौलिरत्नेषु—स्खलन्तः करा येषां तैः। शिरसि बद्धाञ्जलिभिरित्यर्थः। 'उपलः प्रस्तरे रत्ने' इति विश्वः। तिस्रो दशा बाल्यकौमारयौवनानि, जन्मसत्तावृद्धयो वा येषां तैस्त्रिदशैर्देवैः। यद्वा त्रिर्दश परिमाणमेषामिति, 'बहुव्रीहौ सङ्ख्येये डजबहुगणात्' इति समासान्तः। तिस्रः सन्ध्याः समाहृतास्त्रिसन्ध्यम्। 'तद्धितार्थोत्तरपद—' इत्यादिना समाहारे द्विगुः। 'द्विगुरेकवचनम् वा टाबन्त' इति पक्षे नपुंसकत्वम्। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। तस्यै दिशे करैर्हस्तैः। 'नमःस्वस्ती'त्यादिना चतुर्थी। नमः—नमस्कारोऽकारि—कृतः। न म: कर्मणि लुङ्।

'चिण्भावकर्मणोः' इति चिण्। सन्ध्यावन्दनेऽपि दिङ्नियमं परित्यज्य तदागमनभयात्तस्यै दिशे नमस्कारः कृत इति भावः ॥ ४६ ॥

[अन्वयः] भुवनान्तरेषु सञ्चरिष्णुः श्रिय आश्रयः स यदृच्छया यां दिशम् अशिश्रियत् मुकुटोपलस्खलत्करैः त्रिदशैः त्रिसन्ध्यं तस्यै दिशे नमः अकारि।

[विग्रहः] अन्यानि भुवनानि भुवनान्तराणि, तेषु भुवनान्तरेषु। मुकुटेषु उपलाः मुकुटोपलाः तेषु स्खलन्तः करा येषां ते मुकुटोपलस्खलत्कराः, तैः मुकुटोपलस्खलत्करैः। तिस्रः दशा येषां ते त्रिदशाः, तैः त्रिदशैः। तिसृणां सन्ध्यानां समाहारस्त्रिसन्ध्यं, तत्तथा।

[अर्थः] भुवनान्तरेषु=अन्येषु भुवनेषु। लोकान्तरेषु। सञ्चरिष्णुः=सञ्चरणशीलः। श्रियः=लक्ष्म्याः। सर्वसम्पदाम्। आश्रयः=निवासस्थानम्। विश्रामभूमिः। सः=हिरण्यकशिपुः। यदृच्छया=स्वैरवृत्त्या। स्वेच्छया। यां दिशम्=यां पूर्वादिककुभम्। अशिश्रियत=अगमत्। मुकुटोपलस्खलत्करैः=मौलिरत्नव्याप्रियमाणपाणिभिः। मौलिमणिसञ्चरत्करैः। शिरसि बद्धाञ्जलिभिरिति यावत्। त्रिदशैः=देवैः। त्रिसन्ध्यं=त्रिसृष्वपि सन्ध्यासु। तस्यै दिशे=तस्यै एव दिशायै। नमः=नमस्कारः। अकारि=कृतः।

[भावार्थः] भुवनान्तरेषु सञ्चरणशीलो हिरण्यकशिपुर्यदृच्छावशाद्यां दिशमगमत्सन्ध्यावन्दनेऽपि दिङ्नियमं विहाय तदागमनभयाद्देवैस्तस्यै दिशे एव नमनमकारि।

[कोशः] 'यदृच्छा स्वैरवृत्तिः' इत्यमरः। 'उपलः प्रस्तरे रत्ने' इति विश्वः। 'त्रिदशा विबुधाः सुराः' इत्यमरः।

[वाच्यप०] भुवनान्तरेषु सञ्चरिष्णुना श्रियः आश्रयेण तेन यदृच्छया या दिक् अश्रायि मुकुटोपलस्खलत्कराः त्रिदशास्तस्यै दिशे त्रिसन्ध्यं नमोऽकार्षुः।

[भाषाटीका] वह हिरण्यकशिपु घूमता-फिरता जिस दिशा में जाता था, देवतालोग भी सन्ध्या—पूजा के समय (जिस ओर वह जाता था)–उधर मुख करके ही सन्ध्या वन्दन करते थे । [अर्थात् उसके आने के भय से उसी ओर मुख करके डरके मारे काँपते हुए हाथों से नमस्कार करते थे इतना उससे देवता डरते थे ।] ॥ ४६ ॥

अथ सोऽपि त्वयैव हत इत्याह—

सटाच्छटाभिन्नघनेन बिभ्रता
नृसिंह ! सैंहीमतनुं तनुं त्वया ।
स मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरै-
रुरोविदारं प्रतिचस्करे नखैः ॥ ४७ ॥

[सर्वङ्कषा] **सटाच्छटेति** । हे **नृसिंह** । ना सिंहइवेत्युपमितसमासः । ना चासौ सिंहश्चेति प्रस्तावात् । सिंहस्येमां **सैंहीं तनुं**—कायं, **बिभ्रता**—नृसिंहावतारभाजेत्यर्थः । किम्भूताम् ? । **अतनुं**—विस्तीर्णाम् । अत एव **सटाच्छटाभिः**—केसरसमूहैः **भिन्ना घना**—मेघा येन । अभ्रङ्कष-विग्रहत्वादिति भावः । 'सटा जटाकेसरयोः' इति, 'तनुः काये कृशेऽल्पे च' इति विश्वः । **त्वया स**—दैत्यः । **मुग्धौ**—नवौ । 'मुग्धः सौम्ये नवे मूढे' इति वैजयन्ती । यौ **कान्तास्तनौ** तयोः **सङ्गे**नापि **भङ्गुरैः**—कुटिलै**र्नखै**रु**रोविदारम्**—उरो विदार्य । 'परिक्लिश्यमाने च' इति णमुल्-प्रत्ययः । **प्रतिचस्करे**—हतः । किरतेः कर्मणि लिट् । 'ऋच्छत्यताम्' इति गुणः । 'हिंसायां प्रतेश्च' इति सुडागमः । वज्रकठिनोऽपि नखैर्विदारित इति वाङ्मनसयोरगोचरमहिम्नस्ते किमसाध्यमिति भावः ॥ ४७ ॥

[अन्वयः] नृसिंह ! अतनुं सैंहीं तनुं बिभ्रता सटाच्छटाभिन्नघनेन त्वया स मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैः नखैः उरोविदारं प्रतिचस्करे ।

[विग्रहः] ना सिंह इव नृसिंहः, तत्सम्बुद्धौ हे नृसिंह । [पक्षे–ना

१ मुग्धा चासौ कान्ता चेति समासं तु गौडा अभिप्रयन्ति ।

चासौ सिंहश्च नृसिंहः, तत्सम्बुद्धौ हे नृसिंह]। न तनुः अतनुः, ताम् अतनुम् । सिंहस्य इयम् सैंही, तां सैंहीम् । सटानां छटाः सटाच्छटाः, सटाच्छटाभिः भिन्ना घना येनासौ सटाच्छटाभिन्नघनः, तेन सटाच्छटाभिन्नघनेन । कान्ताया स्तनौ कान्तास्तनौ, मुग्धौ च तौ कान्तास्तनौ च मुग्धकान्तास्तनौ, मुग्धकान्तास्तनयोः सङ्गः, तेन भङ्गुराः—मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुराः । तैः–मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैः । उरो विदार्येति उरोविदारम् ।

[अर्थः] नृसिंह = हे पुरुषोत्तम । हे नरसिंहावतारधारिन्निति च । अतनुं=विस्तीर्णाम् । अतिमहतीम् । सैंहीं= सिंहाकाराम् । तनुं=शरीरम् । बिभ्रता=दधता । नृसिंहावतारभाजा । सटाच्छटाभिन्नघनेन=केसरसमूहोत्क्षिप्तमेघजालेन । केसरभारविदारितबलाहकमण्डलेन । अभ्रङ्कषवपुषा । त्वया=भवता । सः=हिरण्यकशिपुर्नाम दैत्यः । मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैः = अभिनववधूकुचकुड्मलसम्पर्कभज्यमानैः । मुग्धाङ्गनास्तनकलससंस्पर्शकुटिलाग्रैः । मृदुभिरपि । नखैः= नखरैः । करजैः । उरोविदारम्=उरो विदार्य । प्रतिचस्करे=हतः । विपोथितः । विदारितः ।

[भावार्थः] हे पुरुषोत्तम ! नृसिंहं रूपं धारयता भवता स दैत्यो नखैरुरो विदार्य हतः। ननु वज्रदेहोऽप्ययं केवलं नखैरेव हत इति वाङ्मनसयोरगोचरस्ते महिमातिशयः । किमसाध्यं भगवतस्तवेत्याशयः ।

[कोशः] 'जटा जटाकेसरयोः' इति विश्वः । 'तनुः काये कृशेऽल्पे चे' ति विश्वः । 'मुग्धः सौम्ये नवे मूढे ' इति वैजयन्ती ।

[वाच्यप०] नृसिंह सैंहीं तनुं बिभ्रत्सटाच्छटाभिन्नघनः त्वं तम् उरोविदारं नखैः प्रतिचस्कर्थ ।

[भाषाटीका] वज्रके समान कठिन शरीरवाले उस हिरण्यकशिपु को आपने नृसिंहावतार धारण करके कोमल नखों से (पेट फाड़कर) मार डाला । अतः आपकी महिमा कैसे वर्णन की सकती है ?॥ ४७ ॥

अथास्य जन्मान्तरचेष्टितान्याचष्टे—

विनोदमिच्छन्नथ दर्पजन्मनो
रणेन कण्ड्वास्त्रिदशैः समं पुनः ।
स रावणो नाम निकामभीषणं
बभूव रक्षः क्षतरक्षणं दिवः ॥ ४८ ॥

[सर्वङ्कषा] विनोदमिति । अथ स—हिरण्यकशिपुः । पुनः —भूयोऽपि, त्रिदशैः सम—सह । 'साकं सार्धं समं सह' इत्यमरः । रणेन—दर्पादन्तःसाराज्जन्म यस्यास्तस्याः कण्ड्वाः—भुजकण्डूतेर्विनोदमपनोदमिच्छन् । प्राग्भवनखक्षतैस्तदपनोदाभावादित्यार्थः । दिवः—स्वर्गस्य, क्षतं नष्टं रक्षणं रक्षा येन तत् । क्षतद्युरक्षणमित्यर्थः । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः । अनेन देवसर्वस्वापहारित्वमुक्तम् । भीषयते इति भीषणः । नन्द्यादित्वाल्ल्युः । 'भियो हेतुभये षुक्' इति षुक् । निकामं भीषणः । 'सुप्सुपा' इति समासः । रावणो नाम—रावण इति प्रसिद्धं, रक्षो बभूव । राक्षसयोनौ जात इत्यर्थः । विश्रवसोऽपत्यं पुमान्रावण इति विग्रहः । 'तस्यापत्यम्' इत्यणि कृते 'विश्रवसो विश्रवणरवणौ' इति प्रकृते रवणादेशः । पौराणिकास्तु रावयतीति व्युत्पादयन्ति । तदुक्तमुत्तरकाण्डे—'यस्माल्लोकत्रयं चैतद्रावितं भयमागतम् । तस्मात्त्वं रावणो नाम नाम्ना वीरो भविष्यसि ॥' इति । रौतेर्ण्यन्तात्कर्तरि ल्युट् । रावणरक्षसोर्नियतलिङ्गत्वाद्विशेषणविशेष्यभावेऽपि स्वलिङ्गता ॥ ४८ ॥

[अन्वयः] अथ स पुनः त्रिदशैः समं रणेन दर्पजन्मनः कण्ड्वाः विनोदमिच्छन् दिवः क्षतरक्षणं निकामभीषणं रावणो नाम रक्षो बभूव ।

[विग्रहः] दर्पाज्जन्म यस्याः सा—दर्पजन्मा, तस्याः दर्पजन्मनः । भीषयतीति भीषणं, निकामम् भीषणं—निकामभीषणम् । क्षतं रक्षणं येन तत्—क्षतरक्षणम् । विश्रवसोऽपत्यं पुमान्—रावणः ।

[अर्थः] अथ—स्ववधानन्तरम् । सः = हिरण्यकशिपुः ।

पुनः = पुनरपि । भूयोऽपि । त्रिदशैः समं = देवैः सह । रणेन = युद्धेन । दर्पजन्मनः = अवलेपोद्भवायाः । दर्पोद्भूतायाः । कण्ड्वाः = भुजकण्डूतेः । विनोदम् = अपनोदं । विगमनम् । इच्छन् = अभिलषन् । दिवः = स्वर्गस्य । क्षतरक्षणं = विनाशितरक्षणम् । हतस्वर्गरक्षणम् । वित्रासितद्युलोकम् । निकामभीषणं = नितरां भीषणम् । जगद्वित्रासनः । अतएव—रावणो नाम = रावणनाम्ना प्रसिद्धः । रक्षः = राक्षसः । बभूव = जातः । उदपद्यत । जज्ञे ।

[भावार्थः] स हिरण्यकशिपुः पुनर्देवैर्योद्धुमिच्छन् पुना राक्षसयोनौ रावणनाम्ना जातः । त्रैलोक्यञ्च तेन वित्रासितम् । देवाश्च वशीकृताः । तदेवं स जगतां निकामं भीषणो बभूव ।

[कोशः] 'दर्पोऽवलेपोऽवष्टम्भः' इत्यमरः । 'नैर्ऋतो यातुरक्षसी' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] तेन पुनर्दर्पजन्मनः कण्डूतेः—रणे विनोदमिच्छता निकामभीषणेन दिवः क्षतरक्षणेन रावण इति नाम्ना रक्षसा बभूवे ।

[भाषाटीका]पुनः वह हिरण्यकशिपु–फिर भी देवताओं से लड़कर अपनी भुजाओं की कण्डू (खाज) को मिटाने के लिए रावण नामसे राक्षसयोनि में उत्पन्न हुआ । और उस ने स्वर्ग की शान्ति और व्यवस्था को भी तहस-नहस करदिया । तथा त्रैलोक्य को पीड़ा देना ही उसका प्रधान कार्य था ॥४८॥

अथास्यौद्धत्यमष्टादशश्लोक्याचष्टे—

प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य यः
शिरोऽतिरागाद्दशमं चिकर्तिषुः ।
अतर्कयद्विघ्नमिवेष्टसाहसः
प्रसादमिच्छासदृशं पिनाकिनः ॥ ४९ ॥

[सर्वङ्कषा] प्रभुरिति । यो रावणः भुवनत्रयस्य प्रभुः—स्वामी बुभूषुः—भवितुमिच्छुः । भुवः सन्नन्तादुप्रत्ययः । अतिरागात्—

उत्साहात्, न तु फलविलम्बेन निर्वेदादिति भावः । दशमं शिरः चिकर्तिषुः—कर्त्तितुं छेत्तुमिच्छुः । 'कृती छेदने' इति धातोः सन्नन्तादुप्रत्ययः । इष्टसाहसः—प्रियसाहसः। अत एवेच्छासदृशम्—इच्छानुरूपं,पिनाकिनः प्रसादं—वरं विघ्नमिवाऽतर्कयदुत्प्रेक्षितवानिति परमसाहसिकत्वोक्तिः। इत आरभ्य श्लोकषट्केऽपि यच्छब्दस्य'स रावणो नाम रक्षो बभूवे'ति पूर्वेणान्वयः।

रङ्गराजस्तु—'न चक्रमस्याक्रमताधिकन्धरम्' इति उपरिष्टादन्वय इत्याह । तदसत् । 'गुणानां च परार्थत्वात्' इति न्यायादारुण्यादिवत्प्रत्येकं प्रधानान्वयिनां मिथः सम्बन्धायोगादित्यलं शाखाचङ्क्रमणेन । पुरा किल रावणः काम्ये कर्मणि पशुपतिप्रीणनाय नव शिरांस्यग्नौ हुत्वा दशमारम्भे सन्तुष्टात्तस्यत्रैलोक्याधिपत्यं वव्रे इति पौराणिकी कथाऽत्रानुसन्धेया ॥४९॥

[अन्वयः] यः भुवनत्रयस्य प्रभुः बुभूषुः अतिरागाद्दशमं शिरः चिकर्तिषुः इष्टसाहसः इच्छासदृशं पिनाकिनः प्रसादं विघ्नम् इव अतर्कयत् ।

[विग्रहः] भुवनानां त्रयं भुवनत्रयं, तस्य—भुवनत्रयस्य । इष्टं साहसं यस्याऽसौ इष्टसाहसः । इच्छया सदृशः इच्छासदृशः, तम्—इच्छासदृशम् । पिनाकोऽस्यास्तीति पिनाकी, तस्य पिनाकिनः ।

[अर्थः] यः = रावणः । भुवनत्रयस्य = त्रैलोक्यस्य । प्रभुः = ईश्वरः । स्वामी । बुभूषुः = भवितुमिच्छुः । अतिरागात् = महोत्साहात् । उत्कटात्संरम्भात् । दशमं शिरः = स्वं दशमं मूर्धानम् । चिकर्त्तिषुः = छेत्तुमिच्छुः । इष्टसाहसः = साहसप्रियः । अतिसाहसी । इच्छानुरूप = स्वेच्छानुकूलम् । स्वेच्छासदृशम् । पिनाकिनः = शूलपाणेर्वृषभध्वजस्य शिवस्य । प्रसादं = वरम् । विघ्नमिव = शिरश्छेदनकर्मान्तरायमिव । अतर्कयत् = उत्प्रेक्षितवान् ।

[भावार्थः] यो रावणस्त्रैलोक्याधिपत्यकामनया शिवमाराधयन् स्वशिरांसि छित्त्वाऽग्नौ जुह्वन् नवमशिरश्छेदनानन्तरं दशमं शिरश्छिन्दन् प्रसन्नेन शिवेन वरप्रदानेन तोषि-

तोऽपि शिववरप्रदानं स्वशिरःकर्त्तने विघ्नमेव गणयति स्मेत्यहो महासाहसिकता रावणस्य !।

[कोशः] 'प्रभुः परिवृढोऽधिपः' इत्यमरः । 'विघ्नोऽन्तरायः प्रत्यूहः' इत्यमरः । 'पिनाकी प्रमथाधिपः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] भुवनत्रयस्य प्रभुणा बुभूषुणा अतिरागाद्दशमं शिरः चिकर्तिषुणा इष्टसाहसेन येन इच्छासदृशः पिनाकिनः प्रसादो विघ्न इवाऽतर्क्यत ।

[भाषाटीका] त्रैलोक्य के राज्य की कामना से जब रावण शिवजी की आराधना कर रहा था उस समय उसने अपने नौ शिर तो काटकर अग्नि में हवन कर दिए । पर जब दशवाँ शिर काटकर हवन करने लगा तब भगवान् शङ्कर प्रसन्न हो रावण को वर देने लगे । तब रावण ने १० वाँ शिर न काट सकने के कारण शिवजी के (त्रिलोकी पति होने के) वरदान को भी अपने कार्य में विघ्न ही समझा । इतना बड़ा साहसी वह रावण था ! ॥ ४९ ॥

अथ कैलासोत्क्षेपणवृत्तान्तमाह—

समुत्क्षिपन्यः पृथिवीभृतां वरं
वरप्रदानस्य चकार शूलिनः ।
त्रसत्तुषाराद्रिसुताससम्भ्रम-
स्वयङ्ग्रहाश्लेषसुखेन निष्क्रयम् ॥ ५० ॥

[सर्वङ्कषा] समुत्क्षिपन्निति । यो—रावणः, पृथिवीभृतां—पर्वतानां, वरं—श्रेष्ठं कैलासं । समुत्क्षिपन् । दर्पादिति शेषः । शूलिनो वरप्रदानस्य—पूर्वोक्तस्य । त्रसन्त्याः शैलचलनेन बिभ्यत्यास्तुषाराद्रिसुतायाः—पार्वत्याः, ससंभ्रमो यः स्वयङ्ग्रहः—प्रियप्रार्थनां विना कण्ठग्रहणम् । 'सुप्सुपा—' इति समासः । तेन आश्लेषः—सम्मेलनं तेन यत्सुखं तेन । त्रैलोक्याधिपत्यसुखादुत्कृष्टेनेति भावः । निष्क्रयं—प्रत्युपकारनिर्गतिं—चकार । 'निष्क्रयो बुद्धियोगे स्यात्सामर्थ्ये निर्गतावपि' इति वैजयन्ती । यद्वा—निष्क्रयं चकार-क्रयेण व्यवहारेण याच्ञादोषदैन्यं ममार्जेत्यर्थः । अत्र सुखवरदानयोर्विनिमयात्परिवृत्तिरलङ्कारः ॥ ५० ॥

[अन्वयः] यः पृथिवीभृतां वरं समुत्क्षिपन् शूलिनो वरप्रदानस्य त्रसत्तुषाराद्रिसुताससम्भ्रमस्वयङ्ग्रहाश्लेषसुखेन निष्क्रयं चक्रे [—स रावणो नाम निकामभीषणं रक्षो बभूव] ।

[विग्रहः] त्रसन्ती चासौ तुषाराद्रिसुता च त्रसत्तुषाराद्रिसुता, सम्भ्रमेण सहितः ससम्भ्रमः । ससम्भ्रमश्चासौ स्वयङ्ग्रहश्च ससम्भ्रमस्वयङ्ग्रहः । त्रसत्तुषाराद्रिसुतायाः ससम्भ्रमस्वयङ्ग्रहः—त्रसत्तुषाराद्रिसुताससम्भ्रमस्वयङ्ग्रहः । तेनाश्लेषः—त्रसत्तुषाराद्रिसुताससम्भ्रमस्वयङ्ग्रहाश्लेषः, तेन सुखम्—त्रसत्तुषाराद्रिसुताससम्भ्रमस्वयङ्ग्रहाश्लेषसुखम् । तेन—त्रसत्तुषाराद्रिसुताससम्भ्रमस्वयङ्ग्रहाश्लेषसुखेन ।

[अर्थः] यः = यो रावणः । पृथिवीभृतां – धरणीधराणां । पर्वतानां । वरं = श्रेष्ठं मुख्यञ्च कैलासम् । समुत्क्षिपन् = दर्पादुत्तोलयन् । शूलिनः = शूलपाणेः शिवस्य । वरप्रदानस्य = त्रैलोक्याधिपत्यादिवरप्रदानस्य । त्रसत्तुषाराद्रिसुतासम्भ्रमस्वयङ्ग्रहाश्लेषसुखेन = बिभ्यत्तुहिनगिरिसुतासम्भ्रमाऽप्रार्थितकण्ठसम्मेलनसुखेन । उद्विजमानपार्वतीसत्वरसभयस्वयंकण्ठग्रहणाश्लेषसुखेन । निष्क्रयं = प्रत्युपकारमिव । चकार = कृतवान् । 'स रावणो नाम रक्षो बभूवे'ति पूर्वेणान्वयः ।

[भावार्थः] यो रावणः कैलासाचलोत्थापनेन सभयपार्वतीस्वयङ्ग्रहाश्लेषानन्दं शिवाय प्रदाय शिववरप्रदानस्य निष्कृतिं चकार (—स रावणो नाम निकामभीषणं रक्षो बभूव) ।

[कोशः] 'देवाद्वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबं मनाक्प्रिये' इत्यमरः । 'शिवः शूली महेश्वरः' इत्यमरः । 'तुषारस्तुहिनं हिमम्' इत्यमरः । 'अद्रिगोत्रगिरिग्रावाऽचलशैलशिलोच्चयाः' इत्यमरः । 'निष्क्रयो बुद्धियोगे स्यात्सामर्थ्ये निर्गतावपि' इति वैजयन्ती ।

[वाच्यप०] येन पृथिवीभृतां वरं......समुत्क्षिपता शूलिनः निष्क्रयः चक्रे ।

[भाषाटीका] रावण ने जब शिवजी के कैलासपर्वत को उखाड़ा था उस समय उस पर्वत के हिलने से घबड़ाकर पार्वती जी ने शिवजी के गले में स्वयं बाँह डाली थी । इस प्रकार शिवजी को प्रिया के स्वयङ्ग्रहालिङ्गन के सुख को देकर मानों रावण ने (अपने को) दिए हुए वरदान का बदला चुका दिया ॥५०॥

पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनं
मुषाण रत्नानि हराऽमराङ्गनाः ।
विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषा बली
य इत्थमस्वास्थ्यमहर्दिवं दिवः ॥५१॥

[सर्वङ्कषा] पुरीमिति । यो बली—बलवान्रावणो, नमुचिद्विषा–इन्द्रेण विगृह्य—विरुध्य, पुरीम्—अमरावतीम् । अवस्कन्द–अवरुरोध । नन्दनम्—इन्द्रवनम् । 'नन्दनं वनम्' इत्यमरः । लुनीहि–चिच्छेद । 'ईहल्यघोः' इतीकारः । रत्नानि–श्रेष्ठवस्तूनि, मणीन्वा । 'रत्नं श्रेष्ठे मणावपि' इति विश्वः । मुषाण–मुमोष । 'मुष स्तेये' । 'हलः श्नः शानज्झौ' इति श्नः शानजादेशः । अमराङ्गनाः–हर–जहार । सर्वत्र पौनःपुन्येनेत्यर्थः । इत्थम्–अनेन प्रकारेण । अहनि च दिवा च—अहर्दिवम् । अहन्यहनीत्यर्थः । 'अचतुर–' इत्यादिना सप्तम्यर्थवृत्तौ द्वन्द्वे समासान्तो निपातः । दिवः–स्वर्गस्य, अस्वास्थ्यमुपद्रवं चक्रे । अत्रावस्कन्देत्यादौ 'क्रियासमभिहारे लोट्, लोटो हिस्वौ, वा च तध्वमोः' इत्यनुवृत्तौ 'समुच्चयेऽन्यतरस्याम्' इति विकल्पेन कालसामान्ये लोट् । तस्य यथोपग्रहं सर्वतिङादेशो हिस्वौ च । प्रकरणादिना त्वर्थविशेषावसानम् । 'अतो हेः' इति यथायोग्यं हिलुक् । पौनःपुन्यं भृशार्थो वा क्रियासमभिहारः । अवस्कन्दनादिक्रियाविशेषाणां समुच्चयः क्रियासमभिहारः । तत्सामान्यस्य करोतेः । 'समुच्चये सामान्यवचनस्य' इत्यनुप्रयोगे 'चक्रे' इति । अत्र तिङ्वैचित्र्यात्सौशब्दाख्यो गुणः । 'सुपां तिङां परावृत्तिः सौशब्दम्' इति लक्षणात् । समुच्चयश्चालङ्कारः ॥ ५१ ॥

[अन्वयः] यो बली नमुचिद्विषा विगृह्य पुरीम् अवस्कन्द,

नन्दनं लुनीहि, रत्नानि मुषाण, अमराङ्गनाः हर। इत्थं अहर्दिवं दिवः अस्वास्थ्यं चक्रे।

[विग्रहः] न मुञ्चतीति नमुचिः। नमुचिं द्वेष्टीति नमुचिद्विट्, तेन नमुचिद्विषा। अहनि च दिवा च अहर्दिवम्। बलमस्यास्तीति—बली। असराणामङ्गनाः—अमराङ्गनाः, तास्तथाभूताः।

[अर्थः] यो बली=बलवान् रावणः। नमुचिद्विषा=इन्द्रेण। विगृह्य=विरुद्ध्य। पुरीम्=अमरावतीम्। अवस्कन्द=पुनःपुनरवरुरोध। नन्दनम् = इन्द्रकानाम्। लुनीहि=पुनःपुनश्चिच्छेद। रत्नानि=श्रेष्ठवस्तूनि, मणीन् वा। मुषाण=पुनःपुनर्मुमोष। जहार। अमराङ्गनाः=देवाङ्गनाः। देवस्त्रियः। अप्सरसो वा। हर=पुनःपुनर्जहार। इत्थम्=अनेन प्रकारेण। अहर्दिवम्=अहन्यहनि। प्रतिदिनम्। दिवः=स्वर्गस्य। अस्वास्थ्यम्=उपद्रवम्। चक्रे=चकार। (—स रावणो नाम निकाम-भीषणं रक्षो बभूवेति पूर्वेणान्वयः)।

[भावार्थः] रावणेन अमरावती पौनःपुन्येनावरुद्धा। नन्दनं च पौनःपुन्येन च्छिन्नम्। रत्नानि तथैव चोरतानि। अमराङ्गनाश्च हृताः। इत्थ स्वर्गस्य तेनाऽस्वास्थ्यं कृतम्।

[कोशः] 'नन्दनं वनम्' इत्यमरः। 'रत्नं श्रेष्ठे मणावपि' इति विश्वः। 'जम्भभेदी हरिहयः स्वाराण्नमुचिसूदनः' इत्यमरः।

[वाच्यप०] बलिना येन नमुचिद्विषा विगृह्य पुरी अवस्कन्द्यस्व, नन्दनं लूयस्व, रत्नानि मुष्यस्व, अमराङ्गनाः ह्रियस्व। इत्थं अहर्दिवं दिवः अस्वास्थ्यं चक्रे।

[भाषटीका] रावण ने इन्द्रपुरी पर वारंवार चढ़ाई की और देवताओं के नन्दनवन को विध्वंस किया, स्वर्ग के रत्नों को—अच्छी २ वस्तुओं को—चुरा लिया। देवताओं की स्त्रियों को भी जबरदस्ती छीन ले गया। इस प्रकार स्वर्ग में उस रावण ने गड़बड़-अव्यवस्था अशान्ति—मचादी। इस तरह रात दिन वह स्वर्ग में उपद्रव मचाए रहता था॥ ५१॥

सलील-यातानि न भर्तुरभ्रमो-
र्न चित्रमुच्चैःश्रवसः पदक्रमम् ।
अनुद्रुतः संयति येन केवलं
बलस्य शत्रुः प्रशशंस शीघ्रताम् ॥५२॥

[सर्वङ्कषा] सलीलेति । संयति—युद्धे । 'समुदायः स्त्रियां संयत्स-मित्याजिसमिद्युधः' इत्यमरः । येन—रावणेन, अनुद्रुतोऽनुधावितः, बलस्य शत्रुः—इन्द्रः । अभ्रमोर्भर्तुः—ऐरावतस्य, सलीलयातानि—सभङ्गीकगमनानि, न प्रशशंस । तथा उच्चैःश्रवसः—स्वाश्वस्य । चित्रं—नानाविधं, पदक्रमं—पादविक्षेपम् । अर्धपुलायितादिगति-विशेषमित्यर्थः । न प्रशशंस । किन्तु केवलं शीघ्रतां—शीघ्रगामित्वमेव । प्रशशंस । अन्यथा शीघ्रं मामास्कन्द्य ग्रहीष्यतीति भयादिति भावः ॥५२॥

[अन्वयः] संयति येन अनुद्रुतः बलस्य शत्रुः—अभ्रमोर्भर्तुः सलीलयातानि न प्रशशंस । उच्चैःश्रवसः चित्रं पदक्रमम् न (प्रशशंस) । किन्तु केवलं शीघ्रतामेव—(प्रशशंस) ।

[विग्रहः] लीलया सहितम् सलीलम् । सलीलम् यातानि सलील-यातानि तानि । पदयोः क्रमः पदक्रमः, तम् पदक्रमम् ।

[अर्थः] संयति=युद्धे । येन=रावणेन । अनुद्रुतः=अनुधावितः । बलस्य=बलाख्यस्यासुरस्य । शत्रुः=रिपुः । इन्द्रः । अभ्रमोः=पूर्वदिक्करिण्याः । भर्तुः=स्वामिनः । स्वगजस्य ऐरावतस्य । सलीलयातानि=सविलासगमनानि । सभङ्गीकान् पद-विन्यासान् । न प्रशशंस=न साधुवादेन तुष्टाव । किञ्च—उच्चैःश्रवसः=स्वकीयस्याश्वस्य । चित्रं=नानाविधम् । उच्चावचं सलीलञ्च । पदक्रमं=पदन्यासम् । पादविक्षेपम् । न प्रशशंस=न तुष्टाव । (किन्तु—) केवलम्—एकाम । शीघ्रतां=शैघ्र्यमेव । शीघ्रगतिमेव केवलम्, प्रशशंस=तुष्टाव ।

[भावार्थः] इन्द्रस्तद्भयादितस्ततः पलायमानो दुर्दशामनुबभूव ।

[कोशः] समुदायः स्त्रियां संयत्समित्याजिसमिद्युधः । 'ऐरावतोऽभ्रमातङ्गैरावणाऽभ्रमुवल्लभाः' इत्यमरः । 'हय उच्चैःश्रवाः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] संयति येन अनुद्रुतेन बलस्य शत्रुणा अभ्रमोः भर्तुः सलीलयातानि न प्रशशंसिरे । उच्चैःश्रवसः चित्रः पदक्रमः न प्रशशंसे । केवलं तस्य शीघ्रता एव प्रशशंसे ।

[भाषाटीका] युद्ध में रावण से हारकर जब इन्द्र भागने लगे और रावण उसका पीछा करने लगा उस समय—इन्द्र ने अपने हाथी ऐरावत की तथा उच्चैःश्रवा घोड़ेकी उत्तमोत्तम गतियों की (चालों की) प्रशंसा न करके केवल उनकी तेज चाल की ही प्रशंसा की ।

अर्थात् ऐरावत आदि ने अपनी तेज चाल के कारण ही युद्ध में इन्द्र भगवान् के प्राण बचाए ॥ ५२ ॥

अशक्नुवन् सोढुमधीरलोचनः
सहस्ररश्मेरिव यस्य दर्शनम् ।
प्रविश्य हेमाद्रिगुहागृहान्तरं
निनाय बिभ्यद्दिवसानि कौशिकः ॥५३॥

[सर्वङ्कषा] अशक्नुवन्निति । अधीरलोचनः—अस्थिरदृष्टिः । कौशिकः—महेन्द्रः, उलूकश्च । 'महेन्द्रगुग्गुलूलूकव्यालग्राहिषु कौशिकः' इत्यमरः । सहस्ररश्मेः—सूर्यस्येव, यस्य—रावणस्य विक्रमकर्मणः, दर्शनं सोढुमशक्नुवन् । हेमाद्रेर्गुहैव गृहं, तस्यान्तरं प्रविश्य बिभ्यत् तत्रापि वेपमान एव । बिभेतेः शतरि 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमभावः । दिवसानि—वासराणि । निनाय । 'वा तु क्लीबे दिवसवासरौ' इत्यमरः । यथा पेचकः सूर्योदये भीतः सन्तिष्ठति तथा सोऽपीति भावः । कौशिक इत्यभिधायाः प्रस्तुतैकगोचरत्वेनोभयश्लेषेऽपि विशेष्यश्लेषासम्भवादुलूकविषयशब्दशक्तिमूलो ध्वनिः-सहस्ररश्मेरिवेत्युपमाननिर्वाहकत्वाद्वाच्यसिद्ध्यङ्गम्॥५३

[अन्वयः] अधीरलोचनः कौशिकः सहस्ररश्मेरिव यस्य दर्शनं सोढुम् अशक्नुवन् हेमाद्रिगुहागृहान्तरम्प्रविश्य बिभ्यत् दिवसानि निनाय ।

[विग्रहः] अधीरे लोचने यस्याऽसौ अधीरलोचनः । सहस्रं रश्मयो यस्याऽसौ सहस्ररश्मिः, तस्य सहस्ररश्मेः । हेम्नः अद्रिः हेमाद्रिः, हेमाद्रेः गुहा हेमाद्रिगुहा, हेमाद्रिगुहैव गृहम् हेमाद्रिगुहागृहम् । तस्य अन्तरम् हेमाद्रिगुहागृहान्तरम्, तत्तथाभूतम् ।

[अर्थः] अधीरलोचनः = अस्थिरदृष्टिः । चञ्चलकातर नेत्रः । भयतरलितदृष्टिः । अशक्तनेत्रश्च । कौशिकः = महेन्द्रः । इन्द्रः उलूकश्च । सहस्ररश्मेरिव = सूर्यस्येव । यस्य = रावणस्य । दर्शनं = प्रेक्षणं । विलोकनम् । सोढुं = मर्षयितुम् । अशक्नुवन् = अपारयन् । असमर्थः सन् । हेमाद्रिगुहागृहान्तरं = सुमेरुगह्वरकुटीकोणं । सुवर्णगिरिगुहानिकेतनमध्यं । काञ्चनाद्रिगुहान्तरालं । प्रविश्य = सम्प्रविश्य । अध्यास्य । तत्र स्थित्वा । (तत्रापि—) बिभ्यत् = त्रसन्सन् । भीतः सन् । दिवसानि = दिनानि । निनाय = नयति स्म । अतिवाहयामास । यापयति स्म ।

[भावार्थः] यथा दिवसे उलूकः सूर्यदर्शनाद्भीतो गिरिगुहासु दिवसानि नयत्येवं रावणाद्भीतो महेन्द्रो हेमाद्रिगुहान्तरं प्रविश्य दिनानि कथञ्चिन्निनाय ।

[कोशः] 'महेन्द्रगुग्गुलूलूकव्यालग्राहिषु कौशिकः' इत्यमरः । 'मेरुः सुमेरुर्हेमाद्रिः' इत्यमरः । 'वा तु क्लीबे दिवसवासरौ' इत्यमरः । 'देवखातबिले गुहा' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] अधीरलोचनेन कौशिकेन सहस्ररश्मेरिव यस्य दर्शनं सोढुम् अशक्नुवता कौशिकेन हेमाद्रिगुहागृहान्तरम्प्रविश्य बिभ्यता दिवसा निन्यिरे।

[भाषाटीका] जैसे सूर्य के भय से दिन में उल्लू पहाड़ की कन्दराओं में छिपकर दिन बिताता है वैसे ही बेचारा इन्द्र भी रावण के भय से सुमेरु

पर्वत की गुफाओं में रहकर किसी तरह दिन बिताता था ॥ ५३ ॥

बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टना-
द्विकीर्णलोलाग्निकणं सुरद्विषः ।
जगत्प्रभोरप्रसहिष्णु वैष्णवं
न चक्रमस्याक्रमताधिकन्धरम् ॥ ५४ ॥

[सर्वङ्कषा] बृहच्छिलेति । बृहति शिलेव निष्ठुरे कण्ठे घट्टनात् अभिघातात्–विकीर्णा विक्षिप्ताः लोलाश्चाग्निकणाः स्फुलिङ्गा यस्य तत् । अत एव अप्रसहिष्णु–अनभिभावकम् । प्रसहनमभिभव इति वृत्तिकारः । 'अलङ्कृञ्' इत्यादिना इष्णुच् । वैष्णवं चक्रं-सुदर्शनं जगत्प्रभोःसकललोकैकस्वामिनः । अस्य सुरद्विषो–रावणस्य । कन्धरायामधि अधिकन्धरम्–अधिग्रीवम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । 'अव्ययीभावश्च' इति नपुंसकत्वात् 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इति ह्रस्वत्वम् । 'कण्ठो गलोऽथ ग्रीवायां शिरोधिः कन्धरेत्यपि' इत्यमरः । नाक्रमत—अप्रतिहतं न क्रमते स्म । न प्रवर्तते स्म । किन्तु प्रतिहतमेवेत्यर्थः । 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' इति वृत्तावात्मनेपदम् । वृत्तिरप्रतिबन्धः ॥ ५४ ॥

[अन्वयः] बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनात् विकीर्णलोलाग्निकणम् (अतएव) अप्रसहिष्णु वैष्णवं चक्रम् जगत्प्रभोः अस्य अधिकन्धरं न अक्रमत ।

[विग्रहः] शिलेव निष्ठुरः शिलानिष्ठुरः, शिलानिष्ठुरश्चासौ कण्ठश्च शिलानिष्ठुरकण्ठः । बृहंश्चासौ शिलानिष्ठुरकण्ठश्च बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठः । तत्र घट्टनं तस्मात्-बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनात् । यद्वा—बृहत्पदं शिलाविशेषणं। बृहती चासौ शिला च बृहच्छिला, बृहच्छिलेव निष्ठुरः बृहच्छिलानिष्ठुरः, स चासौ कण्ठश्च बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठः, तत्र घट्टनं तस्मादिति विग्रहः । विकीर्णा लोला अग्निकणाः यस्य तत् विकीर्णलोलाग्निकणम् । सुरान् द्वेष्टीति सुरद्विट्, तस्य सुरद्विषः । न प्रसहिष्णु अप्रसहिष्णु । विष्णोरिदम् वैष्णवम् । कन्धरायामिति अधिकन्धरम् ।

[अर्थः] बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनात् = विपुलप्रस्तरकठोरकण्ठाभिघातात् । विकीर्णलोलाग्निकणं = विक्षिप्तविस्फुरत्स्फुलिङ्गम् । अत एव—अप्रसहिष्णु = अनभिभावकम् । असमर्थं वा । वैष्णवं = भगवतो विष्णोरिदम् । चक्रं = रथाङ्गं । सुदर्शनं नाम चक्रम् । जगत्प्रभोः = सकललोकैकस्वामिनः । सुरद्विषः = सुरवैरिणः । अस्य = रावणस्य । अधिकन्धरम् = अधिग्रीवम् । नाक्रमत = अप्रतिहतं न क्रमते स्म । न प्रावर्त्तत ।

[भावार्थः] महाशिलाकठोरतत्कण्ठसंघट्टनादुद्भूताग्निकणं भ्राजिष्णु सुदर्शनं नाम वैष्णवमप्रतिहतं चक्रमपि तदीये विपुले गले न प्रावर्त्तत ।

[कोशः] ‘ कण्ठो गलोऽथ ग्रीवायां शिरोधिः कन्धरेत्यपि’ इत्यमरः । ‘ अथ चक्रं सुदर्शनम् ’ इत्यमरः ।

[वाच्यप०] बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनाद्विकीर्णलोलाग्निकणेन अप्रसहिष्णुना वैष्णवेन चक्रेण जगत्प्रभोरस्याधिकन्धरं नाऽक्रम्यत ।

[भाषाटीका] जैसे शान चढ़ानेवाले पत्थर पर शस्त्रके संघट्ट होने से (लगने से) अग्निके कण (स्फुलिङ्ग) चारों ओर छूटने लगते हैं परन्तु उस शस्त्र का असर शाणचक्रशिला पर कुछ नहीं होता वैसे ही रावण की गोल व पुष्ट कन्धरा (गला) पर भगवान् श्रीविष्णु के सुदर्शन चक्र का भी कोई असर नहीं हुआ । गले पर चक्र का आघात लगने से अग्निस्फुलिङ्ग चारों और छिटक गए पर गला कुछ भी नहीं कटा । अर्थात् उस रावण के गलेपर सुदर्शन चक्र का भी कुछ असर नहीं होता था ॥५४॥

विभिन्नशङ्खः कलुषीभवन्मुहु-
मदेन दन्तीव मनुष्यधर्मणः ।
निरस्तगाम्भीर्यमपास्तपुष्पकं
प्रकम्पयामास न मानसं न सः ॥५५॥

[सर्वङ्कषा] विभिन्नेति । स रावणो मदेन-दर्पेण, इभदानेन च ।

‘ मदो दर्पेभदानयोः ’ इति विश्वः । दन्तीव गज इव । विभिन्नो-विघट्टितः शङ्खो-निधिभेदः, कम्बुश्च येन सः । सन् ‘शङ्खो निध्यन्तरे कम्बुललाटास्थिनखेषु च ’ इति विश्वः । अकलुषं कलुषं क्षुब्धमाविलं च भवत्-कलुषीभवत् । निरस्तं गाम्भीर्यम्-अविकारित्वं, अगाधत्वं च यस्य तत् । अपास्तानि पुष्पाणि, पुष्पकं विमानं च यस्मात्तत् । पुष्पपक्षे वैभाषिकः कप्रत्ययः । मनुष्यस्येव धर्मः—श्मश्रुलत्वादिर्यस्येति स्वामी । तस्य मनुष्यधर्मणः । ‘ धर्मादनिच्केवलात् ’ इत्यनिच् । मानसं-चित्तं, तदीयं सरश्च । ‘मानसं सरसि स्वान्ते’ इति विश्वः । मुहुर्न कम्पयामास न—क्षोभयामासेति न, किन्तु कम्पयामासैवेत्यर्थः । कुबेरस्य महामहिमतया सम्भाविताऽप्रकम्पित्वनिवारणाय नञ्द्वयम् । ‘सम्भाव्यनिषेधनिवर्तने नञ्द्वयम्’ इति वामनः । अत्र दन्तिरावणयोः प्रकृताऽप्रकृतयोः श्लेषः ॥ ५५ ॥

[अन्वयः] स मदेन दन्तीव विभिन्नशङ्खः कलुषीभवत्-निरस्तगाम्भीर्यम् अपास्तपुष्पकम् मनुष्यधर्मणो मानसं मुहुः न प्रकम्पयामास (इति) न (—किन्तु प्रकम्पमायासैव) ।

[विग्रहः] विभिन्नः शङ्खो येनासौ विभिन्नशङ्खः । न कलुषम् अकलुषम्, अकलुषं कलुषं सम्पद्यमानं कलुषीभवत् । निरस्तं गाम्भीर्य्यंयस्य तत्—निरस्तगाम्भीर्यम् । अपास्तानि पुष्पाणि (पुष्पकं नाम विमानं च) यस्मात् तत् अपास्तपुष्पकं, तत्तथाभूतम् । मनुष्यस्येव धर्मो यस्यासौ मनुष्यधर्मा, तस्य—मनुष्यधर्मणः ।

[अर्थः] सः=रावणः । मदेन=दर्पेण । दन्तिपक्षे—गजमदेन च । दन्तीव=हस्तीव । विभिन्नशङ्खः=विनाशितशङ्खनिधिः । गजपक्षे—प्रस्फुटितकपालास्थिविशेषः । प्रस्नवल्ललाटास्थिविशेषः । विघट्टितकम्बुर्वा । कलुषीभवत्=आविलीभवत् । मलिनीभवत् । क्षोभं गच्छत् । निरस्तगाम्भीर्यं=निर्धूताऽविकारित्वम् । व्यपगताऽगाधभावञ्च । किञ्च—अपास्तपुष्पकं = निरस्तपुष्पम् । विध्वस्तकुसुमम् । व्यपगतपुष्पकाख्यविमानञ्च ।

मनुष्यधर्मणः = कुबेरस्य । मानसं = चित्तं । तदीयं मानस-नामकं सरोवरञ्च । न प्रकम्पयामास न = न प्रकम्पयामासेति न, किन्तु प्रकम्पयामासैव ।

[भावार्थः] यथा मदोन्मत्तो हस्ती मदस्रवच्छङ्खप्रदेशः—स्वच्छं गभीरं पुष्पोपशोभितं सरः स्वप्रवेशेन—कलुषीभवत् निरस्तगाम्भीर्यं निरस्तपुष्पकं च कृत्वा प्रकम्पयति–क्षोभयति, एवमेव मदोन्मत्तो रावणः—कुबेरस्य स्वच्छ गम्भीरं पुष्पोप-शोभितं मानसं सरः, अप्रकम्प्यं, प्रसन्नं, गभीरं, पुष्पकभाव-भावितं मनश्च न प्रकम्पयामासेति न, किन्तु प्रकम्पयामासैव ।

[कोशः] 'मदो दर्पमदानयोः' इति विश्वः । 'शङ्खो निध्यन्तरे कम्बु-ललाटास्थिनखेषु च' इति विश्वः । 'मनुष्यधर्मा धनदो राजराजो धनाधिपः' इत्यमरः । 'मानसं सरसि स्वान्ते' इति विश्वः ।.

[वाच्यपरि०] मदेन दन्तिनेव विभिन्नशङ्खेन कलुषीभवत्, निरस्तगाम्भीर्यम् अपास्तपुष्पकं मानसं न प्रकम्पयामासे इति न ।

[भाषाटीका] जैसे मद से मस्त हाथी साफ सुथरे गहरे व फूलों से लह-लहाते हुए सरोवर (झील) को गदला और दूषित तथा पुष्पों से रहित कर देता है, वैसे ही मद से उन्मत्त रावण नें कुबेर के मानससरोवर को और साथ ही पुष्पकप्रिय कुबेर के गम्भीर अविकारी मन को भी व्याकुल और कलुषित कर दिया (घबड़ा दिया) । [शङ्ख = शङ्ख नामक कुबेर का एक खजाना, या कनपटी या शङ्ख । पुष्पक = फूल, या कुबेरका पुष्पक विमान ।] ॥५५॥

रणेषु तस्य प्रहिताः प्रचेतसा
सरोषहुङ्कारपराङ्मुखीकृताः ।
प्रहतुरेवोरगराजरज्जवो
जवेन कण्ठं सभयाः प्रपेदिरे ॥ ५६ ॥

[सर्वङ्कषा] रणेष्विति । किञ्च—रणेषु प्रचेतसा—वरुणेन, प्रहिताः—प्रयुक्ताः । उरगराजा महासर्पास्ते रज्जव इव उरगराजरज्जवः ।

नागपाशा इत्यर्थः। तस्य—रावणस्य। सरोषहुङ्कारेण पराङ्मुखीकृता व्यावर्तिताः। अतएव—सभयाः सत्यः। जवेन—वेगेन। प्रहर्तुः—प्रयोक्तुः प्रचेतस एव, कण्ठं प्रपेदिरे—प्राप्ताः। अत्र परहिंसाप्रयुक्तस्यायुधस्य वैपरीत्येन स्वकन्ठग्रहणादनर्थोत्पत्तिरूपो विषमालङ्कारः। 'विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य वा भवेत्' इति लक्षणात् ॥ ५६ ॥

[अन्वयः] रणेषु प्रचेतसा प्रहिता उरगराजरज्जवः तस्य सरोषहुङ्कारपराङ्मुखीकृताः (अतएव) सभयाः (सत्यः) जवेन प्रहर्तुरेव कण्ठम्प्रपेदिरे।

[विग्रहः] उरगाणां राजानः उरगराजाः, उरगराजा रज्जव इव उरगराजरज्जवः। रोषेण सहितं सरोषं, सरोषं यथा स्यात्तथा हुङ्कारः, सरोषहुङ्कारः। न पराङ्मुखाः अपराङ्मुखाः, अपराङ्मुखाः पराङ्मुखाः सम्पद्यमानाः कृताः पराङ्मुखीकृताः। सरोषहुङ्कारेण पराङ्मुखीकृताः—सरोषहुंकारपराङ्मुखीकृताः। भयेन सहिताः सभयाः।

अर्थः] रणेषु = युद्धेषु। प्रचेतसा = जलाधिराजेन वरुणेन। प्रहिताः = प्रयुक्ताः। उरगराजरज्जवः = महासर्परज्जवः। नागपाशाः। तस्य = रावणस्य। सरोषहुङ्कारपराङ्मुखीकृताः= सामर्षहुङ्कारव्यावर्त्तिताः। (अतएव—) सभयाः = ससाध्वसाः सत्यः। जवेन = वेगेन। सत्वरम्। प्रहर्त्तुरेव = प्रयोक्तुर्वरुणस्यैव। कण्ठं = गलम्। प्रपेदिरे = प्राप्ताः।

[भावार्थः] युद्धे रावणबन्धनाय वरुणेन प्रयुक्ता नागपाशा रावणहुङ्कारभीताः परावर्त्य वरुणमेव बबन्धुः। रावणेन वरुणो विजित्य पाशैर्बद्ध इति यावत्।

[कोशः] 'प्रचेता वरुणः पाशी' इत्यमरः। उरगः पन्नगो भोगी' इत्यमरः। 'रज्जुर्वेण्यां गुणे योषित्' इति विश्वः।

[वाच्यपरि०] रणेषुप्रचेतसा प्रहिताभिः तस्य सरोषहुंकारपराङ्मुखीकृताभिः सभयाभिः उरगराजरज्जुभिः······प्रहर्त्तुरेव कण्ठः प्रपेदे।

[भाषाटीका] युद्ध में वरुण भगवान् ने रावण पर नागपाश फेंका।

तब रावण ने क्रोध से हुङ्कार किया उससे नागों ने डर करके रावण को छोड़ दिया और वापिस आकर वरुण को ही (उन्होंने) बान्ध लिया ॥५६॥

परेतभर्तुर्महिषोऽमुना धनु-
र्विधातुमुत्खातविषाणमण्डलः ।
हृतेऽपि भारे महतस्त्रपाभरा-
दुवाह दुःखेन भृशानतं शिरः ॥५७॥

[सर्वङ्कषा] परेतभर्तुरिति । अमुना—रावणेन, धनुः—शार्ङ्गं, 'विधातुं—निर्मातुमुत्खातमुत्पाटितं विषाणयोः—शृङ्गयोर्मण्डलं वलयं यस्य स परेतभर्तुर्यमस्य महिषः । वाहनभूत इति भावः । भारे—विषाणरूपे । भृञो घञ् । हृतेऽपि, महतस्त्रपैव भरस्तस्मात् । ततोऽपि दुर्भरादिति भावः । भृधातोः क्रैयादिकात् 'ऋदोरप्' इत्यप्प्रत्ययः । भृश-मत्यर्थमानतं—नम्रं शिरोदुःखेनोवाह—वहतिस्म । 'असंयोगाल्लिट् कित्' इति कित्त्वात् 'वचिस्वपि—' इत्यादिना सम्प्रसारणम् । हृतेऽपि भारे नतमिति विरोधः । तदनुप्राणिता चेयमवनतिहेतुत्वसाधर्म्यात्त्रपाभारत्वोत्प्रेक्षा ॥५७॥

[अन्वयः] अमुना धनुः विधातुम् उत्खातविषाणमण्डलः परेतभर्तुः महिषः भारे हृतेऽति महतः त्रपाभरात् भृशानतं शिरः दुःखेन उवाह ।

[विग्रहः]—विषाणयोर्मण्डलं विषाणमण्डलम्, उत्खातम् विषाण-मण्डलं यस्यासौ उत्खातविषाणमण्डलः । परेतानाम् भर्ता परेतभर्ता, तस्य परेतभर्तुः । त्रपैव भरः—त्रपाभरः, तस्मात् त्रपाभरात् । भृशम् यथा स्यात्तथा आनतम् भृशानतम्, तत्तथाभूतम् ।

[अर्थः] अमुना=रावणेन । धनुः=शार्ङ्गं कोदण्डं । विधातुं=निर्मातुम् । उत्खातविषाणमण्डलः=उत्पाटित-शृङ्गवलयः । परेतभर्तुः=प्रेताधिपस्य यमराजस्य । महिषः= सैरिभः । लुलायः । यमराजस्य वाहनभूतो महिषः । भारे= विषाणमण्डलरूपे भारे । हृतेऽपि=अपहृतेऽपि । उत्सारितेऽपि ।

महतः=अतिमहतः । दुर्भरात् । त्रपाभरात्=लज्जाभरात् । भृशानतम्=अत्यर्थनम्रम् । शिरः=मूर्धानम् । दुःखेन=क्लेशेन । उवाह=वहति स्म ।

[भावार्थः] शार्ङ्गं धनुर्निर्मातुं यमराजवाहनमहिषस्य रावणेन शृङ्गमण्डले उद्धृते सति—मन्ये भारापगमात्सञ्जात-सुखोऽपि यममहिषोऽपमानदुःखभरेणैव भृशानतं शिर उवाह ।

[कोशः] 'उत्तमाङ्गं शिरः शीर्षं मूर्धा ना मस्तकोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । 'धर्मराजः पितृपतिः समवर्त्ती परेतराट्' इत्यमरः ।

[वाच्यपरि०] परेतभर्त्तुर्महिषेण अमुना...धनुर्विधातुमुत्खातविषाण-मण्डलेन भृशानतं शिर ऊहे ।

[भाशाटीका] सींगों का धनुष बनाने के लिए यमराज के भैंसे के सींगों को रावण नें जब उखाड लिया तब सींगों के बोझ के कम होजाने पर भी लज्जा और अपमान के बोझे से दबा हुआ वह महिष ऊपर सिर नहीं उठा सकता था, और नीचा सिर किए ही चलता था ॥ ५७ ॥

स्पृशन्सशङ्कः समये शुचावपि
स्थितः कराग्रैरसमग्रपातिभिः ।
अघर्मघर्मोदकबिन्दुमौक्तिकै-
रलञ्चकारास्य वधूरहस्करः ॥५८॥

[सर्वङ्कषा] स्पृशन्निति । अहः करोतीति, अहस्करः—सूर्यः । 'दिवाविभानिशा' इत्यादिना टप्रत्ययः । कस्कादित्वात्सत्वम् । शुचौ समये—ग्रीष्मकाले, अनुपहते आचारे च स्थितोऽपि । 'शुचिः शुद्धेऽनुपहते शृङ्गाराषाढयोरपि । ग्रीष्मे हुतवहेऽपि स्यात्' इति विश्वः । 'समयाः शपथाचारकाल-सिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः । असमग्रपातिभिः । सङ्कुचितवृत्तिभिरित्यर्थः । कराणामंशूनां, हस्तानां चाग्रैः । 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः । सशङ्कः—स्पृशन् । अविश्वासभयादिति भावः । अघर्मा—अनुष्णा घर्मोदकबिन्दवः—स्वेदोदबिन्दवः । 'मन्थौदन—' इत्यादिना विकल्पा-

दुदकशब्दस्योदादेशाभावः । तैरेव मौक्तिकैरस्य वधूरलञ्चकार । ग्रीष्मे तद्भयान्नासह्यं तपतीत्यर्थः । अत्र प्रस्तुतसूर्यविशेषणमात्रसाम्यादप्रस्तुत-असाधकप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः ॥ ५८ ॥

[अन्वयः] अहस्करः शुचौ समये स्थितोऽपि असमग्र-पातिभिः कराग्रैः सशङ्कः स्पृशन् अघर्मघर्मोदकबिन्दुमौक्तिकैः अस्य वधूः अलञ्चकार ।

[विग्रहः] शङ्कया सहितः सशङ्कः । कराणामग्राणि कराग्राणि, तैः–कराग्रैः । अहः करोतीति अहस्करः । समग्रं पतन्तीति समग्रपातीनि, न समग्रपातीनि असमग्रपातीनि, तैः असमग्रपातिभिः । घर्मस्य उदकम् घर्मोदकम्, घर्मोदकस्य बिन्दवः—घर्मोदकबिन्दवः । न घर्मा अघर्माः, अघर्माश्च ते घर्मोदकबिन्दवश्च अघर्मघर्मोदकबिन्दवः । अघर्मघर्मोदक-बिन्दव एव मौक्तिकानि–तैः, अघर्मघर्मोदकबिन्दुमौक्तिकैः ।

[अर्थः] अहस्करः=दिनकरः । सूर्यः । शुचौ समये= ग्रीष्मकाले । शुद्धे आचारे च । स्थितोऽपि=अवस्थितोऽपि । वर्त्तमानोऽपि च । असमग्रपातिभिः=असमस्तपातिभिः । सङ्कुचितवृत्तिभिः । कराग्रैः = किरणाग्रैः । हस्ताग्रैश्च । सशङ्कः = सभयः । स्पृशन् = आमृशन् । संस्पृशंश्च । अघर्मघर्मोदकबिन्दु-मौक्तिकैः=अनुष्णस्वेदोदबिन्दुमौक्तिकैः । अस्य=रावणस्य । वधूः=अङ्गनाः । अलञ्चकार=भूषयति स्म ।

[भावार्थः] भगवान् भास्करो ग्रीष्मेऽपि काले (शुद्धे आचारे च) वर्त्तमानोऽपि किरणाग्रैर्भयादसमग्रपातिभिर-नुष्णघर्मोदकविन्दुमौक्तिकैरस्य भार्या अलञ्चकार ।

[कोशः] 'शुचिः शुद्धेऽनुपहते श्रृङ्गाराषाढयोरपि । ग्रीष्मे हुतवहेऽपि स्यात्' इति विश्वः । ' बलिहस्तांशवः कराः ' इत्यमरः । 'वधूर्जाया स्नुषा स्त्री च' इत्यमरः । 'समयाः सपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] अहस्करेण शुचौ समये स्थितेनापि असमग्रपातिभिः कराग्रः सशङ्केन स्पृशता अस्य वध्वोऽलञ्चक्रिरे ।

[भाषाटीका।] भगवान् सूर्यनारायण ग्रीष्मऋतु में भी (पूरी २ नहीं पड़नेवाली) अपनी किरणों से शङ्कित भाव से स्पर्श करते हुए रावण की स्त्रियोंको ठण्ढे पसीने के बिन्दुरूपी मोतियों से अलङ्कृत किया करते थे । अर्थात् सूर्य भी उससे डरते थे। और अपनी किरणों को गर्मी में भी पूरी २ नहीं फैला सकते थे ॥ ५८ ॥

कलासमग्रेण गृहानमुञ्चता
मनस्विनीरुत्कयितुं पटीयसा ।
विलासिनस्तस्य वितन्वता रतिं
न नर्मसाचिव्यमकारि नेन्दुना ॥५९॥

[सर्वङ्कषा] कलासमग्रेणेति । कलाभिः—षोडशांशैः, शिल्पविद्याभिश्च, समग्रेण—सम्पूर्णेन । 'काले शिल्पे वित्तवृद्धौ चन्द्रांशे कलने कला' इति वैजयन्ती । गृहानमुञ्चता—सदा तद्गृहेष्वेववसता । दण्डभयात्सेवाधर्मत्वाच्चेति भावः । मनस्विनीः—मानिनीः, उत्काः—उत्सुकाः कर्तुम्—उत्कयितुम् । 'उत्क उन्मनाः' इति निपातनादुत्कशब्दात् 'तत्करोति' इति ण्यन्तात्तुमुन् । पटीयसा । मानभेदचतुरेणेत्यर्थः । कुतः ? । रतिं वितन्वता—चन्द्रिकाभिश्चतुरोक्तिभिश्च रागं वर्धयता । इन्दुना—विलासिनः—विलसनशीलस्य । 'वौ कषलस—' इत्यादिना घिनुण् प्रत्ययः । तस्य—रावणस्य । नर्मसाचिव्यं—क्रीडासम्बन्ध्यधिकारित्वे सचेष्टत्वम् । 'लीला क्रीडा च नर्म च' इत्यमरः । नाकारीति न—किन्त्वकार्येवेत्यर्थः । अनौचित्यात्प्राप्तनर्मसाचिव्यनिषेधनिवारणार्थं नञ्द्वयम् । 'सम्भाव्यनिषेधनिवर्तने नञ्द्वयम्' इति वामनः । अत्रेन्दोः प्रकृतस्याऽप्रकृतेन नर्मसचिवेन श्लेषः ॥ ५९ ॥

[अन्वयः] कलासमग्रेण गृहान् अमुञ्चता मनस्विनीः उत्कयितुं पटीयसा विलासिनः तस्य रतिं वितन्वता इन्दुना नर्मसाचिव्यं न अकारि (इति) न ।

[विग्रहः] कलाभिः समग्रः कलासमग्रः, तेन कलासमग्रेण । सचिवस्य भावः कर्म वा साचिव्यं, नर्मणि साचिव्यं नर्मसाचिव्यम् ।

[अर्थः] कलासमग्रेण = सम्पूर्णकलेन । सकलकलाकलापकुशलेन च । गृहान् = रावणसौधम् । अमुञ्चता = अपरित्यजता । सदा तद्गृहेष्वेव निवसता । मनस्विनीः = मानिनीः । उत्कयितुम् = उत्कण्ठयितुम् । सोत्सुकाः कर्त्तुम् । पटीयसा = चतुरेण । मानिनीमानभङ्गदक्षेण । विलासिनः = मन्मथतन्त्रविलासप्रसक्तस्य । तस्य = रावणस्य । रतिं = रागं । सुरतानुरागं । रत्यौत्सुक्यम् । वितन्वता = वर्द्धयता । इन्दुना = चन्द्रमसा । नर्मसाचिव्यं = सुरतक्रीडासाहाय्यम्१ । नर्मसचिवता । न अकारि न = न कृतमिति न । किन्तु कृतमेवेत्यर्थः ।

[भावार्थः] भगवान् सकलकलापूर्णश्चन्द्रो विलासिनोऽस्य रावणस्य मानिनीमानविनोदादिरतिक्रीडासाचिव्यं चकार ।

[कोशः] 'काले शिल्पे वित्तवृद्धौ चन्द्रांशे कलने कला' इति वैजयन्ती । 'क्रीडा लीला च नर्म च' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] कलासमग्रेण गृहान् अमुञ्चन् मनस्विनीः उत्कयितुं पटीयान् विलासिनस्तस्य रतिं वितन्वन्निन्दुर्नर्मसाचिव्यं तस्य नाकार्षीदिति न [किन्त्वकार्षीदेव] ।

[भाषाटीका] सकल कलाओं से पूर्ण (सकलशास्त्ररहस्यवित् तथा षोडश कलाओं के ज्ञाता) भगवान् चन्द्रमा भी विलासप्रिय उस रावण के यहाँ रह कर मानिनी स्त्रियों के मानको भङ्ग करने का (नर्मसचिव का) कार्य करते हुए उस रावण की रतिको बढ़ाते थे ॥ ५९ ॥

विदग्धलीलोचितदन्तपत्त्रिका-
विधित्सया नूनमनेन मानिना ।
न जातु वैनायकमेकमुद्धृतं
विषाणमद्यापि पुनः प्ररोहति ॥६०॥

---

१ अन्योऽपि नर्मसचिवः कलासु कुशलो नायकस्य निकटवर्ती मानवतीमाननिरासरत्यौत्सुक्यवर्द्धनादिपटुर्भवति ।

[सर्वङ्कषा] विदग्धेति । मानिना—अहङ्कारिणा । अनेन—रावणेन । विदग्धलीलाः । चतुरविलासिन्य इत्यर्थः । तासामुचिताश्च ता दन्तपत्त्रिकाश्च—कर्णभूषणानि । 'विलासिनीविभ्रमदन्तपत्रिका' इति साधीयान्पाठः । अन्यथा विप्रकृष्टार्थप्रतीतिकत्वेन कष्टाख्यार्थदोषापत्तेः । 'कष्टं तदर्थावगमो दूरायत्तो भवेत्' इति लक्षणात् । विलासिनीनां या विभ्रमदन्तपत्त्रिका—विभ्रमार्थानि यानि दन्तमयपत्राणि । विभ्रम-दन्तशब्दयोः षष्ठीसमासपर्यवसानात्तादर्थ्यलाभः । तासां—विधित्सया—विधातुमिच्छया । विपूर्वाद्धातेः 'सनिमीमा—' इत्यादिना अच इस् । 'सः सि' इति तकारः । 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यभ्यासलोपः । ततः 'स्त्रियाम्' इत्यनुवृत्तौ 'अ प्रत्ययात्' इत्यकारप्रत्यये टाप् । नूनं—निश्चितं, जातु—कदाचिदपि । 'कदाचिज्जातु' इत्यमरः । उद्धृतमुत्पाटितं विनायकस्य—गणेशस्येदं वैनायकम् एकं विषाणं—दन्तः । 'विषाणं पशुशृङ्गे स्यात्क्रीडाद्विरददन्तयोः' इति विश्वः । अद्यापि पुनर्न प्ररोहति—न प्रादुर्भवति । प्रपूर्वात् 'रुह प्रादुर्भावे' इत्यस्माल्लट् । किमन्यदकार्यमस्येति भावः । एतदन्यथा कथं गजाननस्यैकदन्तत्वमित्युत्प्रेक्षते—'नून' मिति॥६०॥

[अन्वयः] मानिना अनेन विदग्धलीलोचितदन्तपत्त्रिका-विधित्सया नूनं जातु उद्धृतम् एक वैनायकं विषाणम् अद्यापि न प्ररोहति ।

[विग्रहः] मानोऽस्यास्तीति मानी, तेन—मानिना । विदग्धा लीला यासां ताः—विदग्धलीलाः, विदग्धलीलानामुचिता विदग्धलीलोचिताः । विदग्धलीलोचिताश्च ता दन्तपत्रिकाश्च विदग्धलीलोचितदन्तपत्त्रिकाः । विधातुमिच्छा विधित्सा । विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिकाणां विधित्सा विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिकाविधित्सा, तया । विनायकस्येदम् वैनायकम् ।

[अर्थः] मानिना = अहङ्कारिणा । दर्पोद्धुरेण च । अनेन = रावणेन । विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिकाविधित्सया = चतुर विलासिनीधारणोचितदन्तमयकर्णभूषणनिर्माणेच्छया । विलासिनीप्रियगजदन्तमयकर्णाभरणनिर्माणाभिलाषेण । नूनं =

म् । जातु = कदाचिदपि । उद्धृतम् = उत्खातम् ।
तम् । वैनायकं = गाणपतम् । एकं विषाणम् = एको
अद्यापि = सम्प्रत्यपि । गतेऽपि बहुतिथे कालेऽपि ।
पुनरपि । न प्ररोहति = न प्रादुर्भवति ।

भावार्थः] स्वविलासिनीप्रियचिकीर्षया तद्धारणोचितं तमयं कर्णाभरणं विधित्सुरयं रावणो विनायकस्यैकं णं) दन्तमुद्धृतवान् । सोऽयं दन्तोऽद्यापि पुनर्न प्ररोहति । कदन्त इत्यद्यापि गणपतिर्गीयते ।

ोशः] 'विषाणं पशुश्रृङ्गे स्यात्क्रीडाद्विरददन्तयोः' इति विश्वः । जातु' इत्यमरः ।

ाच्यप०] मानी······दन्तपत्रिकाविधित्सया यद्विषाणमुद्धृतवान् यकेन विषाणेन अद्यापि न प्ररुह्यते ।

ाषाटीका] अपनी प्रियाओं को प्रसन्न करने के लिए उनके धारण यक हाथीदान्त का करणफूल(झूमका)बनाने की इच्छा से रावण ने जीमहाराज का दहिना दांत उखाड़ लिया था वह दांत अभी तक निकला और गणेशजी आज तक एकदन्त ही कहलाते हैं ॥६०॥

निशान्तनारीपरिधानधूनन-
स्फुटागसाऽप्यूरुषु लोलचक्षुषः ।
प्रियेण तस्यानपराधबाधिताः
प्रकम्पनेनानुचकम्पिरे सुराः ॥ ६१ ॥

र्वङ्कषा] निशान्तेति । निशान्तं—गृहम् । 'निशान्तं गृह-' इति विश्वः । तत्र या नार्यः । शुद्धान्तस्त्रिय इत्यर्थः । तासां परि-—अन्तरीयाणि । 'अन्तरीयोपसंव्यानपरिधानान्यधोंऽशुके' इत्यमरः । न—चालनम् । धूञो ण्यन्ताल्ल्युट् । 'धुञ्प्रीञोर्नुग्वक्तव्यः' । तेन स्फुटागसा—व्यक्तापराधेनापि । अन्तःपुरद्रोहस्य महापरा- र भावः । ऊरुषु—तासां सक्थिषु, लोलचक्षुषः—सतृष्णदृष्टेः ।

'सक्थि क्लीबे पुमानूरुः' इति, 'लोलश्चलसतृष्णयोः' इति चामरः। अतएव तस्य रावणस्य प्रियेण—प्रमोदास्पदभूतेन। अङ्गीकृतम्लानिर्न दोषायेति न्यायादिति भावः। प्रकम्पनेन—वायुना। अनपराधेऽपराधाभावेऽपि बाधिताः। 'राजपुरुषै'रिति शेषः। सुरा अनुचकम्पिरे। स्वयमुपायेनान्तःप्रविश्यानपराधनिवेदनेन मोचयता वायुनानुकम्पिता इत्यर्थः। एकस्य वैदग्ध्याद्बहवो जीवन्तीति भावः॥ ६१॥

[अन्वयः] निशान्तनारीपरिधानधूननस्फुटागसाऽपि ऊरुषु लोलचक्षुषः अस्य प्रियेण प्रकम्पनेन अनपराधबाधिताः सुरा अनुचकम्पिरे।

[विग्रहः] निशान्ते नार्यः निशान्तनार्यः, निशान्तनारीणां परिधानानि निशान्तनारीपरिधानानि, निशान्तनारीपरिधानानां धूननं निशान्तनारीपरिधानधूननम्। तेन स्फुटम् आगो यस्याऽसौ निशान्तनारीपरिधानधूननस्फुटागाः, तेन—निशान्तनारीपरिधानधूननस्फुटागसा। लोले चक्षुषी यस्यासौ लोलचक्षुः, तस्य लोलचक्षुषः। अनपराधे बाधिताः—अनपराधबाधिताः।

[अर्थः] निशान्तनारीपरिधानधूननस्फुटागसाऽपि = अन्तःपुरविलासिनीजनान्तरीयचालनव्यक्तापराधेनाऽपि। ऊरुषु = विलासिनीकमनीयसक्थिषु। लोलचक्षुषः = सतृष्णलोचनस्य। तस्य = रावणस्य। प्रियेण = कृपापात्रेण। प्रकम्पनेन = प्रभञ्जनेन। वायुना। अनपराधेऽपि = अपराधाभावेऽपि। बाधिताः = कदाचिद्राजपुरुषैः पीडिताः। सुराः = देवाः। अनुचकम्पिरे = प्रार्थनादिनाऽनुगृहीताः।

[भावार्थः] अन्तःपुरसुन्दरीवस्त्रपरिचालनप्रवणेन वायुनाऽस्य रावणस्य कृपापात्रभूतेन सुरास्तेषु तेष्ववसरेषु प्रचण्डै राजपुरुषैर्बाध्यमानाः स्वयमुपायेनाऽन्तःप्रविश्याऽनपराधबाधानिवेदनेन मोचयताऽनुकम्पिताः।

[कोशः] ‘ निशान्तं गृहशान्तयोः ’ इति विश्वः । ‘ अन्तरीयोपसंव्यानपरिधानान्यधोंऽशुके’ इत्यमरः । ‘सक्थि क्लीबे पुमानूरुः’ इत्यमरः। ‘प्रकम्पनो महावातो झञ्झावातः सवृष्टिकः ’ इति कोशः ।

[वाच्यप०] निशान्तनारीपरिधानधूननस्फुटागा ऊरुषु लोलचक्षुषोऽस्य प्रियः प्रकम्पनः—अनपराधबाधितान् सुरान् मोचयन् अनुचकम्पे ।

[भाषाटीका] रावणके अन्तःपुर की स्त्रियों के (धोती आदि) वस्त्रों को वायु उड़ाता था और इस प्रकार अर्धनग्नावस्था में उन स्त्रियों के जांघ आदि गुह्य अङ्गों को देखकर रावण प्रसन्न हुआ करता था। इस प्रकार रावण का वायु कृपापात्र था । और वह वायु देवताओं को जब २ सिपाही लोग विना अपराध के कष्ट देते थे तब २ रावण से कह सुनकर किसी तरह उनको छुड़ा दिया करता था। इस प्रकार वायु के कारण देवताओं का कभी २ छुटकारा हो जाता था । अर्थात्—सामान्यदेवताओं को रावण के सिपाही त्रास दिया करते थे ॥ ६१ ॥

तिरस्कृतस्तस्य जनाभिभाविना
मुहुर्महिम्ना महसां महीयसाम् ।
बभार बाष्पैर्द्विगुणीकृतं तनु-
स्तनूनपाद्धूमवितानमाधिजैः ॥६२॥

[सर्वङ्कषा] तिरस्कृत इति । किञ्च—तस्य—रावणस्य जनाभिभाविना—लोकतिरस्कारिणा । महीयसाम्—अतिमहतां,—महसां तेजसां, महिम्ना—महत्त्वेन । ‘पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा’ इतीमनिच् । मुहुस्तिरस्कृतः । अतएव—तनुः—कृशः, तनुं न पातयति जाठररूपेण शरीरं धारयतीति तनूनपात्—अग्निरिति स्वामी । ‘नभ्राट्—’ इत्यादिसूत्रेण निपातनान्नञो नलोपाभावः । आधिजैः—दुःखोत्थैर्बाष्पैः—निःश्वासोष्मभिः । ‘बाष्पो नेत्रजलोष्मणोः’ ‘पुंस्याधिर्मानसी व्यथा’ इति विश्वामरौ । द्वौ गुणावावृत्ती यस्य स द्विगुणः । ततश्च्विः । द्विगुणीकृतं—द्विरावृत्तम् । ‘गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतन्तुषु ’

इति वैजयन्ती। धूमवितानं—धूममण्डलं—बभार। अग्निरपि तत्सन्निधौ निस्तेजस्को धूमायमान आस्त इत्यर्थः। धूमद्वैगुण्यासम्बन्धे सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिः ॥ ६२ ॥

[अन्वयः] तस्य जनाभिभाविना महीयसां महसां महिम्ना मुहुस्तिरस्कृतः (अतएव—) तनुः तनूनपात् आधिजैः बाष्पैः द्विगुणीकृतम् धूमवितानं बभार।

[विग्रहः] जनमभिभवतीति जनाभिभावी, तेन जनाभिभाविना। तनूं न पातयति इति तनूनपात्। आधिभ्यो जातानि आधिजानि, तैः आधिजैः। धूमस्य वितानं धूमवितानं, तत्—धूमवितानम्।

[अर्थः] तस्य = रावणस्य। जनाभिभाविना = लोकतिरस्कारिणा। महीयसाम् = अतिमहताम्। महसां = तेजसाम्। महिम्ना = महत्त्वेन। गौरवेण। मुहुः = भृशम्। तिरस्कृतः = अभिभूतः। अतएव—तनुः = कृशतनुः। कृशश्च। तनूनपात् = वैश्वानरः। अग्निः। आधिजैः = मानसव्यथोद्भूतैः। आन्तरदुःखोत्थैः। बाष्पैः = निःश्वासोष्मभिः। द्विगुणीकृतं = द्विरावृत्ततां प्राप्तं। द्विगुणतां नीतम्। प्रभूतीकृतम्। धूमवितानं = धूममण्डलम्। बभार = दध्रे।

[भावार्थः] सकललोकातिशायिना रावणस्य तेजोमण्डलेन मुहुःपराभूतोऽग्निरपि रावणस्य सविधेऽप्रज्वलन् आधिजैर्बाष्पैर्धूमवितान प्रभूतं बभार। (रावणतेजोविजितोऽग्निस्तत्समीपे न प्रज्वलति, केवलं मानसेन दुःखेन निःश्वासं मुञ्चन्निव धूमायमानस्तिष्ठतीति यावत्।

[कोशः] 'बाष्पो नेत्रजलोष्मणोः' इत्यमरः। 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथा' इत्यमरः। 'जातवेदास्तनूनपात्' इत्यमरः। गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियाऽमुख्यतन्तुषु' इति वैजयन्ती।

[वाच्यप०] तस्य महसां महिम्ना तिरस्कृतेन तनुना तनूनपाता बाष्पैर्द्विगुणीकृतं धूमवितानं बभ्रे।

[भाषाटीका] रावण के तेज से पराभूत हो अग्नि—प्रकाशित नहीं होता था, किन्तु दुःख के मारे निःश्वास छोड़ता हुआ मानों दूने धूएँ को धारण करता था। अर्थात्–अग्निका प्रकाश रावणके सामने नष्ट हो गया था और खाली धूवाँ ही धूवाँ अग्नि में रह गया था॥ ६२॥

परस्य मर्माविधमुज्झतां निजं
द्विजिह्वतादोषमजिह्मगामिभिः।
तमिद्धमाराधयितुं सकर्णकैः
कुलैर्न भेजे फणिनां भुजङ्गता ॥६३॥

[सर्वङ्कषा] परस्येति। किञ्च-इद्धं दीप्तम्। उग्रमित्यर्थः। 'इन्धी दीप्तौ' कर्तरि क्तः। तं-रावणमाराधयितुं-सेवितुं, परस्य-स्वेतरस्य मर्माणि-हृदयादिजीवस्थानानि, कुलाचारव्रतानि च, विध्यति-भिनत्तीति मर्मावित्। विध्यतेः क्विप्। 'ग्रहिज्या–' इति सम्प्रसारणम्। 'नहिवृति–' इत्यादिना पूर्वस्य दीर्घः। तं—मर्माविधं, निजं—स्वीयं द्विजिह्वतायां सर्पत्वे यो दोषो–दृष्टिविषत्वादिस्तम्। अन्यत्र द्विजिह्वता–पिशुनता। 'द्विजिह्वौ सर्पसूचकौ' इत्यमरः। सैव दोषस्तमुज्झतां–त्यजतां, फणिनां संबन्धिभिः अजिह्मगामिभिः–करचरणादिमद्विग्रहधारित्वादृजुगतिभिः, अकपटचारिभिश्च। तथा कर्णाभ्यां सह वर्तन्त इति सकर्णकाः, तैः। चक्षुःश्रवस्त्वं विहाय आविष्कृतकर्णैरित्यर्थः। 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः। 'शेषाद्विभाषा' इति कप्। अन्यत्र कर्णयति सर्वं शृणोतीति कर्णको-नियन्ता। कर्णयतेर्ण्वुल्। ततः पूर्ववत्समासे–सकर्णकैः। सनियामकैरित्यर्थः। फणिनां–सर्पाणां कुलैर्वर्गैः भुजङ्गता सर्पता, विटत्वं च। 'भुजङ्गो विटसर्पयोः' इति हलायुधः। न भेजे–त्यक्तः। भुजैर्गच्छन्तीति भुजङ्गाः। गमेः सुपि खच्, सचडिद्वा वाच्यः। तस्मिन्नियन्तरि खलैः खलत्वमपि, सर्पैः सर्पत्वमपि विहाय वेषभावक्रियाभिः सौम्यत्वं श्रितमित्यर्थः। अत्र प्रस्तुतसर्पविशेषण-साम्यादप्रस्तुतखलव्यवहारप्रतीतेः समासोक्तिः॥ ६३॥

[अन्वयः] इद्धं तम् आराधयितुम् परस्य मर्माविधं निजं

द्विजिह्वतादोषम् उज्झतां फणिनाम् अजिह्मगामिभिः सकर्णकैः कुलैः भुजङ्गता न भेजे।

[विग्रहः] मर्माणि विध्यतीति मर्मावित्, तं मर्माविधम् । द्वे जिह्वे स्तो येषान्ते द्विजिह्वाः, द्विजिह्वानां भावो द्विजिह्वता, द्विजिह्वतायां दोषः द्विजिह्वतादोषः, तं द्विजिह्वतादोषम् । जिह्मम् गच्छन्तीति जिह्मगामिनः, न जिह्मगामिनः अजिह्मगामिनः, तैः अजिह्मगामिभिः । कर्णेन सह वर्तन्ते इति सकर्णकाः तैः सकर्णकैः । (पक्षे-कर्णयन्तीति कर्णकाः तैः सहितैः सकर्णकैः ।)

[अर्थः] इद्धं = दीप्तम् । उग्रमित्यर्थः । तं=रावणम् । आराधयितुं = सेवितुम् । परस्य = जनान्तरस्य । मर्माविध = सद्यःप्राणहरं हृदयादिमर्मस्थलपीडकम् । सूचकपक्षे—कुलाचारव्रतादिभेदकम् । दोषोद्घाटनेन परमर्मव्यथकम् । निजं = स्वकीयम् । द्विजिह्वतादोषं = सर्पजातिसहजदृष्टिविषादि-दोषम् । सूचकपक्षे—पिशुनतारूपं दोषम् । उज्झतां = परित्यजताम् । फणिनां = सर्पाणाम् । अजिह्मगामिभिः = अकुटिलगामिभिः । अकपटचारिभिः । ऋजुगामिभिः । सूचकपक्षे—करचरणादिमद्विग्रहधारितया सरलगतिभिः । सकर्णकैः = प्रकटीकृतकर्णैः । चक्षुःश्रवतां विहाय प्रकटीकृतकर्णविवरैः । सूचकपक्षे—सनियामकैः । कुलैः = समूहैः । वर्गैः । भुजङ्गता=सर्पता । विटता च । न भेजे= न सिषेवे । त्यक्तैवेत्यर्थः ।

[भावार्थः] रावणमाराधयितुं सर्पाणां, खलानाञ्च अजिह्मगामिभिः सकर्णकैः कुलैः—परस्य मर्माविधं सहजं द्विजिह्वतादोषं परित्यजद्भिर्भुजङ्गता न भेजे ।

[कोषः] ' द्विजिह्वौ सर्पसूचकौ ' इत्यमरः । 'भुजङ्गौ विटसर्पयोः' इति हलायुधः ।

[वाच्यप०] इद्धं तमाराधयितुं परस्य मर्माविधं द्विजिह्वतादोषमुज्झन्ति अजिह्मगामीनि सकर्णकानि फणिनां कुलानि भुजङ्गतां न भेजिरे ।

[भाषाटीका] रावण की सेवा करते हुए सर्पों के वर्गों ने अपनी

कुटिलगति, दृष्टिविषता और चक्षुःश्रवता छोड़ दी और खलों (चुगलखोरों) ने भी कुटिलता मर्मपीडकता द्विजिह्वता आदि अपने सहज दोष छोड़ दिए॥६३॥

तदीयमातङ्गघटाविघट्टितैः
कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः ।
गृहीतदिक्कैरपुनर्निवर्तिभि-
श्चिराय याथार्थ्यमलम्भि दिग्गजैः ॥६४॥

[सर्वङ्कषा] तदीयेति । तदीयमातङ्गानां घटाभिः—व्यूहैः विघट्टितैरभिहतैः । 'गजानां घटना घटा' इत्यमरः । अतएव कटस्थलेभ्यः प्रोषितान्यपगतानि दानवारीणि येषां तैः । गृहीताः—पलाय्य संश्रिता दिशो यैस्तैर्गृहीतदिक्कैः । 'शेषाद्विभाषा' इति कप् । अपुनर्निवर्तिभिर्भयात्तत्रैव स्थितैर्दिग्गजैः, चिराय याथार्थ्यं—दिक्षु स्थिता गजा दिग्गजा इत्यनुगतार्थनामकत्वम् । अलम्भि—लब्धम् । लभेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुङ् । 'विभाषा चिण्णमुलोः' इति विकल्पान्नुमागमः ॥ ६४ ॥

[अन्वयः] तदीयमातङ्गघटाविघट्टितैः कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः गृहीतदिक्कैः अपुनर्निवर्तिभिः दिग्गजैः चिराय याथार्थ्यम् अलम्भि ।

[विग्रहः] तस्य इमे तदीयाः, तदीयाश्च ते मातङ्गाश्च तदीयमातङ्गाः, तदीयमातङ्गानां घटाः तदीयमातङ्गघटाः, ताभिः विघट्टिताः तदीयमातङ्गघटाविघट्टिताः तैः । कटस्थलेभ्यः प्रोषितानि दानवारीणि येषां ते कटस्थलप्रोषितदानवारयः, तैः कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः । गृहीता दिशो यैस्ते गृहीतदिक्काः, तैः गृहीतदिक्कैः । न पुनर्निवर्तन्ते इति अपुनर्निवर्तिनः, तैः अपुनर्निवर्तिभिः । यथार्थस्य भावो याथार्थ्यम् । तत्तथाभूतम् । दिशां गजाः दिग्गजाः, तैः दिग्गजैः ।

[अर्थः] तदीयमातङ्गघटाविघट्टितैः=रावणसम्बन्धिगजसमूहव्यूहाभिहतैः । कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः=गण्डस्थलापगतदानजलप्रवाहैः । गृहीतदिक्कैः=पलाय्य गृहीत-

दिगन्तैः। भयात्प्रपलाय्य संश्रितदिक्प्रान्तैः। अपुनर्निवर्त्तिभिः=पुनरागमनरहितैः। भयाद्दिक्प्रान्तेष्वेव स्थितिं कुर्वद्भिः। दिग्गजैः=ऐरावतादिभिरष्टभिर्दिशागजैः :। चिराय=चिररात्राय। याथार्थ्यं=अनुगतार्थनामकत्वम्। अलम्भि=प्रापि। लब्धम्। अधिगतम्।

[भवार्थः] मन्ये—रावणहस्तिघटाभिर्विघट्टिता दिशागजाः प्रपलाय्य संश्रितदिक्प्रान्ता अपुनर्निवर्त्तिनोऽन्वर्थदिग्गजतां प्रापुः।

[कोशः] 'गजानां घटना घटा' इत्यमरः। 'गण्डः कटो मदो दानम्' इत्यमरः।

[वाच्यप०] तदीयमातङ्गघटाविघट्टिताः घटस्थलप्रोपितदानवारयः गृहीतदिक्काः अपुनर्निवर्तिनः दिग्गजाः चिराय याथार्थ्यम् अलप्सत।

[भाषाटीका] रावण के हाथियों की घटाओं से (समूह से) परास्त हुए दिशाओं के हाथी डरके मारे दिशाओं के प्रान्त भागों में जाकर छिप गए और फिर लौटकर नहीं आए इसलिए उनका दिग्गज यह नाम अन्वर्थ होगया॥६४॥

अभीक्ष्णमुष्णैरपि तस्य सोष्मणः
सुरेन्द्रबन्दीश्वसितानिलैर्यथा।
सचन्दनाम्भःकणकोमलैस्तथा
वपुर्जलार्द्रापवनैर्न निर्ववौ॥६५॥

[सर्वङ्कषा] अभीक्ष्णमिति। ऊष्मणा—स्मरज्वरेण सहितः सोष्मा तस्य सोष्मणस्तस्य—रावणस्य वपुरभीक्ष्णं—भृशमुष्णैरपि। शोकादिति भावः। सुरेन्द्रस्य बन्द्यः—बन्दीकृताः स्त्रियः तासां श्वसितानिलैर्निःश्वासमारुतैर्यथा निर्ववौ-निर्वृतम्। 'निर्वाणं निर्वृतौ मोक्षे' इति वैजयन्ती। तथा सचन्दनाम्भःकणाः—चन्दनोदकबिन्दुसहिताः, ते च ते कोमला मृदुलाश्च तैर्जलार्द्राणां–जलोक्षिततालवृन्तानां पवनैर्न निर्ववौ। 'धुवित्रं तालवृन्तं स्यादुत्क्षेपव्यजनं च तत्। 'जलेनार्द्रं जलार्द्रा स्यात' इति

वैजयन्ती। अत्र सन्तप्तस्योष्णोपचारान्निर्वृतिरिति कारणविरुद्धकार्योत्पत्तिरूपो विषमालङ्कारः ॥ ६५ ॥

[अन्वयः] सोष्मणः तस्य वपुः अभीक्ष्णमुष्णैरपि सुरेन्द्र-बन्दीश्वसितानिलैः यथा निर्ववौ तथा सचन्दनाम्भःकणकोमलैः जलार्द्रापवनैः न (निर्ववौ)।

[विग्रहः] उष्मणा सह वर्तते इति सोष्मा, तस्य सोष्मणः। सुरेन्द्राणां बन्द्यः सुरेन्द्रबन्द्यः, श्वसितस्यानिलाः—श्वसितानिलाः। सुरेन्द्र-बन्दीनां श्वसितानिलाः, सुरेन्द्रबन्दीश्वसितानिलाः, तैः सुरेन्द्रबन्दी-श्वसितानिलैः। चन्दनेन सहितानि सचन्दनानि, सचन्दनानि च तानि अम्भांसि च सचन्दनाम्भांसि, सचन्दनाम्भसां कणाः सचन्दनाम्भः-कणाः, सचन्दनाम्भः कणाश्च ते कोमलाश्च सचन्दनाम्भःकणकोमलास्तैः—सचन्दनाम्भःकणकोमलैः। जलार्द्रायाः पवनाः जलार्द्रापवनास्तैः जलार्द्रापवनैः।

[अर्थः] सोष्मणः = कामज्वरपीडितस्य। स्मरदाहार्दितस्य। तस्य = रावणस्य। वपुः = शरीरम्। अभीक्ष्णं = भृशम्। उष्णैरपि = सन्तप्तैरपि। सुरेन्द्रबन्दीश्वसितानिलैः = देवेन्द्रबन्दीकृतसुन्दरीनिःश्वासमारुतैः। यथा निर्ववौ = यथा शान्तिमाप। तथा = तादृशं। सचन्दनाम्भःकणकोमलैः = चन्दनोदककणसहितैर्मृदुलैः। चन्दनशीतलजलबिन्दुहृद्यैः। जलार्द्रा-पवनैः = जलार्द्रतालवृन्तपवनैः। न निर्ववौ = न निर्वृतम्। न शान्तिमाप।

[भावार्थः] स्मरार्दितस्य रावणस्य मनः सुरेन्द्रबन्दी-निःश्वासमारुतैर्यथा निर्वृतिं जगाम, तथा जलार्द्रतालवृन्तपवनै-रपि न शान्तिं जगाम।

[कोशः] 'निर्वाणं निर्वृतौ मोक्षे' इति वैजयन्ती। 'धुवित्रं तालवृन्तं स्यादुत्क्षेपव्यजनञ्च तत्। जलेनार्द्रं जलार्द्रा स्यात्' इति वैजयन्ती।

वैजयन्ती। अत्र सन्तप्तस्योष्णोपचारान्निर्वृतिरिति कारणविरुद्धकार्योत्पत्तिरूपो विषमालङ्कारः ॥ ६५ ॥

[अन्वयः] सोष्मणः तस्य वपुः अभीक्ष्णमुष्णैरपि सुरेन्द्रबन्दीश्वसितानिलैः यथा निर्ववौ तथा सचन्दनाम्भःकणकोमलैः जलार्द्रापवनैः न (निर्ववौ)।

[विग्रहः] उष्मणा सह वर्तते इति सोष्मा, तस्य सोष्मणः। सुरेन्द्राणां बन्द्यः सुरेन्द्रबन्द्यः, श्वसितस्यानिलाः—श्वसितानिलाः। सुरेन्द्रबन्दीनां श्वसितानिलाः, सुरेन्द्रबन्दीश्वसितानिलाः, तैः सुरेन्द्रबन्दीश्वसितानिलैः। चन्दनेन सहितानि सचन्दनानि, सचन्दनानि च तानि अम्भांसि च सचन्दनाम्भांसि, सचन्दनाम्भसां कणाः सचन्दनाम्भःकणाः, सचन्दनाम्भः कणाश्च ते कोमलाश्च सचन्दनाम्भःकणकोमलास्तैः—सचन्दनाम्भःकणकोमलैः। जलार्द्रायाः पवनाः जलार्द्रापवनास्तैः जलार्द्रापवनैः।

[अर्थः] सोष्मणः = कामज्वरपीडितस्य। स्मरदाहार्दितस्य। तस्य =रावणस्य। वपुः =शरीरम्। अभीक्ष्णं = भृशम्। उष्णैरपि =सन्तप्तैरपि। सुरेन्द्रबन्दीश्वसितानिलैः = देवेन्द्रबन्दीकृतसुन्दरीनिःश्वासमारुतैः। यथा निर्ववौ =यथा शान्तिमाप। तथा =तादृशं। सचन्दनाम्भःकणकोमलैः =चन्दनोदककणसहितैर्मृदुलैः। चन्दनशीतलजलबिन्दुहृद्यैः। जलार्द्रापवनैः =जलार्द्रतालवृन्तपवनैः। न निर्ववौ = न निर्वृतम्। न शान्तिमाप।

[भावार्थः] स्मरार्दितस्य रावणस्य मनः सुरेन्द्रबन्दीनिःश्वासमारुतैर्यथा निर्वृतिं जगाम, तथा जलार्द्रतालवृन्तपवनैरपि न शान्तिं जगाम।

[कोशः] 'निर्वाणं निर्वृतौ मोक्षे' इति वैजयन्ती। 'धुवित्रं तालवृन्तं स्यादुत्क्षेपव्यजनञ्च तत्। जलेनार्द्रं जलार्द्रा स्यात्' इति वैजयन्ती।

लक्ष्म्या । वसन्तीति वास्तव्याः, वास्तव्याश्च ते कुटुम्बिनश्च, वास्तव्य-कुटुम्बिनः, तेषां भावः—वास्तव्यकुटुम्बिता । ताम् वास्तव्यकुटुम्बिताम् ।

[अर्थः] **सदा = सर्वदा । नित्यम् । असमये समयेऽपि च । न तु यथाकालमेवेत्यर्थः । प्रसूनप्रक्लृप्तिं = पुष्पसमृद्धिम् । कुसुमसम्पत्तिम् । दधतः = धारयन्तः । बिभ्रतः । ऋतवः = वसन्तादिका ऋतवः । वर्षाः = प्रावृडृतुः । तपेन = ग्रीष्मेण ऋतुनासह । किञ्च—हिमागमः = हेमन्त ऋतुः । शरदा = शरदृतुना सह । (तथा—) शिशिरः = शिशिराख्य ऋतुः । वसन्तलक्ष्म्या = वसन्तर्त्तुशोभया । तत्समृद्ध्या च । समेत्य = मिथुनीभावेन मिलित्वा । दम्पतिभावेन मिलित्वैव । (प्रावृट्–शरद्–वसन्तलक्ष्मीशब्दानां स्त्रीत्वात् तप—हिमागम—शिशिर-शब्दानां पुंस्त्वान्मिथुनीभावोत्प्रेक्षा) । अस्य = रावणस्य । पुरे = नगरे । वास्तव्यकुम्बितां = पुरवासिगृहस्थभावम् । प्रतिवासिताम् । नागरिकताम् । ययुः = दधुः । प्रापुः ।**

[भावार्थः] वर्षाद्या ऋतवो ग्रीष्मादिभिर्ऋतुभिर्मिथुनीभूय रावणपुर्यां लङ्कायां स्वयमेव निवासं चक्रुरिव । कथमन्यथा तस्यां नगर्यां सर्वर्त्तुसम्पदो नित्यमवस्थितिः । सर्वर्त्तुशोभा-सम्पत्समृद्धं रावणपुरमित्याशयः ।

[कोशः] 'प्रसूनं कुसुमं सुमम्' इत्यमरः । 'उष्ण ऊष्मागमस्तपः' इत्यमरः । 'स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूम्नि वर्षा अथ शरत्स्त्रियाम्' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] प्रसूनक्लृप्तिं दधद्भिः ऋतुभिः—वर्षाभिः तपेन शरदा हिमागमेन वसन्तलक्ष्म्या शिशिरेण समेत्य अस्य पुरे वास्तव्यकुटुम्बिता ययें ।

[भाषाटीका] रावण की पुरी लङ्का में वर्षा ऋतु (स्त्री) ने ग्रीष्म-ऋतु (पुरुष) के साथ मिलकर (विवाह कर) तथा शरदृतु (स्त्री) ने हेमन्तऋतु (पुरुष) के साथ मिलकर (विवाह कर), एवं वसन्तलक्ष्मी (स्त्री) ने शिशिर के साथ मिलकर (विवाह कर) रहने के लिए [गृहस्थजीवन बिताने के लिए) वरही बान्ध लिया है । अर्थात् वे लङ्का के

नागरिक व सद्गृहस्थ ही मानों बन गए हैं, अन्यथा सदा एक साथ छहों ऋतुओं की समृद्धि वहां कैसे देखने में आती ? ॥ ६६ ॥

स चायमासन्नविनाशस्तुभ्यमपि बुद्ध्वा पुनस्त्वयैव हत इति युग्मेनाह—

अमानवं जातमजं कुले मनोः
प्रभाविनं भाविनमन्तमात्मनः ।
मुमोच जानन्नपि जानकीं न यः
सदाऽभिमानैकधना हि मानिनः ॥ ६७ ॥

[सर्वङ्कषा] अमानवमिति । मनोरयं मानवः । 'तस्येदम्' इत्यण्प्रत्यये पर्यवसानाज्जातावेकवचनम् । अन्यथा मनोर्जातमित्येव स्यात् । अमानवम्—अमानुषम् । न जायत इति—अजम् । 'अन्येष्वपि दृश्यते' इति डप्रत्ययः । तथापि—मनोः कुले जातं—रामस्वरूपेणोत्पन्नमिति विरोधः । स चाभासत्वादलङ्कार इत्याह—प्रभाविनमिति । महानुभावे तस्मिन्न कश्चिद्विरोध इति भावः । 'आभीक्ष्ण्ये णिनिः' इति णिनिः । इनिर्वा मत्वर्थीयः । 'भवन्त' मितिशेषः । आत्मनः—स्वस्य । अन्तम्—अन्तं करोतीत्यन्तम् । अन्तशब्दात् 'तत्करोति—' इति ण्यन्तात्पचाद्यच् । भाविनं—भविष्यन्तम् । 'भविष्यति गम्यादयः' । जानन्नपि यो—रावणः, जनकस्यापत्यं स्त्री जानकी—सीता, तां न मुमोच—नामुञ्चदित्यन्वयः । जानतोऽप्यमोचने कारणमाह—मानिनः सदा—प्राणात्ययेऽप्यभिमान एवैकं मुख्यधनं येषां ते । प्राणात्ययेऽपि न मानं मुञ्चन्तीत्यर्थः । कारणेन कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ६७ ॥

[अन्वयः] अमानवम् अजम् मनोः कुले जातम् प्रभाविनम् (भवन्तम्) आत्मनः अन्तम् भाविनम् जानन्नपि यः जानकीं न मुमोच । हि मानिनः सदा अभिमानैकधनाः भवन्ति ।

[विग्रहः] मनोरयं मानवः, न मानवः अमानवस्तम्—अमानवम् । न जायत इति—अजः, तमम्—अजम् । अन्तं करोति—अन्तयति, अन्तयतीति अन्तस्तम् । अभिमानमेव एकं धनं येषान्ते—अभिमानैकधनाः ।

[अर्थः] अमानवम् = अमानुषम् । अजं = नित्यम् । मनोः कुले = मनो राजर्षेः कुले । सूर्यवंशे । जातम् = उत्पन्नम् । रामचन्द्ररूपेणावतीर्णम् । प्रभाविनं = महाप्रभावम्, भवन्तम् । आत्मनः = स्वस्य । अन्तम् = अन्तकरम् । विनाशकं । भाविनं= भविष्यन्तम् । जानन्नपि = तत्त्वतो जानन्नपि । विदन्नपि । यः = रावणः । जानकीं = रामपत्नीं जनकसुतां सीताम् । न मुमोच = न तत्याज । हि = यतः । मानिनः = मानवन्तः । अभिमानिनः । सदा = सर्वदा । प्राणात्ययेऽपि समुपस्थिते । अभिमानैकधनाः = अभिमानमात्रसाराः । 'भवन्ती'ति शेषः ।

[भावार्थः] स रावणो रामं स्वान्तकरं विदन्नपि अभिमानात् सीतां न तत्याज । मानिनो हि अभिमानैकधना भवन्ति ।

[कोशः] 'मानश्चित्तसमुन्नतिः' इत्यमरः । 'गर्वोऽभिमानोहङ्कारः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] अमानवम् अजं मनोः कुले जातं जानता येन जानकी न मुमुचे । मानिभिः सदा अभिमानैकधनैर्भूयते ।

[भाषाटीका] वह रावण भगवान् रामचन्द्रजीको (आपको) जो मनु के वंश में विष्णु के अवतार थे अपने मारनेवाला जानता हुआ भी सीता को वापिस देने में तैयार नहीं हुआ, क्योंकि मानियों को प्राण से भी बढ़कर बात की आन का ही ध्यान रहता है । प्राण रहते वे अपनी बात नहीं छोड़ते हैं ॥ ६७ ॥

स्मरत्यदो दाशरथिर्भवन्भवा-
नमुं वनान्ताद्वनितापहारिणम् ।
पयोधिमाबद्धचलज्जलाविलं
विलङ्घ्य लङ्कां निकषा हनिष्यति ॥ ६८ ॥

[सर्वङ्कषा] स्मरतीति । भातीति भवन् । भातेर्डवतुः । दशरथस्यापत्यं पुमान्दाशरथिः । 'अत इञ्' इतीञ्प्रत्ययः । भवन् । रामः सन्नित्यर्थः । भवतेर्लटः शत्रादेशः । वनान्तात्—दण्डकारण्यात् । वनितापहारिणं—

सीतापहर्तारममुं—रावणम् । आबद्धः—प्रक्षिप्ताद्रिभिर्बद्धसेतुः, अतएव चलन्ति जलानि यस्य स च, अतएव आविलश्च तम्—**आबद्धचलज्जलाविलं पयोधिं विलङ्घ्य लङ्कां निकषा**—लङ्कासमीपे। 'समयानिकषाशब्दौ सामीप्ये त्वव्यये मतौ' इति हलायुधः। 'अभितः परितः समयानिकषाहाप्रति-योगेऽपि'इति द्वितीया। हनिष्यति-अवधीत्। 'अभिज्ञावचने लृट्' इति भूते लृट्। अदो हननं भवान्स्मरतीति काकुः । प्रत्यभिजानासि किमित्यर्थः। शेषे प्रथमः ॥ ६८ ॥

[अन्वयः] भवान् दाशरथिर्भवन् वनान्ताद्वनितापहारिणम् अमुम् आबद्धचलज्जलाविलम् पयोधिं विलङ्घ्य लङ्कां निकषा हनिष्यति—अदः (भवान्) स्मरति ? ।

[विग्रहः]वनिताम् अपहरति तच्छीलः-वनितापहारी, तम्-वनितापहारिणम्। चलन्ति-आविलानि च जलानि यस्याऽसौ चलज्जलाविलः, आबद्धश्चासौ चलज्जलाविलश्च—आबद्धचलज्जलाविलः, तम्—आबद्धचलज्जलाविलम् ।

[अर्थः] भवान् = भासमानस्त्वम् । दाशरथिः = दशरथापत्यं रामभद्रः । भवन् = सन् । वनान्तात् = दण्डकारण्यप्रान्तात् । वनितापहारिणं = स्वदारापहारिणम् । सीतापहर्तारम् । अमुं = रावणम् । आबद्धचलज्जलाविलं = प्रस्तरनिबद्धसेतुं, चञ्चलकलुषीभूतजलञ्च । पयोधिं = सागरम् । विलङ्घ्य=उल्लङ्घ्य। लङ्कां निकषा = लङ्कायाः समीपे । हनिष्यति – अवधीत् । अदः – रावणहननम् । (भवान्—) स्मरति= भवानिदानीमपि प्रत्यभिजानाति किम् ? ॥

[भावार्थः] भवान् दाशरथ्यवतारेऽमुं रावणं चलत्कलुषीभवज्जले समुद्रे सेतुं बद्ध्वा लङ्कासमीपेऽवधीदित्येतत्किं संप्रति (भवान्) स्मरति ? ।

[कोशः] 'समयानिकषाशब्दौ सामीप्ये त्वव्यये मतौ' इति हलायुधः ।

[वाच्यपरि०] दाशरथिना भवता वनान्ताद्वनितापहारी असौ पयोधिं विलङ्घ्य लङ्कां निकषा हनिष्यते अदः स्मर्य्यते ? ।

[भाषाटीका] आपने रामावतार में उस रावण को (काले व चञ्चल जल वाले) समुद्र पर सेतु बनाकर लङ्का में जाकर मारा था–यहआपको स्मरण है न ? ॥ ६८ ॥

अथोपपत्तिं छलनापरोऽपरा-
मवाप्य शैलूष इवैष भूमिकाम् ।
तिरोहितात्मा शिशुपालसञ्ज्ञया
प्रतीयते सम्प्रति सोऽप्यसः परैः ॥ ६९ ॥

[सर्वङ्कषा] अथेति । राक्षसदेहत्यागानन्तरं सम्प्रति छलनापरः-परप्रतारणापरः, एष—रावणः, शैलूषो— नटः, तस्य भूमिकां—रूपान्तरमिव । 'शैलूषो नटबिल्लयोः' । 'भूमिका रचनायां स्यान्मूर्त्यन्तरपरिग्रहे' इति च विश्वः । अपरामुपपत्तिम्–जन्मान्तरमित्यर्थः । अवाप्य शिशुपालसञ्ज्ञया तिरोहितात्मा—तिरोहितस्वरूपः सन् । सोऽपि—रावण एव सन्नपि । परैरितरैः । स न भवतीत्यसः—तस्मादन्य एव । 'नञ्'इति नञ्समासः । अतएव 'एतत्तदोः सुलोपो—' इत्यादिना न सुलोपः । प्रतीयते ज्ञायत इति,—प्रतिपूर्वादिणः कर्मणि लट् । यथैक एव शैलूषो रूपान्तरमास्थाय तद्देशभाषादिभिरन्य इव प्रतीयते तद्वदयमपि मानुषदेहपरिग्रहादन्य इव भाति । दौर्जन्यं तु तदेवेत्यवश्यं संहार्य इति भावः ॥ ६९ ॥

[अन्वयः] अथ सम्प्रति छलनापर एष शैलूषो भूमिकामिव अपराम् उपपत्तिम् अवाप्य शिशुपालसञ्ज्ञया तिरोहितात्मा सोऽपि परैः असः प्रतीयते ।

[विग्रहः] छलनायां परः छलनापरः । तिरोहित आत्मा येनासौ-तिरोहितात्मा । शिशुपाल इति सञ्ज्ञा शिशुपालसञ्ज्ञा, तया शिशुपाल-सञ्ज्ञया । न सः असः ।

[अर्थः] अथ = रावणदेहत्यागानन्तरम् । सम्प्रति = इदानीम् । छलनापरः = परप्रतारणपरायणः । एषः = रावणः । शैलूषः = नटः । भूमिकामिव = रूपान्तरमिव । नानारूपपरि-

ग्रहमिव । अपराम् = अन्याम् । उपपत्तिम् = रूपमिव । जन्मान्तरमित्यर्थः । अवाप्य = गृहीत्वा । लब्ध्वा । शिशुपालसञ्ज्ञया = शिशुपालनाम्ना । तिरोहितात्मा = तिरोहितस्वरूपः सन् । प्रच्छन्नस्वरूपः सन् । सोऽपि=स एव । रावण एव सन्नपि । परैः = इतरैः । लोकैः । असः = तदतिरिक्त एव । रावणान्य एव । प्रतीयते = ज्ञायते ।

[भावार्थः] स रावणो नटो रूपान्तरमिव नवीनं रूपमास्थाय शिशुपालनाम्ना सम्प्रति वर्त्तमानोऽपि लोकैरन्योऽयं कश्चिन्न रावण इति तद्भिन्नतया प्रतीयते । वस्तुतः स एवायं खलो लोकं शिशुपालरूपेण पीडयतीति वध्योऽयं भवतेत्याशयः ।

[कोशः] 'शैलूषो नटभिल्लयोः' इति विश्वः । 'भूमिका रचनायां स्यान्मूर्त्यन्तरपरिग्रहे' इति विश्वः ।

[वाच्यप०] अथ सम्प्रति छलनापरं शैलूषं भूमिकामिव अपरामुपपत्तिमवाप्य शिशुपालसञ्ज्ञया तिरोहितात्मानं तमपि परे अन्यं प्रतियन्ति ।

[भाषाटीका] आपसे मारा गया वह रावण अब नट की तरह एक रूप छोड़कर शिशुपाल नामक नया रूप ग्रहणकर लोक में अवतीर्ण होकर संसार को पीड़ित कर रहा है । लोग इसे पहिचानते नहीं हैं । और लोग जानते हैं कि यह कोई और ही है, पर वस्तुतः यह रावण ही है और संसार को पूर्ववत् क्लेश देरहा है ॥ ६९ ॥

अथैतद्दौर्जन्यं त्रिभिराविष्करोति—

स बाल आसीद्वपुषा चतुर्भुजो
मुखेन पूर्णेन्दुनिभस्त्रिलोचनः ।
युवा कराक्रान्तमहीभृदुच्चकै-
रसंशयं सम्प्रति तेजसा रविः ॥ ७० ॥

[सर्वङ्कषा] स बाल इति । सः—शिशुपालो बालः सन् वपुषा चतुर्भुजो—भुजचतुष्टयवानासीत् । विष्णुरिति ध्वनिः । मुखेन पूर्ण-

न्दुनिभस्तत्तुल्यः, त्रिलोचनो लोचनत्रयवानासीत् । त्र्यम्बक इति ध्वनिः । बालविशेपणात्सम्प्रति तत्सर्वमन्तर्हितमिति भावः। सम्प्रति तु युवा सन्करेण बलिना आक्रान्तमहीभृत्—अधिष्ठितराजकः सन् । अन्यत्र—अंशु-व्याप्तशैलः । 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः । उच्चैस्तेजसा रविरसंशयम्। संशयो नास्तीत्यर्थः। अर्थाभावेऽव्ययीभावः । वपुपा मुखेन चेति 'येनाङ्गविकारः' इति तृतीया । हानिवदाधिक्यस्यापि विकारत्वात् । तथाच वामनः—'हानिवदाधिक्यमप्यङ्गविकारः' इति । तेजसेति 'प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्' इति तृतीया । कराक्रान्तेत्यादिना श्लेषानुप्राणितेयमुत्प्रेक्षा रविरसंशयमिति । तस्य पूर्णेन्दुनिभ इत्युपमया संसृष्टिः । हरिहरादितुल्य-महिमत्वादतिदुर्धर्षः स इति भावः ॥ ७० ॥

[अन्वयः] स बालः वपुषा चतुर्भुजः आसीत्, मुखेन पूर्णेन्दुनिभः त्रिलोचनः (आसीत्)। सम्प्रति युवा कराक्रान्त-महीभृत् उच्चैः तेजसा असंशयं रविः ।

[विग्रहः] चत्वारः भुजा यस्याऽसौ चतुर्भुजः । पूर्णश्चासौ इन्दुश्चेति पूर्णेन्दुः, पूर्णेन्दुना तुल्यः—पूर्णेन्दुनिभः । त्रीणि लोचनानि यस्यासौ त्रिलोचनः । करैः क्रान्ताः, कराक्रान्ताः, कराक्रान्ता महीभृतो येनासौ कराक्रान्तमहीभृत् ।

[अर्थः] सः = शिशुपालः । बालः = शिशुरेव । बाल्यावस्था-यामित्यर्थः । वपुषा = शरीरेण । चतुर्भुजः = बाहुचतुष्टयधारी । आसीत् = अभवत् । मुखेन = आस्येन । पूर्णेन्दुनिभः = पूर्ण-चन्द्रसदृशः । पूर्णचन्द्रोपम इत्यर्थः । [आसीदिति शेषः ।] त्रिलो-चनः = त्र्यम्बकः । त्रिनेत्रः । आसीदिति शेषः । सम्प्रति = इदानीन्तु । युवा = तरुणः सन् । सः = शिशुपालः । कराक्रान्त-महीभृत् = करदीकृतभूपालः । सूर्यपक्षे — किरणाक्रान्तभूधर इत्यर्थः । उच्चैः = अतिमहता । तेजसा – प्रतापेन । असंशयं = निःसंशयम् । ध्रुवम् । अवश्यमेव । रविः = सूर्य एव । 'अस्ती'ति शेषः ।

[भावार्थः] सः शिशुपालो बाल एव चतुर्भुजश्चन्द्रमुखस्त्र्यम्बक आसीत्, इदानीन्तु युवावस्थायां वर्त्तमानो विजितराजमण्डलः कराक्रान्तमहीभृत्तेजसा साक्षात्सूर्य इव प्रकाशमानो विराजते ।

[कोशः] 'गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः'इत्यमरः ।

'वयस्थस्तरुणो युवा' इत्यमरः । 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] तेन बालेन वपुषा चतुर्भुजेन अभूयत । मुखेन पूर्णेन्दुनिभेन त्रिलोचनेन (अभूयत)। सम्प्रति कराक्रान्तमहीभृता उच्चैः तेजसा असंशयं रविणा (भूयते)।

[भाषाटीका] यह शिशुपाल बाल्यावस्था में ही चार भुजावाला और पूर्ण चन्द्रमा की तरह मुखवाला तथा त्रिलोचन था । अब युवावस्था में अपने प्रताप से सब राजाओं को वश में करके कर ग्रहण करता है और कराक्रान्तमहीभृत होनेके कारण तथा महातेजस्वी होने के कारण साक्षात् सूर्य की तरह मालूम होता है । (कराक्रान्तमहीभृत् = सब राजाओं से कर लेने वाला । सूर्य पक्ष में—सब पर्वतों पर जिसकी किरणें पड़ रही हों) ॥७०॥

स्वयं विधाता सुरदैत्यरक्षसा-
मनुग्रहावग्रहयोर्यदृच्छया ।
दशाननादीनभिराद्धदेवता-
वितीर्णवीर्यातिशयान्हसत्यसौ ॥ ७१ ॥

[सर्वङ्कषा] स्वयमिति । यदृच्छया—स्वेच्छया, स्वयं—सामर्थ्येन । नतु देवताप्रसादबलादिति भावः । सुरदैत्यरक्षसां—देवदानवयातुधानानाम्—अनुग्रहावग्रहयोः—प्रसादनिग्रहयोर्विधाता—कर्ता, असौ शिशुपालः — अभिराद्धाभिः — आराधिताभिर्देवताभिरीश्वरादिभिः, वितीर्णो — दत्तो वीर्यातिशयः — प्रभावातिशयो येषां तान्दशाननादीन्हसति । अनन्यप्रसादलब्धैश्वर्यो मयि कथं याचकैस्तुल्यतेति गर्वाद्धसतीत्यर्थः ॥ ७१ ॥

[अन्वयः] यदृच्छया स्वयं सुरदैत्यरक्षसाम् अनुग्रहविग्रहयोर्विधाता असौ अभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयान् दशाननादीन् हसति ।

[विग्रहः] सुराश्च दैत्याश्च रक्षांसि चेति सुरदैत्यरक्षांसि — तेषाम् सुरदैत्यरक्षसाम् । अनुग्रहश्च अवग्रहश्च अनुग्रहावग्रहौ, तयोः—अनुग्रहावग्रहयोः । अभिराद्धाश्च ताः देवताश्चेति अभिराद्धदेवताः, अभिराद्धदेवताभिः वितीर्णो वीर्यातिशयो येषां ते—अभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयाः, तान् अभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयान् । दशाननः आदिर्येषां ते दशाननादयस्तान् — दशाननादीन् ।

[अर्थः] यदृच्छया = तपश्चरणादिलब्धवरदानादिकं विनैव । स्वेच्छयैव । स्वयम् = आत्मनैव । सुरदैत्यरक्षसां = देवदैत्यराक्षसादीनाम् । अनुग्रहावग्रहयोः = यथायथं निग्रहानुग्रहयोः । प्रसाददण्डयोः । विधाता = विधायकः । असौ= शिशुपालः । अभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयान् = समाराद्धदेवतादत्तपराक्रमविशेषान् । आराद्धब्रह्मशिवादिदेवताप्रदत्तपराक्रमातिशयान् । दशाननादीन् = रावणहिरण्यकशिप्वादीन् । हसति = उपहसति ।

[भावार्थः] सहजनिग्रहानुग्रहसामर्थ्यो देवताप्रसादलब्धपराक्रमातिशयान् रावणादीनसौ शिशुपालो हसति ।

[कोशः] 'यदृच्छा स्वैरता' इत्यमरः ।

[वाच्यप०]—यदृच्छया स्वयं सुरदैत्यरक्षसां विधात्रा अमुना अभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयाः दशाननादयो हस्यन्ते ।

[भाषाटीका] जिसका स्वाभाविक ही विशेष पराक्रम है वह शिशुपाल रावणादि वीरों की जिन्हों ने तप आदि से देवताओं को प्रसन्न कर वरदान द्वारा शक्ति विशेष प्राप्त की थी — हंसी उड़ाता है कि दूसरे के सहारे वीर बने तो क्या बने ॥ ७१ ॥

बलावलेपादधुनापि पूर्ववत्-
त्प्रबाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा ।
सतीव योषित्प्रकृतिः सुनिश्चला
पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि ॥ ७२ ॥

[सर्वङ्कषा] बलेति । जिगीषुणा । नित्योत्साहवतेत्यर्थः । तेन—शिशुपालेन, बलावलेपाद्बलगर्वादधुनापि पूर्ववत्पूर्वजन्मनीव जगत्प्रबाध्यते । तथाहि — सती — पतिव्रता योषिदिव सुनिश्चलातिस्थिरा प्रकृतिः—स्वभावो, भवान्तरेषु—जन्मान्तरेष्वपि पुमांसमभ्येति ।

'पतिं या नाभिचरति मनोवाक्कायसंयता ।

सा भर्तुर्लोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ।' इति मनुः । उपमोपमेयपुरस्कृतोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ७२ ॥

[अन्वयः] जिगीषुणा तेन बलावलेपादधुनापि पूर्ववत् जगत्प्रबाध्यते । सती योषिदिव सुनिश्चला प्रकृतिः भवान्तरेष्वपि पुमांसम् अभ्येति ।

[विग्रहः] बलस्य बलाद्वा अवलेपः बलावलेपः, तस्मात् बलावलेपात् । विजेतुमिच्छुः—विजिगीषुः, तेन विजिगीषुणा । सुष्ठु निश्चला सुनिश्चला । अन्ये भवाः भवान्तराणि, तेषु भवान्तरेषु ।

[अर्थः] जिगीषुणा = विजयेच्छुना । जगद्विजेतुमिच्छता । जयनशीलेन । तेन = शिशुपालेन । बलावलेपात् = बलदर्पात् । बलावष्टम्भात् । अधुनाऽपि—इदानीमपि । जगत् = भुवनम् । त्रैलोक्यम् । पूर्ववत् = पूर्ववदेव । प्रबाध्यते = प्रपीड्यते । (तथाहि—) सती = पतिव्रता । योषदिव = स्त्रीव । सुनिश्चला = ध्रुवा । अविचालनीया । प्रकृतिः = स्वभावः । भवान्तरेष्वपि = जन्मान्तरेष्वपि । पुमांसं = पुरुषम् । अभ्येति = प्राप्नोति । अनुगच्छति ।

[भावार्थः] विजिगीषुणा शिशुपालेनास्मिन्नपि जन्मनि (रावणादि) पूर्वजन्मवज्जगत्पीड्यते । स्वभावो हि जन्मान्तरेष्वपि पुमांसमभ्येति ।

[कोशः] 'दर्पोऽवलेपोऽवष्टम्भः' इत्यमरः । 'एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा' इत्यमरः । 'त्रिष्वथो जगती लोको विष्टपं भुवनं जगत्' इत्यमरः । 'स्त्री योषिदबला योषा' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] जिगीषुः स बलावलेपादधुनाऽपि पूर्ववत् जगत् प्रबाधते। सत्या योषिता इव सुनिश्चलया प्रकृत्या भवान्तरेष्वपि पुमान् अभीयते ।

[भाषाटीका] जैसे रावण जगत को दुःख देता था वैसे ही शिशुपाल भी जगत को पीडा पहुँचा रहा है । पूर्वजन्म में इस शिशुपाल का जो स्वभाव था वह इस जन्म में भी उसके साथ ही है । जैसे सती स्त्री पुरुष को जन्मान्तर में भी छोड़ती नहीं किन्तु उसके साथ ही जाती है वैसे ही प्रकृति (स्वभाव) भी जन्मान्तर में भी साथ ही जाती है, छोड़ती नहीं । अर्थात् शरीर बदलने पर भी प्रकृति नहीं बदलती है । [शिशुपाल पूर्व जन्म में रावण था] ॥७२॥

तदेनमुल्लङ्घितशासनं विधे-
र्विधेहि कीनाशनिकेतनातिथिम् ।
शुभेतराचारविपक्त्रिमापदो
विपादनीया हि सतामसाधवः ॥ ७३ ॥

[सर्वङ्कषा] तदेनमिति । तत्तस्माद्विधेर्विधातुरप्युल्लङ्घितशासनम् । स्वयं विधातेत्याद्युक्तरीत्यातिक्रान्तदैवशासनमित्यर्थः । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः । एनं–शिशुपालं । कीनाशनिकेतनातिथिं—कीनाशो यमस्तस्य निकेतनं गृहं तत्रातिथिं प्राघुणिकं, विधेहि—कुरु । यमगृहं प्रेषयेत्यर्थः । 'कीनाशः कर्षके क्षुद्रे कृतान्तोपांशुघातिनोः' इति विश्वः । न चैतत्प्राघुणिकहस्तेन सर्पमारणं भवादृशामवश्यकर्तव्यत्वादित्याह—शुभेतराचारेण–दुराचारेण, विपक्त्रिमाः—परिपाकेन निवृत्ताः कालपरिपाकेन प्राप्ता आपदो येषां ते तथोक्ताः । 'ड्वितः क्त्रिः' इति पचेः क्त्रिप्रत्ययः ।

क्त्रेर्मम्नित्यम्' इति तद्धितो मप्प्रत्ययः । असाधवो—दुष्टाः, सतां—भवादृशां जगन्नियन्तॄणां निपातनीयाः—वध्या हि । नच नैर्घृण्यदोषः, स्वदोषेणैव तेषां विनाशे निमित्तमात्रत्वादस्माकमित्याशयेन शुभेतराचारेत्यादिविशेषणोक्तिः । समान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ७३ ॥

[अन्वयः] तत् विधेः उल्लङ्घितशासनम् एनम् कीनाशनिकेतनातिथिं विधेहि । हि शुभेतराचारविपक्त्रिमापदः असाधवः सतां विपादनीयाः ।

[विग्रहः] उल्लङ्घितं शासनं येनासौ उल्लङ्घितशासनस्तम्—उल्लङ्घितशासनम् । कीनाशस्य निकेतनं कीनाशनिकेतनम्, कीनाशनिकेतनस्य अतिथिः—कीनाशनिकेतनातिथिः, तम् कीनाशनिकेतनातिथिम् । शुभादितरः शुभेतरः, शुभेतरश्चासौ आचारश्च शुभेतराचारः, विपाकेन निर्वृत्ताः विपक्त्रिमाः । शुभेतराचारेण विपक्त्रिमाः आपदो येषान्ते—शुभेतराचारविपक्त्रिमापदः ।

[अर्थः] तत्=तस्मात् । विधेः=ब्रह्मणः । उल्लङ्घितशासनम् = अतिक्रान्ताज्ञम् । उल्लङ्घितानुशासनम् । एन=शिशुपालम् । कीनाशनिकेतनाऽतिथिं=यमसदनप्राघुणिकम् । विधेहि = कुरु । हि= यतः । शुभेतराचारविपक्त्रिमापदः । अशुभाचारपरिप्राप्तविपत्तयः । स्वाशुभाचरणफलभूतविपदः । असाधवः=दुर्जनाः । खलाः । सतां= साधूनाम् । विपादनीयाः=मारणीयाः । हन्तव्याः ।

[भावार्थः] तद्विधेर्विधानस्य जगतो मर्यादाया विनाशकम् एनं शिशुपालं विनाशय । दुष्टा हि स्वपापफलेनैव हतकल्पाः साधुभिर्विनाशनीया एव ।

[कोशः] 'विधाता विश्वसृड्विधिः' इत्यमरः । 'वेश्म सद्म निकेतनम्' इत्यमरः । 'कीनाशः कर्षके क्षुद्रे कृतान्तोपांशुघातिनोः' इति विश्वः ।

[वाच्यप०] तत् विधेः उल्लङ्घितशासनः अयम् कीनाशनिकेतनातिथिर्विधीयताम् । शुभेतराचारविपक्त्रिमापदोऽसाधून् सन्तो विपादयेयुः ।

[भाषाटीका] अत एव जगत् की मर्यादाको भङ्गकर संसार को क्लेश

देनेवाले इस शिशुपाल को आप शीघ्र ही यमराज के घर भेजिए। (मारिए)। दुष्टलोग अपने पाप के कारण ही मृत्यु के योग्य हैं। उनको मारने में साधुओं को कोई विचार करने की जरूरत नहीं है ॥ ७३ ॥

किञ्चैवं दुष्टनिग्रहे शिष्टानुग्रहः स्यादित्याह—

हृदयमरिवधोदयादुदूढ-
द्रढिम दधातु पुनः पुरन्दरस्य ।
घनपुलकपुलोमजाकुचाग्र-
द्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वम् ॥७४॥

[सर्वङ्कषा] हृदयमिति । अरिवधोदयात्—रिपुनाशलाभात् । उदूढद्रढिम-नैश्चिन्त्याद्धृतदार्ढ्यम्। स्वस्थमिति यावत्। पृथ्वादित्वाद्दृढशब्दादिमनिच्प्रत्ययः। 'र ऋतो हलादेर्लघोः' इति ऋकारस्य रेफादेशः । पुरः—शत्रुपुराणि दारयतीति पुरन्दर इन्द्रः । 'पूःसर्वयोर्दारिसहोः' इति खच्प्रत्ययः। 'खचि ह्रस्वः' इत्युपधाह्रस्वः। 'वाचंयमपुरन्दरौ च' इति निपातनाददन्तत्वं मुमागमश्च । तस्य हृदयं पुनर्भूयोऽपि । पूर्ववदेवेति भावः । घनपुलकयोः-सान्द्ररोमाञ्चयोः। पुलोम्नो जाता पुलोमजा—शची, तस्याः कुचाग्रयोर्द्रुतपरिरम्भः—औत्सुक्याच्छीघ्रालिङ्गनं तत्र यत्पीडनं तस्य क्षमत्वं, सहत्वं दधातु । प्राक्चित्तविक्षेपात्त्यक्तभोगेन शक्रेण सम्प्रति त्वत्प्रसादान्निष्कण्टकं स्वकीयं राज्यं भुज्यतामित्यर्थः। अत्र दार्ढ्यपदार्थस्योदूढद्रढिमेति विशेषणगत्या निपीडनक्षमत्वं प्रति हेतुत्वोक्त्या पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् । हृदयनिपीडनक्षमत्वसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्त्या सम्बन्धेऽसम्बन्धरूपातिशयोक्तिरित्यर्थालङ्कारौ,वृत्त्यनुप्रासश्च। तैरन्योन्यं संसृज्यते । पुष्पिताग्रा वृत्तम् । 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो, युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति लक्षणात् ॥७४॥

[अन्वयः] अरिवधोदयात् उदूढद्रढिम पुरन्दरस्य हृदयम् पुनः घनपुलकपुलोमजाकुचाग्रद्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वम् दधातु।

[विग्रहः] अरेर्वधः अरिवधः, अरिवध एव उदयः अरिवधोदयस्तस्मात्—अरिवधोदयात् । उदूढः द्रढिमा येन तत् उदूढद्रढिम । घनः पुलको

ययोस्तौ—घनपुलकौ, पुलोमजायाः कुचाग्रौ पुलोमजाकुचाग्रौ, घनपुलकौ च तौ पुलोमजाकुचाग्रौ च घनपुलकपुलोमजाकुचाग्रौ, तयोः द्रुतं परिरम्भः तेन निपीडनं—घनपुलकपुलोमजाकुचाग्रद्रुतपरिरम्भनिपीडनम्, तस्य क्षमत्वम्—घनपुलकपुलोमजाकुचाग्रद्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वं, तत्तथा भूतम्।

[अर्थः] अरिवधोदयात्=शत्रुविनाशसम्पत्त्या । शत्रुविनाशरूपाभ्युदयाद्वा । रिपुविनाशलाभाद्वा । उदूढद्रढिम = धृतदार्ढ्यम्। पुरन्दरस्य = महेन्द्रस्य । हृदयं = वक्षःस्थलम्। पुनः = भूयोऽपि । घनपुलकपुलोमजाकुचाग्रद्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वं = निबिडतमरोमाञ्चशचीकुचकलसाग्रसरभसदृढालिङ्गननिपीडनशक्ततां। दधातु = धारयतु। वहतु।

[भावार्थः] शत्रुविनाशलाभाज्जाताश्वासस्य महेन्द्रस्य वक्षःस्थलं निश्चिन्ततया धृतदार्ढ्यं भूयोऽपि सान्द्ररोमाञ्चावलिललितशचीकुचाग्रसरभसाश्लेषनिष्पेषसहतां दधातु । तत्प्रभो ! शिशुपालं शीघ्रं जहि, समाश्वासय महेन्द्रम्।

[कोशः] 'वृद्धश्रवाः शुनाशीरः पुरुहूतः पुरन्दरः' इत्यमरः।

[वाच्यप०] अरिवधोदयात् उदूढद्रढिम्ना पुरन्दरस्य हृदयेन परिरम्भनिपीडनक्षमत्वम् धीयताम्।

[भाषाटीका] आपके हाथ से शिशुपाल के मारे जाने से निश्चिन्त हुए महेन्द्र का वक्षस्थल पुनः इन्द्राणी के रोमाञ्चित कुचमण्डल के (अग्रभाग से जो दृढतर) आलिङ्गन उसके सहन करने की क्षमता को प्राप्त करे। अर्थात्—इन्द्राणी के साथ इन्द्र पुनः सुख का उपभोग करे—अतः इसे जल्दी मारिए ॥७४॥

ओमित्युक्तवतोथ शार्ङ्गिण इति व्याहृत्य वाचं नभ-
स्तस्मिन्नुत्पतिते पुरःसुरमुनाविन्दोःश्रियं बिभ्रति।
शत्रूणामनिशं विनाशपिशुनः क्रुद्धस्य चैद्यं प्रति
व्योम्नीव भ्रुकुटिच्छलेन वदने केतुश्चकारास्पदम् ॥

इति श्रीमाघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये श्रीकृष्णनारदसम्भाषणं नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

[सर्वङ्कषा] ओमिति । तस्मिन्सुरमुनौ-नारदे, इति-इत्थंभूतां
ाचं व्याहृत्य—उक्त्वा नभ उत्पतिते-समुद्गते पुरोऽग्रे इन्दोः श्रिय
भ्रति सति । अथ–मुनिवाक्यानन्तरमोमित्युक्तवतस्तथास्त्वित्यङ्गीकृत-
ः । 'ओं प्रश्नेऽङ्गीकृतौ रोषे' इति विश्वः । चेदीनां जनपदानामयं चैद्यः-
शुपालः । 'वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ्' इति ञ्यङ्प्रत्ययः । तं प्रति क्रुद्धस्य
ङ्गिणो वदने व्योम्नीवानिशं सर्वदा । अव्यभिचारेणेत्यर्थः । शत्रूणां
नाशस्य पिशुनः-सूचकः । 'चन्द्रमभ्युत्थितः केतुः क्षितीशानां विनाशकृत्'
ि शास्त्रादिति भावः । केतुरुत्पातविशेषः । 'केतुर्द्युतौ पताकायां ग्रहोत्पा-
रेलक्ष्मसु' इत्यमरः । भ्रुकुटिच्छलेन भ्रूभङ्गव्याजेनास्पदं-प्रतिष्ठां, स्थितिं
कार । 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' इति निपातनात्सुडागमः । अनेन वाक्यार्थ-
ास्य वीररससहकारिणो रौद्रस्य स्थायी क्रोधःस्वानुभावेन भ्रुकुट्या कार-
तोऽनुमेय इत्युक्तम् । तथा तदविनाभूतस्याङ्गिनो वीरस्य स्थायी प्रय-
ानेय उत्साहोऽप्युत्पन्न एवेत्यनुसन्धेयम् । इन्दोः श्रियं बिभ्रतीत्यत्र मुने-
दुश्रियोऽयोगात्तत्सदृशीमिति सादृश्याक्षेपादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूपो निद-
ालङ्कारः। वदने व्योम्नीवेत्युपमा । भ्रुकुटिच्छलेन केतुरिति छलादिशब्देना-
त्वप्रतिपादनरूपोऽपह्नवः । तत्र शत्रुविनाशसूचके त्वपेक्षितेन्दुसान्निध्य-
मभावस्थानसम्पादकत्वे निदर्शनोपमयोरपह्नवोपकारसत्वादङ्गाङ्गिभावेन
रः। चमत्कारकारितया मङ्गलाचरणरूपतया च सर्गान्त्यश्लोकेषु श्रीशब्द-
ागः । यथाह भगवान्भाष्यकारः–'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गला-
नि शास्त्राणि प्रथन्ते, वीरपुरुषाण्यायुष्मत्पुरुषाणि च भवन्ति, अध्येतारश्च
कारो भवन्ति' इति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् । 'सूर्याश्वैर्मसजस्तताः
रवः शार्दूलविक्रीडितम्' इति लक्षणात् । सर्गान्तत्वाद्वृत्तभेदः । यथाह
डी—'सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तैः सुगन्धिभिः । सर्वत्र भिन्नसर्गान्तैरु-
लोकरञ्जकम् ॥' इति ॥ ७५ ॥

अथ कविः कविकाव्यवर्णनीयाख्यानपूर्वकसर्गसमाप्तिं कथयति-इतीति ॥
शब्दः समाप्तौ । माघकृताविति कविनामकथनम् । महाकाव्ये इति
च्छब्देन लक्षणसम्पत्तिः सूचिता । शिशुपालवध इति काव्यनामकथ-

...नम् । प्रथमः सर्ग इति । 'समाप्त' इति शेषः । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ॥

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिते शिशुपालवध-
काव्यव्याख्याने सर्वङ्कषाख्ये प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

[अन्वयः] तस्मिन् सुरमुनौ इति वाचं व्याहृत्य नभः उत्पतिते पुरः इन्दोः श्रियम् बिभ्रति (सति), अथ ओम् इत्युक्तवतः चैद्यम्प्रति क्रुद्धस्य शार्ङ्गिणः वदने व्योम्नि इव अनिशं शत्रूणां विनाशपिशुनः केतुः भ्रुकुटिच्छलेन आस्पदं चकार ।

[विग्रहः] सुराणां मुनिः सुरमुनिः, तस्मिन् सुरमुनौ । विनाशस्य पिशुनः विनाशपिशुनः, भ्रुकुटेः छलम् भ्रुकुटिछलम्, तेन भ्रुकुटिच्छलेन ।

[अर्थः] तस्मिन् सुरमुनौ = नारदे । इति = इत्थम्भूतां । वाचम् =इन्द्रसन्देशगिरम् । व्याहृत्य =अभिधाय । उक्त्वा । नभः =गगनम् । उत्पतिते=समुद्गते । अभ्युद्गते । पुरः =अग्रे । इन्दोः =चन्द्रमसः । श्रियं = शोभाम् । लक्ष्मीम् । बिभ्रति =दधाने सति । अथ =इन्द्रसन्देशश्रवणानन्तरम् । 'ओम्' इत्युक्तवतः = अस्त्वेवमित्येवमङ्गीकृतवतः । चैद्यं प्रति =चेदिदेशाधिपतिं शिशुपालं प्रति । क्रुद्धस्य =रुष्टस्य । धृतक्रोधस्य । शार्ङ्गिणः =शार्ङ्गपाणेर्भगवतः श्रीकृष्णस्य । वदने =मुखे । व्योम्नीव =गगने इव । अनिशं =सर्वदा । नित्यम् । अव्यभिचारेण । शत्रूणां =रिपूणाम् । विनाशस्य =उच्छेदस्य । पिशुनः =सूचकः । केतुः =केतुनामोत्पातविशेषः । भ्रुकुटिच्छलेन =भ्रूभङ्गव्याजेन । आस्पदं =स्थितिम् । प्रतिष्ठाम् । चकार =विदधे ।

[भावार्थः] इत्थमिन्द्रसन्देशं श्रावयित्वा मुनौ नारदे नभ उत्पत्याऽग्रे चन्द्रशोभां दधाने सति—नारदोक्तमङ्गीकृतवतः शिशुपालं प्रति क्रुद्धस्य भगवतो वदने भ्रुकुटिच्छलेन शत्रुविनाशसूचकः केतुनामा उत्पातविशेषः स्थितिं चकार । चन्द्रबिम्बमभ्युत्थितश्च केतुर्नरेन्द्राणां विनाशक इति आगमविदः शाकुनिकाः ।

[कोशः] 'ओम् प्रश्नेऽङ्गीकृतौ रोषे' इति विश्वः । 'केतुर्द्युतौ पताकायां महोत्पातारिलक्ष्मसु' इत्यमरः । 'पिशुनौ खलसूचकौ' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] तस्मिन्.........विनाशपिशुनेन केतुना आस्पदं चक्रे ।

[भाषाटीका] इन्द्र का सन्देश सुनाकर नारदजी जब आकाश की ओर उड़े और आकाश में वे जब चन्द्रमा की तरह मालूम पड़ने लगे तब शिशुपाल को मारने की स्वीकृति देने के बाद भगवान् का मुख क्रोध से लाल हो गया और भ्रुकुटि चढ़ गई मानों शत्रुओं के विनाश का सूचन करनेवाला धूमकेतु नामक उत्पात ही भ्रुकुटि के बहाने भगवान् के मुख पर उदय हुआ । नारद मुनि चन्द्रमा की तरह थे, और भगवान का मुख आकाश की तरह था, और भ्रुकुटि धूमकेतु की तरह थी । चन्द्रमा के पास जब धूमकेतु उदय होता है तो राजाओं का नाश होता है, अतः शिशुपाल का शीघ्र नाश होगा–यह सूचित हुआ ॥ ७५ ॥

अथ द्वितीयः सर्गः

अस्मिन्सर्गे मन्त्रवर्णनाय बीजं वपति—

यियक्षमाणेनाहूतः पार्थेनाऽथ द्विषन्मुरम् ।
अभिचैद्यं प्रतिष्ठासुरासीत्कार्यद्वयाकुलः ॥ १ ॥

[सर्वङ्कषा] यियक्षमाणेनेति । अथेन्द्रसन्देशश्रवणानन्तरं । यियक्षमाणेन-यष्टुमिच्छता । यजतेः सन्नन्ताल्लटः शानच् । पार्थेन-पृथापुत्रेण युधिष्ठिरेण । 'तस्येदम्' इत्यण् । अन्यथा 'स्त्रीभ्यो ढक्' स्यात् । ततः पार्थेय इति स्यात् । आहूतः—आकारितः । ह्वयतेः कर्मणि क्ते सम्प्रसारणदीर्घौ । तथा अभिचैद्यं-शिशुपालं प्रति । 'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये' इत्यव्ययीभावः । 'अभिरभागे' इति कर्मप्रवचनीयत्वे तद्योगे द्वितीया वा । प्रतिष्ठासुः—प्रस्थातुमिच्छुः । तिष्ठतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । मुरं द्विषन्मुरारिः । 'द्विषोऽमित्रे' इति शतृप्रत्यये 'न लोका' इत्यत्र 'द्विषः शतुर्वा' इति वैकल्पिकः षष्ठीप्रतिषेधः । कार्यद्वयेन—सुरकार्यसुहृत्कार्यरूपेण—आकुलो विप्रतिषेधादावश्यकत्वाच्च द्वयोः सन्दिहान आसीत् । अतो मन्त्रस्यायमवसर इति भावः ॥१॥

[अन्वयः] अथ यियक्षमाणेन पार्थेन आहूतः अभिचैद्य प्रतिष्ठासुः मुरं द्विषन् कार्यद्वयाकुलः आसीत् ।

[विग्रहः] यष्टुमिच्छति यियक्षति, यियक्षतीति यियक्षमाणः, तेन यियक्षमाणेन । पृथाया अयम् (अपत्यं पुमान्) पार्थः, तेन पार्थेन ।

(अर्थः) अथ = इन्द्रसन्देशश्रवणानन्तरम् । यियक्षमाणेन = यष्टुमिच्छता । पार्थेन = पृथायाः कुन्त्याः पुत्रेण युधिष्ठिरेण । आहूतः = आकारितः । तथा—अभिचैद्य = शिशुपालं प्रति । प्रतिष्ठासुः =प्रस्थातुमिच्छुः । मुरं द्विषन् = मुरारिः—श्रीकृष्णः । कार्यद्वयाकुलः = देवकार्यमित्रकार्यद्वयव्याकुलः । आदौ देवकार्यं कार्यं, सुहृदो युधिष्ठिरस्य वा कार्यं करणीयमिति कार्यद्वयविषये सन्दिहान । आसीत् =अभूत् ।

(भावार्थः) इन्द्रसन्दिष्टमावश्यकं देवकार्यं चैद्याभियानमिदानीं कर्त्तव्य, मित्रस्य युधिष्ठिरस्य यज्ञे वाऽऽहूतेन मया तत्र गन्तव्यमिति कार्यद्वयव्याकुलो मुरारिरासीत् ।

[कोशः] 'विहस्तव्याकुलौ समौ' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] यियक्षमाणेन पार्थेन आहूतेन अभिचैद्यम्प्रतिष्ठासुना मुरं द्विषता कार्यद्वयाकुलेन अभूयत ।

[भाषाटीका] राजसूययज्ञ करनेमें प्रवृत्त महाराज युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण को दूत द्वारा आह्वान भेजा था और इन्द्र की आज्ञानुसार शिशुपाल पर चढ़ाई करना भी आवश्यक था इस प्रकार दो आवश्यक विरुद्ध कार्य के उपस्थित हो जानेसे भगवान् को बड़ी व्याकुलता (चिन्ता वा सन्देह) हुई ॥१॥

एवं मन्त्रबीजं सन्देहमुपन्यस्य मन्त्रोचितं देशमाह—

सार्धमुद्धवसीरिभ्यामथासावासदत्सदः ।
गुरुकाव्यानुगां बिभ्रच्चान्द्रीमभिनभः श्रियम् ॥२॥

[सर्वङ्कषा] सार्धमिति । अथ—सन्देहानन्तरमसौ हरिः । अभिनभः पूर्ववदव्ययीभावः, कर्मप्रवचनीयत्वे वा द्वितीया । गुरुकाव्यौ—बृहस्पतिशुक्रावनुगावनुयायिनौ यस्यां ताम् । 'गीष्पतिर्धिषणो गुरुः' इति, 'शुक्रो

दैत्यगुरुः काव्यः' इति चामरः । चन्द्रस्येमां चान्द्रीं श्रियं बिभ्रत् । अत्र श्रीतुल्यां श्रियमिति निदर्शनाभेदः । उद्धवसीरिभ्यां सार्धमुद्धवरामाभ्यां सह । सदः-सभामासददगमत् । राजसदसः प्रासादत्वादिति भावः । सदेर्लुङि 'पुषादि' इति च्लेरङादेशः । अत्र मनुः-'गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः । अरण्ये निःशलाके वा मन्त्रयेदविभाविनौ' ॥ इति ॥ २ ॥

[अन्वयः] अथ असौ अभिनभः गुरुकाव्यानुगां चान्द्रीं श्रियम् बिभ्रत् उद्धवसीरिभ्याम् सार्द्धं सद आसदत् ।

[विग्रहः] नभसि इति अभिनभः । गुरुश्च काव्यश्च गुरुकाव्यौ, गुरुकाव्यौ अनुगौ यस्याः सा-गुरुकाव्यनुगा, ताम् गुरुकाव्यानुगाम् । चन्द्रस्येयम् चान्द्री, ताम् चान्द्रीम् । उद्धवश्च सीरी च उद्धवसीरिणौ, ताभ्याम्—उद्धवसीरिभ्याम् ।

[अर्थः] अथ = सन्देहानन्तरम् । असौ = हरिः । अभिनभः = गगने । गुरुकाव्यानुगा = बृहस्पतिशुक्रानुयाताम् । चान्द्रीं = चन्द्रसम्बन्धिनीम् । श्रिय = शोभाम् । बिभ्रत् = दधत् । उद्धवसीरिभ्याम् = उद्धवबलदेवाभ्याम् । सार्धं = सह । उद्धवबलभद्रसहितः । सदः = सभाम् । आसदत्=अगमत् । प्राप ।

[भावार्थः] उद्धवमुसलिभ्यां सहितो बृहस्पतिशुक्रानुयातां चन्द्रस्य शोभां दधत् कृष्णचन्द्रो मन्त्रणाय सभामयासीत् ।

[कोसः] 'नीलाम्बरो रौहिणेयस्तालाङ्को मुसली हली' इत्यमरः । 'नभोऽन्तरिक्षं गगनम्' इत्यमरः । गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे' इति विश्वः । 'शुक्रो दैत्यगुरुः काव्य उशना भार्गवः कविः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] अथ अमुना गुरुकाव्यानुगां चान्द्रीं श्रियं बिभ्रता सद आसद्यत ।

[भाषाटीका] इस प्रकार विरुद्ध दो कार्यों के उपस्थित हो जाने से श्रीकृष्ण परामर्श करने के लिए उद्धव और बलदेवजी के साथ मन्त्रणाभवन में पधारे । उस समय भगवान् की ऐसी शोभा मालूम होती थी जैसे आकाश में गुरु और शुक्र से सहित चन्द्रमा की शोभा होती है ॥ २ ॥

जाज्वल्यमाना जगतः शान्तये समुपेयुषी ।
व्यद्योतिष्ट सभावेद्यामसौ नरशिखित्रयी ॥ ३ ॥

[सर्वङ्कषा] जाज्वल्यमानेति । जगतः शान्तयेऽनुपद्रवाय समुपेयुषी—मिलिता, जाज्वल्यमाना-भृशं ज्वलन्ती । 'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्' । ततो लटः शानजादेशे टाप् । असौ—नराः पुरुषा एव शिखिनोऽग्नयस्तेषां त्रयी । 'द्वित्रिभ्याम्—' इत्यादिना तयस्यायजादेशे कृते 'टिड्ढाणञ्—' इत्यादिना ङीप् । सभा—आस्थानी, सैव वेदिः । 'वेदिः परिष्कृता भूमिः' इत्यमरः । तस्यां व्यद्योतिष्ट—दीप्यते स्म । 'द्युद्भ्यो लुङि' इति वा तङ् । रूपकालङ्कारः ॥ ३ ॥

[अन्वयः] जगतः शान्तये समुपेयुषी जाज्वल्यमाना असौ नरशिखित्रयी सभावेद्यां व्यद्योतिष्ट ।

[विग्रहः] नराः शिखिन इव नरशिखिनः, तेषां त्रयी नरशिखित्रयी । सभैव वेदिः—सभावेदिस्तस्यां सभावेद्याम् ।

[अर्थः] जगतः = लोकस्य । शान्तये = अनुपद्रवाय । समुपेयुषी = मिलिता । जाज्वल्यमाना = भृशं ज्वलन्ती । असौ = इयं । नरशिखित्रयी = कृष्णोद्धवबलदेवपुरुषपावकत्रयी । सभावेद्यां=परिषद्वेद्याम् । सभामण्डपे । व्यद्योतिष्ट = दिदीपे । शुशुभे । अशोभिष्ट ।

[भावार्थः] जगतः शान्तये मिलिताऽसौ नररूपगार्हपत्याद्यग्नित्रयी सभावेद्यामवस्थिता सती शुशुभे ।

[कोशः] 'वेदिः परिष्कृता भूमिः' इत्यमरः । 'शिखावानाशुशुक्षणिः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] जगतः शान्तये समुपेयुष्या जाज्वल्यमानयाऽमुया नरशिखित्रय्या सभावेद्यां व्यद्योति ।

[भाषाटीका] जगत् की शान्ति के लिए एकत्रित हुए (कृष्ण उद्धव बलदेव रूप) वे तीनों महापुरुष तीन अग्नि (आहवनीयाग्नि दक्षिणाग्नि गार्हपत्याग्नि) की तरह प्रकाशमान हो सभावेदि पर शोभित हुए ॥ ३ ॥

रत्नस्तम्भेषु सङ्क्रान्तप्रतिमास्ते चकाशिरे ।
एकाकिनोऽपि परितः पौरुषेयवृता इव ॥ ४ ॥

[सर्वङ्कषा] रत्नेति । रत्नानां स्तम्भा इति षष्ठीसमासविशेषे पर्यवसानाद्विकारार्थत्वम् । तेषु सङ्क्रान्तप्रतिमाः–संक्रान्तप्रतिबिम्बाः । 'प्रतिमानं प्रतिबिम्बं प्रतिमा—' इत्यमरः । ते त्रयः—एकाकिनोऽसहाया अपि । 'एकादाकिनिच्चासहाये' इत्याकिनिच्प्रत्ययः । परितोऽभितः सर्वतः । 'पर्यभिभ्यां च' इति तसिल्प्रत्ययः । स च सर्वोभयार्थाभ्यामिष्यते । पौरुषेयेण–प्रतिबिम्बभूयस्त्वात्पुरुषसमूहेनावृता इवेत्युत्प्रेक्षा । चकाशिरे । 'सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ', 'पुरुषाद्वधविकारसमूहतेनकृतेष्विति वक्तव्यम्' इति समूहे ढञ्प्रत्ययः । एतेन विजनत्वमुक्तम् । यद्यपि–'निस्तम्भे निर्गवाक्षे च निर्भित्त्यन्तरसंश्रये । प्रासादाग्रे त्वरण्ये वा मन्त्रयेद्भावभाविनौ ।'—इति कामन्दकीये मन्त्रभूमेः स्तम्भप्राचुर्यनिषेधो गम्यते, तथापि तस्यापि विजनोपलक्षणत्वाददोष इति भावः ॥ ४ ॥

[अन्वयः] रत्नस्तम्भेषु सङ्क्रान्तप्रतिमास्ते एकाकिनः अपि परितः पौरुषेयवृता इव चकाशिरे ।

[विग्रहः] रत्नानां स्तम्भाः रत्नस्तम्भाः, तेषु रत्नस्तम्भेषु । सङ्क्रान्ताः प्रतिमा येषां ते सङ्क्रान्तप्रतिमाः । पुरुषाणां समूहः पौरुषेयः । पौरुषेयेण वृताः पौरुषेयवृताः ।

[अर्थः] रत्नस्तम्भेषु=रत्नमयस्तम्भेषु । सङ्क्रान्तप्रतिमाः=प्रतिफलितप्रतिबिम्बाः । ते=कृष्णोद्धवादयः । एकाकिनोऽपि=असहाया अपि । स्वशरीरमात्रसहाया अपि । परितः=अभितः । सर्वतः । पौरुषेयवृता इव=(प्रतिबिम्बभूयस्त्वात्—) पुरुषसङ्घेनावृता इव । चकाशिरे=प्रचकाशिरे । शुशुभिरे ।

[भावार्थः] एकाकिनोऽपि कृष्णबलभद्रोद्धवाः सभामण्डप-रत्नस्तम्भसङ्क्रान्तप्रतिबिम्बाः सन्तः पुरुषसङ्घावृता इव शुशुभिरे ।

[कोशः] 'प्रतिमानं प्रतिबिम्बं प्रतिमा' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] रत्नस्तम्भेषु सङ्क्रान्तप्रतिमैः एकाकिभिरपि तैः परितः पौरुषेयवृतैरिव चकाशे ।

[भाषाटीका] श्रीकृष्णचन्द्र उद्धवजी और बलदेवजी यद्यपि वहाँ इकट्ठे ही थे पर सभामण्डप के रत्नमय खम्भों में उनकी परछांही पड़ने से वे मनुष्यों के समूह से घिरे हुए से मालूम होते थे ॥ ४ ॥

अध्यासामासुरुत्तुङ्गहेमपीठानि यान्यमी ।
तैरूहे केसरिक्रान्तत्रिकूटशिखरोपमा ॥ ५ ॥

[सर्वङ्कषा] अध्यासामासुरिति । अमी—त्रयो यान्युत्तुङ्गहेमपीठान्यासनानि अध्यासामासुरधितष्ठुः । येषूपविष्टा इत्यर्थः । अधिशीङ्स्थासां कर्म' इति कर्मत्वम् । 'आस उपवेशने' लिट्। 'दयायासश्च' इत्याम्प्रत्ययः । 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इत्यस्तेरनुप्रयोगः । 'आम्प्रत्ययवत्कृञोऽनुप्रयोगस्य' इति कृञ एवेति नियमादस्तेर्नात्मनेपदम् । तैः—पीठैः, केसरिभिः–सिंहैः, क्रान्तानां त्रिकूटस्य–त्रिकूटाद्रेः शिखराणामुपमा—सादृश्यमूहे—ऊढा । वहेः कर्मणि लिट् । सम्प्रसारणम् । त्रीणि कूटान्यस्येत्यन्वर्थसञ्ज्ञा । 'कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्' इत्यमरः । उपमालङ्कारः ॥ ५ ॥

[अन्वयः] अमी यानि उत्तुङ्गहेमपीठानि अध्यासामासुः तैः केशरिक्रान्तत्रिकूटशिखरोपमा ऊहे ।

[विग्रहः] हेम्नः पीठानि हेमपीठानि, उत्तुङ्गानि च तानि हेमपीठानि च उत्तुङ्गहेमपीठानि । केसरिभिः क्रान्तानि केसरिक्रान्तानि, त्रिकूटस्य शिखराणि त्रिकूटशिखराणि, केसरिक्रान्तनि च तानि त्रिकूटशिखराणि च केसरिक्रान्तत्रिकूटशिखराणि, तेषाम् उपमा केसरिक्रान्तत्रिकूटशिखरोपमा ।

[अर्थः] अमी = कृष्णोद्धवबलभद्राः । यानि उत्तुङ्गहेमपीठानि=यानि प्रोन्नतहिरण्मयासनानि । अध्यासामासुः= अधितष्ठुः । येषु स्वर्णनिमितेष्वासनेषूपविष्टा इत्यर्थः । तैः=

हैमासनैः । केसरिक्रान्तत्रिकूटशिखरोपमा = सिंहाधिष्ठित-त्रिकूटशृङ्गोपमा । ऊहे = ऊढा ।

[भावार्थः] श्रीकृष्णोद्धवबलभद्रा यानि समुन्नतानि हैममयान्यासनान्यध्यारुरुहुस्तानि सिंहाधिष्ठितत्रिकूटाद्रि-शृङ्गसादृश्यमूहुः ।

[कोशः] 'पीठमासनम्' इत्यमरः । 'सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यो हर्यक्षः केसरी हरिः' इत्यमरः । 'कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] अमीभिर्यानि उत्तुङ्गहेमपीठानि अध्यासाञ्चक्रिरे तानि केसरिक्रान्तत्रिकूटशिखरोपमामूहुः ।

[भाषाटीका] श्रीकृष्ण उद्धव बलरामजी सोने के ऊंचे सिंहासनों (कुर्सियों) पर बैठे हुए ऐसे मालूम होते थे जैसे त्रिकूटपर्वत के तीन शिखरों (चोटियों) पर तीन सिंह बैठे हों ॥ ५ ॥

गुरुद्वयाय गुरुणोरुभयोरथ कार्ययोः ।
हरिर्विप्रतिषेधं तमाचचक्षे विचक्षणः ॥६॥

[सर्वङ्कषा] गुर्विति । अथोपवेशनानन्तरं । विचष्टे इति विचक्षणो—वक्ता । कर्तरि ल्युडिति न्यासकारः । 'असनयोश्च प्रतिषेधो वक्तव्यः' इति चक्षिङः ख्याञादेशाभावः । हरिः—गुर्वोरुद्धवरामयोः पितृव्यज्येष्ठभ्रात्रोर्द्वयाय । द्वाभ्यामित्यर्थः । गुरुणोर्महतोरुभयोः । कार्ययोः—पूर्वोक्तयोः तं विप्रतिषेधं—विरोधमाचचक्षे—आख्यातवान् । तुल्यबलविरोधो विप्रतिषेधः ॥ ६ ॥

[अन्वयः] अथ विचक्षणः हरिः गुरुद्वयाय गुरुणोः उभयोः कार्ययोस्तं विप्रतिषेधम् आचचक्षे ।

[विग्रहः] गुर्वोः द्वयं गुरुद्वयं, तस्मै गुरुद्वयाय । विचष्टे इति विचक्षणः ।

[अर्थः] अथ = उपवेशनानन्तरम् । विचक्षणः = वक्ता । व्याख्यानकुशलः । हरिः = श्रीकृष्णः । गुर्वोः= उद्धवबलरामयोः पितृव्यज्येष्ठभ्रात्रोः । द्वयाय = द्वितयाय । द्वाभ्यां गुरुभ्यामिति

यावत् । गुरुणोः = महतोः । कार्ययोः = शिशुपालवधयुधिष्ठिर-यज्ञगमनयोः । तम् = अप्रतिविधेयम् । विप्रतिषेधं = विरोधम् । आचचक्षे = आख्यातवान् ।

[भावार्थः] श्रीकृष्णेन समुपस्थितं विरुद्धं कार्यद्वय-मुपन्यस्तम् ।

[कोशः] 'गुरुर्महत्याङ्गिरसे पित्रादौ धर्मदेशके । अलघौ दुर्जरे चाऽपि' इति हैमः ।

[वाच्यप०] विचक्षणेन हरिणा गुरुद्वयाय गुरुणोः कार्ययोः स विप्रतिषेधः आचचक्षे ।

[भाषाटीका] भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने अपने गुरु (बड़े भाई और चाचा) बलरामजी और उद्धवजी से परस्परविरुद्ध (एक साथ नहीं हो सकनेवाले) दोनों कार्यों (शिशुपालवध व युधिष्ठिरयज्ञगमन) का वर्णन किया ॥ ६ ॥

द्योतितान्तःसभैः कुन्दकुड्मलाग्रदतः स्मितैः ।
स्नपितेवाऽभवत्तस्य शुद्धवर्णा सरस्वती ॥ ७ ॥

[सर्वङ्कषा] द्योतितेति । कुन्दः—माघभवः पुष्पविशेषः । 'माघ्यं कुन्दम्' इत्यमरः । कुन्दकुड्मलाग्राणीव दन्ता यस्य तस्य कुन्दकुड्मला-ग्रदतः । 'अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्च' इत्यग्रान्तपूर्वपदबहुव्रीहेः समासान्ते वैभाषिको दतादेशः । तस्य—हरेः । सरस्वती—अन्तः-प्रधाना सभा अन्तःसभा । सभाभ्यन्तरमित्यर्थः । सा द्योतिता प्रकाशिता यैस्तैः स्मितैः स्नपितेव—क्षालितेव । स्नातेर्ण्यन्तात् क्तः । 'अर्तिह्री-' इत्यादिना पुगागमः । 'मितां ह्रस्वः' । शुद्धवर्णा—स्फुटाक्षरत्वात्स्वच्छ-कान्तिरभवत् । अत्र स्वाभाविकवर्णशुद्धेः स्नानहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते । स्मित-पूर्वाभिभाषी हरिरिति भावः ॥ ७ ॥

[अन्वयः] कुन्दकुड्मलाग्रदतः तस्य सरस्वती द्योतितान्तः-सभैः स्मितैः स्नपिता इव शुद्धवर्णा अभवत् ।

[विग्रहः] कुन्दस्य कुड्मलानि कुन्दकुड्मलानि, कुन्दकुड्मलाना-

मग्राणि कुन्दकुड्मलाग्राणि, कुन्दकुड्मलाग्राणीव दन्ता यस्याऽसौ कुन्दकुड्मलाग्रदन्, तस्य कुन्दकुड्मलाग्रदतः । अन्तः प्रधाना सभा अन्तःसभा, द्योतिता अन्तःसभा यैस्तानि—द्योतितान्तःसभानि, तैः—द्योतितान्तःसभैः । शुद्धाः वर्णाः यस्यां सा शुद्धवर्णा ।

[अर्थः] कुन्दकुड्मलाग्रदतः = माघ्यकुसुममुकुलाग्रभागसदृशसूक्ष्मदन्तस्य । तस्य = श्रीकृष्णस्य । सरस्वती = वाणी । द्योतितान्तःसभैः = प्रकाशितसभाभ्यन्तरैः । स्मितैः = ईषद्धास्यैः । स्नपितेव = क्षालितेव । शुद्धवर्णा = स्फुटाक्षरत्वात्स्वच्छकान्तिः । अभवत् = बभूव ।

[भावार्थः] कुन्दप्रभदन्तस्य हरेर्वाणी दन्तप्रभाविद्योतितसभामध्यैः स्मितैः स्नपितेव शुद्धवर्णा (स्पष्टाक्षरा, निर्मला च) बभूव ।

[कोशः] 'माघ्यं कुन्दम्' इत्यमरः । 'कुड्मलो मुकुलोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । 'सभासमितिसंसदः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] कुन्दकुड्मलाग्रदतः स्मितैः स्नपितया इव सरस्वत्या शुद्धवर्णया अभूयत ।

[भाषाटीका] कुन्द (कुन्न) पुष्पके अग्रभाग की तरह सफेद चमकीले व सुन्दर दांतवाले श्रीकृष्ण की वाणी मुसकानरूपी जल से नहलाई हुई सी होने के कारण स्पष्टवर्णवाली (साफ शुद्ध अक्षरों वाली, तथा निर्दोष व निर्मल) थी । अर्थात् श्रीकृष्णचन्द्र ने मीठे व स्पष्ट शब्दों में हंसते हुए इस प्रकार कहा कि—॥ ७ ॥

कार्यविप्रतिषेधं निवेद्य तत्र स्वमतमावेदयिष्यन्पण्डितमानित्वं तावत्परिहरति—

भवद्गिरामवसरप्रदानाय वचांसि नः ।
पूर्वरङ्गः प्रसङ्गाय नाटकीयस्य वस्तुनः ॥ ८ ॥

[सर्वङ्कषा] भवद्गिरामिति । भवद्गिरां—युष्मद्वाचाम् । अवसरप्रदानाय । प्रसंजनायेत्यर्थः । नोऽस्माकं वचांसि । सिद्धान्तोन्नयनार्थे-

मुच्यन्ते न तु सिद्धान्तत्वेनेत्यर्थः । तथाहि—पूर्वं रज्यतेऽस्मिन्निति पूर्वरङ्गः नाट्यशाला, तत्स्थं कर्मापि पूर्वरङ्ग इति दशरूपके । अतः पूर्वरङ्गो नाम रङ्गप्रधानाख्यो रङ्गविघ्नशान्तिकारी नान्दीपाठगीतवादित्राद्यनेकाङ्गविशेषो नाट्यादौ कर्तव्यः कर्मविशेषः । तदुक्तं वसन्तराजीये—'यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये । कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः प्रकीर्तितः ॥' इति । स पूर्वरङ्गः, नाटके भवं नाटकीयम् । तत्र वर्ण्यमित्यर्थः । 'वृद्धाच्छः ।' तस्य 'आयने—'इतीयादेशः । तस्य वस्तुनः प्रवृत्तस्य, प्रसङ्गाय-प्रसञ्जनाय । प्रवर्तनायेति यावत् । अतः प्रथमवादो न दोषायेति भावः । 'पूर्वरङ्गः प्रस्तावने' ति रङ्गराजः । तच्चिन्त्यम् । पूर्वरङ्गं विधायादौ सूत्रधारे विनिर्गते । प्रविश्य तद्वदपरः काव्यमास्थापयेन्नटः । प्रथमं पूर्वरङ्गश्च ततः प्रस्तावनेति च । आरम्भे सर्वनाट्यानामेतत्सामान्यमिष्यते ॥' इति दशरूपकाद्युक्तभेदविरोधादिति । अत्र हरिवाक्यपूर्वरङ्गयोः प्रसञ्जकत्वस्वरूपसामान्यस्य वाक्यद्वये शब्दान्तरेण पृथङ्निर्देशात्प्रतिवस्तूपमालङ्कारः । तल्लक्षणं तूक्तम् ॥ ८ ॥

[अन्वयः] भवद्गिराम् अवसरप्रदानाय नः वचांसि । (तथाहि) पूर्वरङ्गः नाटकीयस्य वस्तुनः प्रसङ्गाय (भवति)

[विग्रहः] अवसरस्य प्रदानम् अवसरप्रदानं, तस्मै अवसरप्रदानाय । नाटके भवं नाटकीयं, तस्य—नाटकीयस्य ।

[अर्थः] भवद्गिरां = भवद्वाचाम् । श्रीमदुक्तीनाम् । अवसरप्रदानाय = अवकाशदानायैव । प्रसञ्जनायैव । नः=अस्माकं । मम श्रीकृष्णस्येति यावत् । वचांसि = वचनानि । सन्तीति शेषः । तथाहि—पूर्वरङ्गः = रङ्गविघ्नोपशान्तिफलकं नटकर्तृकं मङ्गलवादित्रादिकम् । नाटकीयस्य = अभिनेयस्य । वस्तुनः = कथायाः । प्रसङ्गाय = अवतारायैव । अवस्थापनायैव । भवतीति शेषः ।

[भावार्थः] मदुक्तिरियं भवदुक्तसिद्धान्तश्रवणायैव । नाटकीयेतिवृत्तप्रसङ्गायैव हि पूर्वरङ्गोऽवतार्यते ।

[कोशः] 'गीर्वाग्वाणी सरस्वती' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] भवद्गिराम् अवसरप्रदानाय नः वचोभिः भूयते पूर्वरङ्गेण नाटकीयस्य वस्तुनः प्रसङ्गाय (भूयते)।

[भाषाटीका] जैसे पूर्वरङ्ग (प्रारम्भिक मङ्गलाचरण) नाटकीय कथा के अवतारण के लिए होता है वैसे ही आप लोगों की उक्तियों का प्रसङ्ग उपस्थित करने के लिए ही मेरा यह पहिले भाषण है ॥ ८ ॥

सम्प्रति स्वमतमाह—

करदीकृतभूपालो भ्रातृभिर्जित्वरैर्दिशाम् ।
विनाऽप्यस्मदलम्भूष्णुरिज्यायै तपसः सुतः ॥९॥

[सर्वङ्कषा] करदीकृतेति । दिशां जित्वरैः—जयनशीलैः। 'इण्नशजिसर्तिभ्यः क्वरप्'। कृद्योगात्कर्मणि षष्ठी। भ्रातृभिः—भीमादिभिर्हेतुभिः। करदाः—षष्ठभागप्रदाः। 'भागधेयः करो बलिः' इत्यमरः। ततश्च्विः। 'ऊर्यादिच्विडाचश्च' इति गतिसञ्ज्ञायां 'कुगतिप्रादयः' इति नित्यसमासः। अकरदाः करदाः सम्पद्यमानाः कृताः करदीकृता भूपालाः यस्य सः—वशीकृतराजमण्डलः। तपसः सुतो-धर्मपुत्रः। 'तपश्चान्द्रायणादौ स्याद्धर्मे लोकान्तरेऽपि च' इति विश्वः। अस्मद्विना। अस्माभिर्विनापीत्यर्थः। 'पृथग्विनानाना' इत्यादिना तृतीयाविकल्पात्पञ्चमी। इज्यायै—यागाय। यजेर्भावेऽपि क्यप्। 'वचिस्वपि-'इत्यादिना सम्प्रसारणम्। 'नमः स्वस्ति' इत्यादिना चतुर्थी। अलं-समर्थो, भूष्णुः-भवनशीलः।'भूष्णुर्भविष्णुर्भविता' इत्यमरः। 'ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः' इतिग्स्नुप्रत्ययः। 'क्ङिति च' इत्यत्र गकारप्रश्लेपाद्गुणाभावः। तथा च जयादित्यः—'तत्रैव गकारोऽपि च कत्वभूतो निर्दिश्यते'। अतो जैत्रयात्रैव कार्या न यज्ञयात्रेति भावः ॥९॥

[अन्वयः] दिशां जित्वरैः भ्रातृभिः करदीकृतभूपालः तपसः सुतः अस्मद्विनापि इज्यायै अलम्भूष्णुः।

[विग्रहः] करं ददतीति करदाः, न करदाः अकरदाः। अकरदाः करदाः सम्पद्यमानाः कृताः करदीकृताः। करदीकृताः भूपाला येनाऽसौ करदीकृतभूपालः। जेतुं शीलाः—जित्वराः, तैः जित्वरैः।

[अर्थः] दिशाम् = आशानाम् । पूर्वादीनां चतुर्णां दिशाम् । जित्वरैः = विजयनशीलैः । भ्रातृभिः = स्वानुजैर्भीमसेनार्जुनादिभिः । करदीकृतभूपालः = करदीकृतराजमण्डलः । तपसः = धर्मस्य । सुतः = पुत्रः । धर्मपुत्रो युधिष्ठिर इति यावत् । अस्मद्विना = अस्मान् विहायाऽपि । इज्यायै = यज्ञाय । यज्ञं कर्तुम् । अल = समर्थः । पर्याप्तः । भूष्णुः = भविता ।

[भावार्थः] भ्रातृसाहाय्येन करदाकृतराजमण्डलो धर्मराजोऽस्मद्विनाऽपि राजसूय यज्ञं कर्त्तुं समर्थः । अतस्तत्साहाय्यदानाय यज्ञगमनस्यावश्यकता न प्रतीयते । शिशुपाल एव तु मारणीय इत्याशयः ।

[कोशः] 'भागधेयः करो बलिः' इत्यमरः । 'जेता जिष्णुश्च जित्वरः' इत्यमरः । 'तपश्चान्द्रायणादौ स्याद्धर्मे लोकान्तरेऽपि च' इति विश्वः ।

[वाच्यप०] दिशां जित्वरैः भ्रातृभिः करदीकृतभूपालेन तपसः सुतेन अस्मद्विनापि इज्यायै अलम्भूष्णुना भूयते ।

[भाषाटीका] धर्मराज युधिष्ठिर ने अपने भाइयों की सहायता से सम्पूर्ण राजाओं को अपने वश में कर ही लिया है और सब राजा उसे कर (' लगान ' ' चौथ '] देते ही हैं । अतः हमारी सहायता के विना भी वह अच्छी तरह राजसूय यज्ञ कर सकता है । (अतः इस समय पहले शिशुपाल को मारना ही आवश्यक है) ॥ ९ ॥

ननु यज्ञान्ते जैत्रयात्रायामुभयानुसरणं स्यात्तत्राह—

उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्यः पथ्यमिच्छता ।
समौ हि शिष्टैराम्नातौ वत्स्र्यन्तावामयः स च ॥ १० ॥

[सर्वङ्कषा] उत्तिष्ठमान इति । उत्तिष्ठमानो-वर्धमानः । 'उदोऽनूर्ध्वकर्मणि' इत्यात्मनेपदम् । परः-शत्रुः । पथोऽनपेतं- पथ्यं-हितमारोग्यं चेच्छता । पुंसेति शेषः । नोपेक्ष्यो-नौदासीन्येन द्रष्टव्यः । कुतः ?। हि-यस्माद्वर्त्स्यन्तौ-वर्धिष्यमाणौ । 'लुटः सद्वा' इति सदादेशे 'वृद्भ्यः स्यसनोः'

[अर्थः] दिशाम् = आशानाम् । पूर्वादीनां चतुर्णां दिशाम्। जित्वरैः = विजयनशीलैः । भ्रातृभिः = स्वानुजैर्भीमसेनार्जुनादिभिः । करदीकृतभूपालः = करदीकृतराजमण्डलः। तपसः = धर्मस्य। सुतः = पुत्रः। धर्मपुत्रो युधिष्ठिर इति यावत्। अस्मद्विना = अस्मान् विहायाऽपि। इज्यायै = यज्ञाय। यज्ञं कर्तुम्। अल = समर्थः। पर्याप्तः। भूष्णुः = भविता।

[भावार्थः] भ्रातृसाहाय्येन करदाकृतराजमण्डलो धर्मराजोऽस्मद्विनाऽपि राजसूय यज्ञं कर्तुं समर्थः। अतस्तत्साहाय्यदानाय यज्ञगमनस्यावश्यकता न प्रतीयते । शिशुपाल एव तु मारणीय इत्याशयः।

[कोशः] 'भागधेयः करो बलिः' इत्यमरः। 'जेता जिष्णुश्च जित्वरः' इत्यमरः। 'तपश्चान्द्रायणादौ स्याद्धर्मे लोकान्तरेऽपि च' इति विश्वः।

[वाच्यप०] दिशां जित्वरैः भ्रातृभिः करदीकृतभूपालेन तपसः सुतेन अस्मद्विनापि इज्यायै अलम्भूष्णुना भूयते।

[भाषाटीका] धर्मराज युधिष्ठिर ने अपने भाइयों की सहायता से सम्पूर्ण राजाओं को अपने वश में कर ही लिया है और सब राजा उसे कर (' लगान ' ' चौथ '] देते ही हैं। अतः हमारी सहायता के विना भी वह अच्छी तरह राजसूय यज्ञ कर सकता है। (अतः इस समय पहले शिशुपाल को मारना ही आवश्यक है) ॥ ९ ॥

ननु यज्ञान्ते जैत्रयात्रायामुभयानुसरणं स्यात्तत्राह—

उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्यः पथ्यमिच्छता।
समौ हि शिष्टैराम्नातौ वत्स्यन्तावामयः स च ॥ १० ॥

[सर्वङ्कषा] उत्तिष्ठमान इति। उत्तिष्ठमानो-वर्धमानः। 'उदोऽनूर्ध्वकर्मणि' इत्यात्मनेपदम्। परः-शत्रुः। पथोऽनपेतं- पथ्यं-हितमारोग्यं चेच्छता। पुंसेति शेषः। नोपेक्ष्यो-नौदासीन्येन द्रष्टव्यः। कुतः ?। हि-यस्माद्वत्स्यन्तौ-वर्धिष्यमाणौ। 'लुटः सद्वा' इति सदादेशे 'वृद्भ्यः स्यसनोः'

न दूये सात्वतीसूनुर्यन्मह्यमपराध्यति ।
यत्तु दन्दह्यते लोकमदो दुःखाकरोति माम् ॥११॥

[सर्वङ्कषा] नेति । सत्वतोऽपत्यं स्त्री सात्वती नाम हरेः पितृष्वसा । 'उत्सादिभ्योऽञ्' । तस्याः सूनुश्चैद्यः । बन्धुरपि खलो न मृष्यत इति भावः । यन्मह्यमपराध्यति-द्रुह्यतीति यावत् । 'क्रुधद्रुह-' इत्यादिना चतुर्थी । 'तत' इति शेषः । यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् । न दूये-न परितप्ये । दूङो दैवादिकात्कर्तरि लट् । उत्तमपुरुषैकवचनम् । किन्तु लोकं दन्दह्यते गर्हितं यथा स्यादेवं दहतीति यावत् । 'लुपसदचरजप' इत्यादिना गर्हायां यङ् । 'जपजभदहदशभञ्जपशां च' इत्यभ्यासस्य नुमागमः । अदो-लोकदहनं, मां दुःखाकरोति । दुखमनुभावयतीत्यर्थः । 'दुःखात्प्रातिलोम्ये' इति डाच्प्रत्ययः । अतश्चैद्य एवाभियातव्यः, पार्थस्तु प्रार्थनयापि पश्चात्समाधेय इत्यर्थः ॥ ११ ॥

[अन्वयः] सात्वतीसूनुः यन्मह्यम् अपराध्यति (ततः) न दूये, यत्तु लोकं दन्दह्यते अदः मां दुःखाकरोति ।

[विग्रहः] सत्वतोऽपत्यं, स्त्री सात्वती । सात्वत्याः सूनुः सात्वतीसूनुः । गर्हितं दहति-दन्दह्यते ।

[अर्थः] सात्वतीसूनुः=सात्वतीपुत्रः शिशुपालः । यन्मह्यमपराध्यति=यता मह्यं द्रुह्यति । 'तत' इति शेषः । न दूये=ततोऽहं न परितप्ये । (किन्तु—) यत्तु=यतो हि । लोकं=जगतीं । प्रजाजनं च । दन्दह्यते=वृथैव कुत्सितं दहति । पीडयति । अदः=लोकदहनम् । मां दुःखाकरोति=मां दुःखमनुभावयति ।

[भावार्थः] चैद्यो मह्यं द्रुह्यतीत्यतो नाहं दूये । यत्त्वसौ जगद्रुजति तदेव मां दुःखाकरोति । अतश्चैद्याभियानमेवेदानीं कर्त्तव्यं, युधिष्ठिरस्तु पश्चात्प्रार्थनयाऽपि समाधेयः ।

[कोशः] आत्मजस्तनयः सूनुः सुतः पुत्रः स्त्रियां त्वमी । आहुर्दुहितरं सर्वेऽपत्यं तोकं तयोः समे ।' इत्यमरः । 'त्रिष्वथो जगती लोको विष्टपं भुवनं जगत्' इत्यमरः ।

[वाच्य५०] सात्वतीसूनुना यन्मह्यमपराध्यते (ततो मया) न दूयते । यत्तु लोको दन्दह्यतेऽमुनाऽहं दुःखाक्रिये ।

[भाषाटीका] शिशुपाल मेरे से द्वेष रखता है इस का मुझे दुःख नहीं है, किन्तु वह जगत् को वृथा पीडा देता है यही मुझे बड़ा दुःख है। अतः उसको दण्ड देना ही सर्वप्रथम उचित है ॥ ११ ॥

स्वमतं निगमयन्परमतं शुश्रूषुः पृच्छति—

मम तावन्मतमिदं, श्रूयतामङ्ग ! वामपि ।
ज्ञातसारोऽपि खल्वेकः सन्दिग्धे कार्यवस्तुनि ॥ १२ ॥

[सर्वङ्कषा] ममेति । तावत् । भवन्मतश्रवणपर्यन्तमित्यर्थः । मम मतमिदम् । अङ्गेत्यामन्त्रणेऽव्ययम् । 'अथ सम्बोधनार्थकाः, स्युः प्याट् पाडङ्ग हे हे भोः' इत्यमरः । वां—युवयोः । 'युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थी—' इत्यादिना वामादेशः । मतं श्रूयताम् । विधौ लोट् । तदिदं मया श्रोतव्यम् । अन्यथा सन्देहानिवृत्तेरिति भावः । विदुषस्ते कुतः सन्देहस्तत्राह—ज्ञातसारः—ज्ञाततत्त्वार्थोऽप्येकः—एकाकी । कार्यवस्तुनि—कर्तव्यार्थे । सन्दिग्धे—संशेते । खलु—निश्चये । अतो मयापि सन्दिह्यत इत्यर्थः । 'दिह उपचये' कर्तरि लट् । घत्वधत्वे । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १२ ॥

[अन्वयः] तावत् मम मतम् इदम् । अङ्ग !, वामपि श्रूयताम् । ज्ञातसारोऽपि एकः कार्यवस्तुनि सन्दिग्धे खलु ।

[विग्रहः] ज्ञातः सारो येनाऽसौ ज्ञातसारः । कार्यं च तद्वस्तु च कार्यवस्तु, तस्मिन् कार्यवस्तुनि ।

[अर्थः] तावत् = तावत्कालपर्यन्तम् । भवन्मतश्रवणपर्यन्तमित्यर्थः । मम = श्रीकृष्णस्य । मतमिदम् = इदं मतमस्ति । अङ्ग ! = अयि मान्यौ ! । वां = युवयोः । श्रीमतोर्भवतोः । मतम् = अभिमतमपि । श्रूयतां = मया श्रोतव्यम् । (यतः—) ज्ञातसारोऽपि, = विदिततत्त्वार्थोऽपि, ज्ञाततत्त्वार्थोऽपि । एकः =

एकाकी पुमान् । कार्यवस्तुनि = कर्त्तव्येऽर्थे । सन्दिग्धे = संशेते । संशयमापद्यते । सन्देहाकुलो भवति । खलु–निश्चितमेतत् । निश्चये—खलुः ।

[भावार्थः] तदेवं 'चैद्य एवेदानीमभियातव्य' इत्येवं मम मतं भवदुक्तश्रवणपर्यन्तमस्ति । मान्याः ! भवद्भिरपि स्वाभिमतमुच्यतां, तद्धि मयाऽवश्यं श्रोतव्यम् । ज्ञाततत्त्वार्थोऽपि एकाकी मन्त्रं निर्धारयितुं नालम् । अतो भवदुक्तमाकर्ण्यैव मया नीतिर्निर्धारणीया ।

[कोशः] 'यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे' इत्यमरः । 'अथ सम्बोधनार्थकाः—'स्युः प्याट् पाडङ्ग है हे भोः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] ममानेन मतेन भूयते । वामपि शृणवानि । ज्ञातसारेणाप्येकेन कार्यवस्तुनि सन्दिह्यते ।

[भाषाटीका] मान्यवरो ! मैंने अपना मत संक्षेप में आपलोगों को सुना दिया है, अब आपलोग भी अपना अभिमत प्रकट करने की कृपा करें । उसे सुनकर ही मैं कर्त्तव्य का निश्चय करूंगा । बड़े से बड़ा विद्वान् भी इकल्ला मन्त्र का ठीक २ निर्णय नहीं कर सकता, कुछ न कुछ सन्देह बनाही रहता है ॥ १२ ॥

यावदर्थपदां वाचमेवमादाय माधवः ।
विरराम महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः ॥ १३ ॥

[सर्वङ्कषा] यावदिति । माधवो हरिर्यावानर्थो—यावदर्थम् । 'यावदवधारणे' इत्यव्ययीभावः।यावदर्थं पदानि यस्यास्ताम् । अभिधेयसंमिताक्षरामित्यर्थः । एवमुक्तप्रकारेण । वाचमादाय—गृहीत्वा । उक्त्वेत्यर्थः । विरराम—तूष्णीमास । 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इति परस्मैपदम् । तथाहि—महीयांसः—उत्तमाः, प्रकृत्या —स्वभावेन, मितभाषिणः । 'भवन्ती'ति शेषः । वृथालापनिषेधादिति भावः । पूर्ववदलङ्कारः ॥ १३ ॥

[अन्वयः] माधवः यावदर्थपदां एवम् वाचम् आदाय

विरराम । (हि) महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः ।

[विग्रहः] यावन्तोऽर्थाः यावदर्थम् । यावदर्थम् पदानि यस्यां सा– यावदर्थपदा, ताम् यावदर्थपदाम् । मितं भाषन्ते तच्छीलाः मितभाषिणः ।

[अर्थः] माधवः = श्रीकृष्णः । यावदर्थपदाम् = अभिधेय-सम्मिताक्षराम् । परिमिताक्षराम् । एवम् = इत्थम् । अमुना प्रकारेण । वाचं = गिरम् । आदाय = गृहीत्वा । उक्त्वा । विरराम = तूष्णीं बभूव । (तथा हि—) महीयांसः = महात्मानः । उत्तमाः । प्रकृत्या = स्वभावेनैव । मितभाषिणः = परिमितभाषिणः । स्वल्पभाषिणः । 'भवन्ती' ति शेषः ।

[भावार्थः] इत्थं परिमिताक्षरां वाचमुक्त्वा हरिस्तूष्णीं बभूव । महान्तो हि प्रकृत्यैव मितभाषिणो भवन्ति ।

[कोशः] 'दामोदरो हृषीकेशः केशवो माधवः स्वभूः' इत्यमरः । "प्रकृतिर्गुणसाम्ये स्यादमात्यादिस्वभावयोः । योनौ लिङ्गे पौरवर्गे' इति विश्वः ।

[वाच्यप०] माधवेन यावदर्थपदां वाचमेवमादाय विरेमे । महीयोभिः प्रकृत्या मितभाषिभिर्भूयते ।

[भाषाटीका] श्रीकृष्ण भगवान् इस प्रकार कहकर चुप हो गए । क्योंकि बड़े लोग स्वभाव से ही थोड़ा बोलते हैं ॥ १३ ॥

अथाष्टभिः (१४—२१) कुलकेन रामं वर्णयंस्तद्वाक्यमवतारयति—

ततः सपत्नापनयस्मरणानुशयस्फुरा ।
ओष्ठेन रामो रामोष्ठबिम्बचुम्बनचुञ्चुना ॥ १४ ॥

[सर्वङ्कषा] तत इति । ततो रामो जगादेत्युत्तरेणान्वयः । सपत्नो—रिपुः । 'रिपौ वैरिसपत्नारि—' इत्यमरः । तस्यापनयोऽपकारः, तस्य स्मरणेन योऽनुशयः–पश्चात्तापः । 'भवेदनुशयो द्वेषे पश्चात्तापानुबन्धयोः' इति विश्वः । तेन स्फुरतीत्यनुशयस्फूः, तेन स्फुरा । ओष्ठो बिम्बमिवेत्युपमितसमासः । रामाया ओष्ठबिम्बस्य चुम्बनेन वित्तो रामोष्ठ-

बिम्बचुम्बनचुञ्चुः । 'तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ' इति चुञ्चुप्प्रत्ययः । 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा पररूपं वक्तव्यम् ।' तेनौष्ठेनोपलक्षितः । समरसुरतयोः समरस इति भावः । उपमानुप्रासयोः संसृष्टिः ॥ १४ ॥

[अन्वयः] ततः सपत्नापनयस्मरणानुशयस्फुरा रामोष्ठबिम्बचुम्बनचुञ्चुना ओष्ठेन (—उपलक्षितः) रामः (—जगाद) ।

[विग्रहः] सपत्नस्य—अपनयः सपत्नापनयः, सपत्नापनयस्य स्मरणं सपत्नापनयस्मरणम्, सपत्नापनयस्मरणेन अनुशयः—सपत्नापनयस्मरणानुशयः, तेन स्फुरतीति—सपत्नापनयस्मरणानुशयस्फुः, तेन—सपत्नापनयस्मरणानुशयस्फुरा । ओष्ठौ बिम्बमिव—ओष्ठबिम्बम् । रामाया ओष्ठबिम्बं—रामोष्ठबिम्बम् । तस्य चुम्बनम्, तेन वित्तः—रामोष्ठबिम्बचुम्बनचुञ्चुः, तेन—रामोष्ठबिम्बचुम्बनचुञ्चुना ।

[अर्थः] ततः = तदनन्तरम् । श्रीकृष्णवाक्यसमाप्त्यनन्तरम् । सपत्नापनयस्मरणानुशयस्फुरा = शत्रुकृतापकारस्मरणोद्भूतपश्चात्तापप्रस्फुरता । रिपुकृतापकारस्मृत्युद्भूतद्वेषकम्पमानेन । रामोष्ठबिम्बचुम्बनचुञ्चुना = कान्तोष्ठबिम्बचुम्बनवित्तेन । वामाधरोष्ठदशनकुशलेन । ओष्ठेन = ओष्ठयुगलेन । (—उपलक्षितः) । रामः = बलरामः । 'जगादे'ति वक्ष्यमाण—(२१) श्लोकस्थेन सहाऽस्यान्वयः ।

[भावार्थः] श्रीकृष्णोक्तं श्रुत्वा शिशुपालकृतापकारस्मरणोद्भूतामर्षकम्पमानाधरोष्ठः कान्ताधरोष्ठचुम्बनचुञ्चुर्बलभद्रो जगाद ।

[कोशः] 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' इत्यमरः । 'भवेदनुशयो द्वेषे पश्चात्तापानुबन्धयोः' इति विश्वः । 'ओष्ठाधरौ तु रदनच्छदौ दशनवाससी' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] ....ओष्ठेन रामेण जगदे ।

[भाषाटीका] श्रीकृष्ण की बात सुनकर शिशुपाल के अपराधों की याद आजाने से कांपते हुए ओष्ठ हैं जिनके, एवं जिनके ओठ कान्ताओं के

अधरोष्ठ के पान में प्रसिद्ध हैं ऐसे बलदेवजी—बड़े क्रोध से यों बोले ॥ १४ ॥

विवक्षितामर्थविदस्तत्क्षणप्रतिसंहृताम् ।
प्रापयन्पवनव्याधेर्गिरमुत्तरपक्षताम् ॥ १५ ॥

[सर्वङ्कषा] विवक्षितामिति । विवक्षितां-वृद्धत्वाभिमानादग्रे वक्तुमिष्टाम् । वचेर्ब्रूञो वा सन्नन्तात्कर्मणि क्तः । तत्क्षणे—विवक्षाक्षणे एवेत्यविलम्बोक्तिः । प्रतिसंहृतां-रामानुरोधानुरुद्धाम् । अर्थविदः-कार्यज्ञस्य, अतएव-पवनव्याधेरुद्धवस्य । गिरमुत्तरपक्षतां-सिद्धान्तपक्षतां, प्रापयन् । स्वयमसत्पक्षावलम्बित्वादिति भावः । अनेन रामस्य व्यग्रतोक्ता ॥ १५ ॥

[अन्वयः] विवक्षितां तत्क्षणप्रतिसंहृताम् अर्थविदः पवनव्याधेः गिरं उत्तरपक्षतां प्रापयन् (–रामो जगाद) ।

[विग्रहः] तस्याः क्षणः–तत्क्षणः । तत्क्षणे प्रतिसंहृता तत्क्षणप्रतिसंहृता, ताम्—तत्क्षणप्रतिसंहृताम् । अर्थं वेत्तीति अर्थवित्, तस्य अर्थविदः । पवनस्य पवनेन वा व्याधिर्यस्यासौ स पवनव्याधिः, तस्य पवनव्याधेः। उत्तरश्चासौ पक्षश्च उत्तरपक्षः, तस्य भावः उत्तरपक्षता, ताम्-उत्तरपक्षताम् ।

[अर्थः] विवक्षितां = वृद्धत्वादग्रे एव वक्तुमिष्टामपि । तत्क्षणप्रतिसंहृतां = विवक्षाक्षण एव बलरामानुरोधादुपरुद्धाम् । अर्थविदः = मन्त्रतत्त्वज्ञस्य । पवनव्याधेः = उद्धवस्य । गिरं = वाचम् । उत्तरपक्षतां = सिद्धान्तपक्षताम् । सिद्धान्त्युक्तिताम् । प्रापयन्=नयन् । लम्भयन् । गमयन्। (–रामो जगाद)।

[भावार्थः] ज्येष्ठतयोद्धवस्याऽऽदावेव वक्तुमिष्टां गिरमुत्तरपक्षतां नयन् बलभद्रो जगाद ।

[कोशः] ‘ अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु ’ इत्यमरः । ‘पवनव्याधिरुद्धवः’ इति कोशः ।

[वाच्यप०] पवनव्याधेर्गिरम् उत्तरपक्षतां प्रापयता जगदे ।

[भाषाटीका] कहने के लिए तैयार—अपने से बड़े—उद्धवजी को बीच ही में रोक कर बलरामजी पहले स्वयं ही बोलने लगे। मानों अपनी उक्ति को पूर्वपक्षकोटि में स्थापित करके उद्धवजी की उक्ति को ही उत्तर-पक्ष (सिद्धान्त पक्ष) उन्होंने सूचित किया ॥ १५ ॥

घूर्णयन्मदिरास्वादमदपाटलितद्युती ।
रेवतीवदनोच्छिष्टपरिपूतपुटे दृशौ ॥ १६ ॥

[सर्वङ्कषा] घूर्णयन्निति । पुनःमदिरास्वादेन-मद्यपानेन यो मदस्तेन पाटलिता—ईषद्रक्तीकृता द्युतिर्ययोस्ते। रेवत्या देव्याः वदने यदुच्छिष्टं—मद्यलेपताम्बूलादि । अक्षिचुम्बनसङ्क्रान्तमिति भावः । तेन परिपूते—शुद्धे पुटे ययोस्ते । दृशौ घूर्णयन्—भ्रामयन्निति मद्यविकारोक्तिः । उच्छिष्टपरिपूतेत्यत्र 'रतिकाले मुखं स्त्रीणां शुद्धमाखेटके शुनाम्' इति स्मरणात् । उच्छिष्टस्य पावित्र्यजनकत्वविरोधस्याभासत्वाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः। 'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास उच्यते' इति लक्षणात् ॥१६॥

[अन्वयः] मदिरास्वादमदपाटलितद्युती रेवतीवदनोच्छिष्टपरिपूतपुटे दृशौ घूर्णयन् (रामो जगाद)।

[विग्रहः] आस्वादनम्-आस्वादः, मदिरायाःआस्वादः मदिरास्वादः, मदिरास्वादेन मदः—मदिरास्वादमदः, तेन पाटलिता द्युतिर्ययोस्ते मदिरास्वादमदपाटलितद्युती, ते तथाभूते। रेवत्या वदनं रेवतीवदनम्, रेवतीवदने, उच्छिष्टम् रेवतीवदनोच्छिष्टम्, तेन परिपूते पुटे ययोस्ते—रेवतीवदनोच्छिष्टपरितपुपुटे । ते तथाभूते ।

[अर्थः] किञ्च—मदिरास्वादमदपाटलितद्युती = मद्यपान-मदाऽऽरक्तप्रभे। सुरासेवनप्रभवमदेषद्रक्तकान्ती। रेवतीवदनोच्छिष्टपरिपूतपुटे = रेवत्याख्यस्वकान्तामुखोच्छिष्टचर्वितताम्बूलादिसम्पर्कपवित्रितपुटे । रमणीमुखोद्गीर्णताम्बूलादिसम्पर्कशबलितसम्पुटे । दृशौ = लोचने । घूर्णयन् = भ्रामयन् । (—रामो जगाद)।

[भावार्थः] मदिरापानाऽऽरक्तकान्ती रेवतीचुम्बनसंसक्त-ताम्बूललेशशबलितोर्ध्वपुटे लोचने भ्रमयन् रामो जगाद।

[कोशः] 'श्वेतरक्तस्तु पाटलः' इत्यमरः। 'वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम्' इत्यमरः।

[वाच्यप०] दृशौ घूर्णयता (—जगदे)

[भाषाटीका] मदिरा के पीने से लाल २ नेत्रों को—[जिनके उपरी भाग—रेवती (बलरामजी की स्त्री) के मुखके उच्छिष्ट पानकी सीठी के कण लगने से पवित्र मनोहर हो रहे है] घुमाते हुए (निकालते हुए) बलदेवजी यों बोले ॥ १६ ॥

आश्लेषलोलुपवधूस्तनकार्कश्यसाक्षिणीम्।
म्लापयन्नभिमानोष्णैर्वनमालां मुखानिलैः ॥ १७ ॥

[सर्वङ्कषा] आश्लेषेति। पुनः—आश्लेषे लोलुपायाः—आलिङ्गन-लुब्धाया वध्वाः स्तनयोः कार्कश्यस्य—काठिन्यस्य साक्षिणीमुप-द्रष्ट्रीम्। नित्यं पीड्यमानामिति भावः। 'साक्षाद्द्रष्टरि सञ्ज्ञायाम्' इति साक्षाच्छब्दादिनिप्रत्ययः। वनमालामभिमानोष्णैरहङ्कारतप्तैर्मुखानिलैः निःश्वासमारुतैर्म्लापयन्—ग्लपयन्। म्लायतेर्ण्यन्ताल्लटः शत्रादेशः।'आदेच' इत्यात्वे पुगागमः। अम्लाने म्लानसम्बन्धादतिशयोक्तिः ॥ १७ ॥

[अन्वयः] आश्लेषलोलुपवधूस्तनकार्कश्यसाक्षिणीम् वनमा-लाम् अभिमानोष्णैःमुखानिलैः म्लापयन् (—रामो जगाद)।

[विग्रहः] आश्लेषे लोलुपा आश्लेषलोलुपा, आश्लेषलोलुपा चासौ वधूश्च आश्लेषलोलुपवधूः, तस्याःस्तनौ आश्लेषलोलुपवधूस्तनौ। तयोःकार्कश्यं तस्य साक्षिणी आश्लेषलोलुपवधूस्तनकार्कश्यसाक्षिणी। ताम्। वनस्य माला वनमाला, तां वनमालाम्। अभिमानेन उष्णाः अभिमानोष्णाः, तैः अभिमानोष्णैः। मुखस्य अनिलाः मुखानिलास्तैः मुखानिलैः।

[अर्थः] आश्लेषलोलुपवधूस्तनकार्कश्यसाक्षिणीम् = आलि-ङ्गनलुब्धरमणीकुचकुड्मलकाठिन्यसाक्षिणीम्। आलिङ्गनोत्सुक-

प्रमदास्तनमण्डलकाठिन्यस्य सूचयित्रीम् । यौवनोन्मदगाढालिङ्गनप्रवणप्रमदाजनस्तनैर्निर्दयं पीडितामिति यावत् । वनमालाम् = आपादविलम्बिनीं पत्रपुष्पादिनिर्मितां मालाम् । अभिमानोष्णैः = अहङ्कारोष्मसन्तप्तैः । मुखानिलैः = निःश्वासमारुतैः। उच्छ्वासानिलैः । म्लापयन् = ग्लपयन् । मालिन्यं प्रापयन् । मलिनीकुर्वन् । (—रामो जगाद) ।

[भावार्थः] सुरतसमयगाढालिङ्गनप्रवणप्रमदाकर्कशस्तनोपमर्दितां वनमालां मुहुरभिमानसन्तप्तैर्निःश्वासमारुतैर्मलिनीकुर्वन् रामो जगाद ।

[कोशः] 'सुन्दरी रमणी रामा नारी सीमन्तिनी बधूः' इत्यमरः । 'आपादलम्बिनी माला वनमालेति कथ्यते' इति पुरुषोत्तमः । 'वधूर्जाया स्नुषा स्त्री च' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] वनमालां म्लापयता जगदे ।

[भाषाटीका] आलिङ्गनोत्सुक प्रिया के स्तनों की कठिनता को अनुमान करानेवाली वनमाला को अहङ्कार के कारण गर्म हुई निःश्वास वायु से और भी मलिन करते हुए—(बलरामजी यों बोले) ॥ १७ ॥

दधत्सन्ध्यारुणव्योमस्फुरत्तारानुकारिणीः ।
द्विषद्द्वेषोपरक्ताङ्गसङ्गिनीः स्वेदविप्रुषः ॥ १८ ॥

[सर्वङ्कषा] दधदिति । पुनः सन्ध्यायामरुणे व्योम्नि स्फुरन्तीस्तारा अनुकुर्वन्तीति तथोक्ताः । कुतः ? द्विषतः—शत्रो द्वेषेण—क्रोधेनोपरक्तेऽङ्गे — वपुषि सङ्गिनीः—सक्ताः, स्वेदविप्रुषः—स्वेदबिन्दून् । 'पृषन्ति बिन्दुपृषताः पुमांसो विप्रुषः स्त्रियाम्' इत्यमरः । दधत्—दधानः । 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमभावः । उपमालङ्कारः ॥ १८ ॥

[अन्वयः] सन्ध्यारुणव्योमस्फुरत्तारानुकारिणीः द्विषद्द्वेषोपरक्ताङ्गसङ्गिनीः स्वेदविप्रुषः दधत् (—रामो जगाद) ।

[विग्रहः] सन्ध्यायाम् अरुणं सन्ध्यारुणम्, सन्ध्यारुणञ्च तद्व्योम च-

प्रमदास्तनमण्डलकाठिन्यस्य सूचयित्रीम्। यौवनोन्मदगाढालिङ्गनप्रवणप्रमदाजनस्तनैर्निर्दयं पीडितामिति यावत्। वनमालाम् = आपादविलम्बिनीं पत्रपुष्पादिनिर्मितां मालाम्। अभिमानोष्णैः = अहङ्कारोष्मसन्तप्तैः। मुखानिलैः = निःश्वासमारुतैः। उच्छ्वासानिलैः। म्लापयन् = ग्लपयन्। मालिन्यं प्रापयन्। मलिनीकुर्वन्। (—रामो जगाद)।

[भावार्थः] सुरतसमयगाढालिङ्गनप्रवणप्रमदाकर्कशस्तनोपमर्दितां वनमालां मुहुरभिमानसन्तप्तैर्निःश्वासमारुतैर्मलिनीकुर्वन् रामो जगाद।

[कोशः] 'सुन्दरी रमणी रामा नारी सीमन्तिनी बधूः' इत्यमरः। 'आपादलम्बिनी माला वनमालेति कथ्यते' इति पुरुषोत्तमः। 'वधूर्जाया स्नुषा स्त्री च' इत्यमरः।

[वाच्यप०] वनमालां म्लापयता जगदे।

[भाषाटीका] आलिङ्गनोत्सुक प्रिया के स्तनों की कठिनता को अनुमान करानेवाली वनमाला को अहङ्कार के कारण गर्म हुई निःश्वास वायु से और भी मलिन करते हुए—(बलरामजी यों बोले) ॥ १७ ॥

दधत्सन्ध्यारुणव्योमस्फुरत्तारानुकारिणीः।
द्विषद्द्वेषोपरक्ताङ्गसङ्गिनीः स्वेदविप्रुषः ॥ १८ ॥

[सर्वङ्कषा] दधदिति। पुनः सन्ध्यायामरुणे व्योम्नि स्फुरन्तीस्तारा अनुकुर्वन्तीति तथोक्ताः। कुतः? द्विषतः—शत्रो द्वेषेण—क्रोधेनोपरक्तेऽङ्गे — वपुषि सङ्गिनीः—सक्ताः, स्वेदविप्रुषः—स्वेदबिन्दून्। 'पृषन्ति बिन्दुपृषताः पुमांसो विप्रुषः स्त्रियाम्' इत्यमरः। दधत्—दधानः। 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमभावः। उपमालङ्कारः ॥ १८ ॥

[अन्वयः] सन्ध्यारुणव्योमस्फुरत्तारानुकारिणीः द्विषद्द्वेषोपरक्ताङ्गसङ्गिनीः स्वेदविप्रुषः दधत् (—रामो जगाद)।

[विग्रहः] सन्ध्यायाम् अरुणं सन्ध्यारुणम्, सन्ध्यारुणञ्च तद्व्योम च-

इत्यमरवचनात्। अत्रान्यरुचोऽन्यदीयत्वायोगात्सादृश्याक्षेपान्निदर्शनालङ्कारः ॥ १९ ॥

[अन्वयः] प्रोल्लसत्कुण्डलप्रोतपद्मरागदलत्विषा कृष्णोत्तरासङ्गरुचं चौतपल्लवीम् विदधत् (—रामो जगाद)।

[विग्रहः] कुण्डलयोः प्रोतानि कुण्डलप्रोतानि, पद्मरागस्य दलानि पद्मरागदलानि। कुण्डलप्रोतानि च तानि पद्मरागदलानि च कुण्डलप्रोतपद्मरागदलानि, प्रोल्लसन्ति च तानि कुण्डलप्रोतपद्मरागदलानि च प्रोल्लसत्कुण्डलप्रोतपद्मरागदलानि, तेषां त्विट्, तया—प्रोल्लसत्कुण्डलप्रोतपद्मरागदलत्विषा। कृष्णं च तदुत्तरासङ्गं च कृष्णोत्तरासङ्गं, तस्य रुक्, तां, कृष्णोत्तरासङ्गरुचम्। चूतपल्लवस्य इयम् चौतपल्लवी, ताम् चौतपल्लवीम्।

[अर्थः] प्रोल्लसत्कुण्डलप्रोतपद्मरागदलत्विषा=प्रस्फुरत्कुण्डलस्यूतमाणिक्यखण्डकान्त्या। कृष्णोत्तरासङ्गरुचं=नीलोत्तरीयच्छविम्। उत्तरीयनीलाम्बरप्रभाम्। चौतपल्लवीम्=आम्रपल्लववद्ध्म्राम्। विदधत्=कुर्वन्। कृष्णलोहितवर्णसम्पर्केण धूम्रवर्णोत्पत्तेः। (—रामो जगाद)।

[भावार्थः] स्फुरत्कुण्डलयुगलप्रोतपद्मरागखण्डरक्तप्रभाभिर्नीलोत्तरीयाम्बरप्रभां धूम्रां कुर्वन् जगाद। कृष्णलोहितवर्णसम्मेलने धूम्रवर्णोत्पत्तिर्भवतीति लोकविदः।

[कोशः] 'द्वौ प्रावारोत्तरासङ्गौ समौ बृहतिका तथा, संव्यानमुत्तरीयञ्च' इत्यमरः। 'धूम्रधूमलौ कृष्णलोहिते' इत्यमरः।

[वाच्यप०] ....चौतपल्लवीं विदधता (रामेण जगदे)।

[भाषाटीका] कान के कुण्डलों में जडित चमकीले पद्मराग (मानिक) के खण्डों की (लाल) आभा से अपने नीले रंग के दुपट्टे की कान्ति को धूमिल वर्ण करते हुए (—बलरामजी बोले) ॥१९॥

ककुद्मिकन्यावक्त्रान्तर्वासलब्धाधिवासया।
मुखामोदं मदिरया कृतानुव्याधमुद्वमन् ॥ २० ॥

[सर्वङ्कषा] ककुद्मीति। पुनः ककुद्मिकन्याया रेवत्या वक्त्रस्य-

अन्तरभ्यन्तरे वासेन-स्थित्या लब्धोऽधिवासो वासना यया तया। तन्मुखसौरभवासितयेत्यर्थः। 'संस्कारो गन्धमाल्याद्यैरधिवासनमुच्यते'। मदिरया कृतानुव्याधं-कृतसंसर्गम्। प्रियागण्डूषगन्धिनमित्यर्थः। 'व्यधजपोरनुपसर्गे' इत्यनुपसृष्टादप्प्रत्ययविधानादुपसृष्टाद्व्यधेर्घञ्प्रत्ययः। मुखामोदं—स्वमुखगन्धविशेषम्। 'आमोदः सोऽतिनिर्हारी' इत्यमरः। उद्वमन्नुद्गिरन्। अत्र मदिरारामसुखगन्धयोः स्वगन्धतिरोधानेन रामामुखतद्गण्डूषमद्यगन्धस्वीकारात्तद्गुणयोस्तत्रोत्तरस्यात्मविशेषकत्वेन पूर्वसापेक्षत्वादङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः। 'तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्योत्कृष्टगुणाहृतिः' इति लक्षणात् ॥ २० ॥

[अन्वयः] ककुद्मिकन्यावक्त्रान्तर्वासलब्धाधिवासया मदिरया कृतानुव्याधम् मुखामोदम् उद्वमन्—(रामो जगाद)।

[विग्रहः] ककुद्मिनः कन्या ककुद्मिकन्या, ककुद्मिकन्याया वक्त्रं—ककुद्मिकन्यावक्त्रं, ककुद्मिकन्यावक्त्रस्य अन्तः—ककुद्मिकन्यावक्त्रान्तः, तत्र वासेन लब्धोऽधिवासो यया सा—ककुद्मिकन्यावक्त्रान्तर्वासलब्धाधिवासा, तया। कृतोऽनुव्याधो येनाऽसौ कृतानुव्याधः, तम् कृतानुव्याधम्। मुखस्य आमोदः मुखामोदस्तम् मुखामोदम्।

[अर्थः] ककुद्मिकन्यावक्त्रान्तर्वासलब्धाधिवासया=रेवतीमुखान्तर्निवासलब्धवासनया। रेवतीमुखपङ्कजान्तर्निवासाधिगतातिशयसौरभयोगया। मदिरया=सुरया। कृतानुव्याध=कृतसंसर्गम्। मुखामोदं=स्वमुखगन्धम्। उद्वमन्=उद्गिरन्। (—रामो जगाद)।

[भावार्थः] रेवतीमुखगन्धाधिवासितया मदिरया कृतसंसर्गं स्वमुखामोदमुद्गिरन् रामो बभाषे। स्वप्रियागण्डूषगन्धिनं मुखामोदमुद्वमन्नुवाचेति यावत्।

[कोशः] 'संस्कारो गन्धमाल्याद्यैरधिवासनमुच्यते' इत्यभिधानम्। 'आमोदः सोऽतिनिर्हारी' इत्यमरः।

[वाच्यपरि०]........मुखामोदम् उद्वमता रामेण जगदे।

[भाषाटीका] रेवती के मुख में निवास करने से सुगन्धित हुई

मदिरा की सुगन्ध से मिली हुई अपने मुख की सुगन्ध को फैलाते हुए (बलरामजी यों बोले) ॥ २० ॥

जगाद वदनच्छद्मपद्मपर्यन्तपातिनः ।
नयन्मधुलिहः श्वैत्यमुदग्रदशनांशुभिः ॥ २१ ॥

[८ कुलकम्]

[सर्वङ्कषा] जगादेति । वदनमेव छद्म—कपटं यस्य तदरद्मम् । वदनमेव पद्ममित्यर्थः । छद्मशब्देनासत्यत्वप्रतिपादनरूपोऽपह्नवः । तस्य पर्यन्तपातिनः—प्रान्तसञ्चारिणः । मधु लिहन्तीति मधुलिहस्तान्मधुपान् । क्विप् । उदग्रैरुच्छ्रितैः दशनांशुभिः श्वैत्यं—धावल्यं नयन्नेवं जगाद । तद्गुणालङ्कारः । तस्य मधुपसन्निधापकवदनापह्नवसापेक्षत्वात्तेन सङ्करः ॥२१॥

[अन्वयः] वदनच्छद्मपद्मपर्यन्तपातिनः मधुलिहः उदग्रदशनांशुभिः श्वैत्यं नयन् (—रामो जगाद) ।

[विग्रहः] वदनमेव च्छद्म यस्य तत् वदनच्छद्म, वदनच्छद्म च तत् पद्मं च वदनच्छद्मपद्मं, तस्य पर्यन्ते पतन्ति तच्छीलाः—वदनच्छद्मपद्मपर्यन्तपातिनः, तांस्तथाभूतान् । मधु लिहन्ति मधुलिहः, तान् मधुलिहः । दशनानाम् अंशवः दशनांशवः, उदग्राश्च ते दशनांशवश्च उदग्रदशनांशवः, तैः—उदग्रदशनांशुभिः ।

[अर्थः] वदनच्छद्मपद्मपर्यन्तवासिनः = वदनव्याजपद्मप्रान्तचारिणः । मुखकमलप्रान्तवर्त्तिनः । मधुलिहः=भ्रमरान् । उदग्रदशनांशुभिः=उच्छ्रितदन्तकिरणैः । श्वैत्यं=धावल्यम् । नयन्=प्रापयन् रामः । जगाद=उवाच ।

[भावार्थः] मुखपद्मामोदलुब्धमधुपान् उदग्रदन्तकिरणैः श्वैत्यं लम्भयन् रामो जगाद ।

[कोशः] 'कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे' इत्यमरः। 'वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम्' इत्यमरः । 'वा पुंसि पद्मं नलिनमरविन्दं महोत्पलम्' इत्यमरः । 'मधुव्रतो मधुकरो मधुलिण्मधुपाऽलिनः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०]........श्वैत्यं नयता रामेण जगदे ।

[भाषाटीका] मुखकमल के पास घूमनेवाले काले भ्रमरों को अपनी दन्तकिरणों से श्वेत करते हुए बलरामजी यों बोले ॥ २१ ॥

रामो जगादेत्युक्तम् । किं तदित्याकाङ्क्षायामाह—

यद्वासुदेवेनाऽदीनमनादीनवमीरितम् ।
वचसस्तस्य सपदि क्रिया केवलमुत्तरम् ॥ २२ ॥

[सर्वङ्कषा] यदिति । वासुदेवेन–न दीनमित्यदीनमकातरं, नादीनवोऽस्येत्यनादीनवं–निर्दोषम् । 'दोष आदीनवो मतः ' इत्यमरः' । यद्वच ईरितम् । 'उत्तिष्ठमानस्तु परः' इत्यादिपक्षमाश्रित्य यदुक्तमित्यर्थः । तस्य वचसः सपदि क्रिया केवलं—सद्योऽनुष्ठानमेवोत्तरम् । सिद्धान्तस्यैवोक्तत्वादिति भावः ॥ २२ ॥

[अन्वयः] वासुदेवेन अदीनम्, अनादीनवं यद् ईरितम् तस्य वचसः सपदि क्रिया केवलम् उत्तरम् ।

[विग्रहः] न दीनम् अदीनम् । नास्ति आदीनवो यस्य तत्—अनादीनवम् ।

[अर्थः] वासुदेवेन=अच्युतेन । कृष्णेन अदीनम्=अकातरम् । अनादीनवं = निर्दोषम् । यत्=‘उत्तिष्ठमानस्त्विव’ त्यादि यद्वचः । ईरितम्=उक्तम् । तस्य वचसः = तस्य वाक्यस्य । सपदि = सद्यः । क्रिया = अनुष्ठानमेव । केवलम् = एकम् । उत्तरम् = उत्तरकालकर्त्तव्यम्, नान्यदित्यर्थः ।

[भावार्थः] हरिणा यदुक्तं तत्सद्योऽनुष्ठेयं, नात्र विचारः कार्यः । शत्रुर्नोपेक्ष्यः । अतो द्राक्चैद्याभियानमनुष्ठेयम् ।

[कोशः] ‘ वाच्यवद्दुर्गते भीते दीनम् ’ इति मेदिनी । ‘ दोष आदीनवो मतः ’ इत्यमरः ।

[वाच्यप०] ......वासुदेव ईरितवान् । केवलम् क्रियया उत्तरेण (भूयते) ।

[भाषाटीका] श्रीकृष्णने जो कहा है वह सर्वथा युक्त और उचित है उसके बाद तो केवल उसका अनुष्ठान (करना) ही है, और दूसरे विचार की आवश्यकता ही नहीं है ॥ २२ ॥

अथ तदेव प्रतिपादयिष्यन्ननन्यातिशय्यतयोपस्करोति—

नैतल्लघ्वपि भूयस्या वचो वाचाऽतिशय्यते ।
इन्धनौघधगप्यग्निस्त्विषा नात्येति पूषणम् ॥ २३ ॥

[सर्वङ्कषा] नैतदिति । लघु—सङ्क्षिप्तमप्येतद्वचो भूयस्या—बहुतरया । विस्तृतयापीत्यर्थः । ' द्विवचनविभज्य—' इत्यादिना ईयसुनि 'बहोर्लोपो भू च बहोः' इतीकारलोपो, बहोश्च भूरादेशः । वाचा नातिशय्यते—नातिरिच्यते । गुर्वर्थत्वादिति भावः । शीङः कर्मणि लटि यक् । 'अयङ् यि क्ङिति' इत्ययङादेशः। तथाहि—इन्धनौघान्दहतीतीन्धनौघधक्-काष्ठराशिदाहकः । भूयानपीत्यर्थः । क्विपि घत्वधत्वभष्भावाः । अग्निस्त्विषा—प्रभया, पूषणं—सूर्यम् । अल्पीयांसमपीति भावः । नात्येति—नातिक्रामति । तेजसः प्रभावत्त्वमिव वचसोऽर्थवत्त्वमलङ्घ्यत्वहेतुरित्यर्थः । अत्र समानधर्मबिम्बविम्बिततया दृष्टान्तालङ्कारः ॥ २३ ॥

[अन्वयः] लघु अपि एतद्वचः भूयस्या वाचा नातिशय्यते। इन्धनौघधक् अपि अग्निः त्विषा पूषणं न अत्येति ।

[विग्रहः] इन्धनानामोघः इन्धनौघः, तं दहतीति इन्धनौघधक् ।

[अर्थः] लघु अपि = स्वल्पमपि । सङ्क्षिप्तञ्च । एतद्वचः= श्रीकृष्णोक्त वचः । भूयस्या = विस्तृतयाऽपि । विपुलयाऽपि । वाचा = अस्मदादिगिरा । नातिशय्यते = नोल्लङ्घयितुं शक्यते। न तिरस्कर्त्तुं शक्यते । तथाहि—इन्धनौघधगपि = काष्ठराशि-दाहकोऽपि । भूयानपि । अग्निः = पावकः । त्विषा = स्वप्रभया । पूषणं = भास्करम् । स्वल्पमपि सूर्यम् । नात्येति = नातिक्रामति । न पराभवितुं शक्नोति ।

[भावार्थः] सङ्क्षिप्तमपि युक्तियुक्तं निर्दुष्टं वासुदेवस्य वचोऽ

तिगम्भीरार्थं विस्तृतयाऽप्यस्मदादिवाचा तिरस्कर्त्तुं न शक्यते । न महानपि पावको भास्करं भासा तिरस्कर्त्तुं प्रभवति । तदलं विचारणया, श्रीकृष्णोक्तमेव सपद्यनुष्ठेयम् ।

[कोशः] 'स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भाभाश्छविद्युतिदीप्तयः' इत्यमरः । 'काष्ठं दार्विन्धनं त्वेधः' इत्यमरः । 'मिहिरारुणपूषणः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] लघु अपि एतद्वचः भूयसी वाग् नातिशेते। इन्धनौवदहाऽप्यग्निना त्विषा पूषणो नातीयते ।

[भाषाटीका] श्रीकृष्ण ने संक्षिप्त पर युक्तियुक्त जो बातें कही हैं, वे लंबी चौड़ी दूसरे लोगों की बातों से भी काटी नहीं जासकती हैं । क्या अग्नि भी अपने तेज से सूर्य को दबा सकता है ? नहीं ॥ २३ ॥

यदि हरिवचो नातिशय्यते, अलं तर्हि तवापि वागारम्भैरत आह—

सङ्क्षिप्तस्याप्यतोऽस्यैव वाक्यस्यार्थगरीयसः ।
सुविस्तरतरा वाचो भाष्यभूता भवन्तु मे ॥ २४ ॥

[सर्वङ्कषा] सङ्क्षिप्तस्येति । अतो हरिवचसोऽनतिशयनीयत्वादेव, सुविस्तरतराः—प्रपञ्चतराः । 'प्रथने वावशब्दे' इति घञः प्रतिषेधे 'ऋदोरप्' इत्यप् । मे वाचः सङ्क्षिप्तस्याल्पाक्षरस्याप्यर्थेन गरीयसः । सूत्रकल्पस्येत्यर्थः । 'अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् । अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥' इति लक्षणात् । अस्यैव वाक्यस्य नान्यस्य । भाष्यभूता—भाष्यैः समाः । नित्यसमासः । 'क्ष्मादौ जन्तौ भूतं क्लीबं समेऽतीते चिरे त्रिषु' इति वैजन्ती । व्याख्यानरूपा भवन्त्वित्यर्थः । सूत्रव्याख्यानविशेषो भाष्यम् । 'सूत्रस्थं पदमादाय वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः । स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ॥' इति । मया तु तदेव विशेषप्रकाशनाय व्याख्यायते, नत्वतिशयाय प्रत्याख्यायत इत्यदोष इत्यर्थः । उपमालङ्कारः ॥ २४ ॥

[अन्वयः] अतः सुविस्तरतरा मे वाचः सङ्क्षिप्तस्यापि अर्थगरीयसः अस्यैव वाक्यस्य भाष्यभूता भवन्तु ।

[विग्रहः] अर्थेन गरीयः अर्थगरीयः, तस्य अर्थगरीयसः । भाष्येण तुल्याः भाष्यभूताः ।

[अर्थः] अतः = वासुदेवगिरोऽनतिशयनीयतयैव । हरिवचसो युक्तियुक्ततया, औचित्येन च । सुविस्तरतराः = विपुलतराः । नितरां विस्तृताः । मे = मम । वाचः = वक्ष्यमाणा गिरः । सङ्क्षिप्तस्यापि = अल्पाक्षरस्यापि । लघुतरस्यापि । अर्थगरीयसः = अभिधेयगरिष्ठस्य । अर्थगौरवशालिनः । अस्यैव = वासुदेवोक्तस्य । वाक्यस्य = वचसः । भाष्यभूताः = व्याख्यानस्थानीयाः । भाष्यरूपाः । भवन्तु = सन्तु । श्रीकृष्णोक्तस्यैवाह समर्थनं करिष्यामीत्यर्थः ।

[भावार्थः] तद्युक्तिसङ्गतानां निर्दुष्टानामर्थगरीयसीनां श्रीकृष्णोक्तीनामेव समर्थनाय किञ्चिदहं वच्मि ।

[कोशः] 'विस्तारो विग्रहो व्यासः स तु शब्दस्य विस्तरः' इत्यमरः ।

[वाच्यपरि०] सङ्क्षिप्तस्याप्यतोऽस्यैव वाक्यस्य सुविस्तरतराभिः मे वाग्भिर्भाष्यभूताभिर्भूयताम् ।

[भाषाटीका] अतः श्रीकृष्ण की संक्षिप्त पर अर्थगुर्वी उक्तियों की व्याख्या करने के लिए ही मैं कुछ विस्तारपूर्वक कहता हूँ । अर्थात् अपनी युक्तियों से श्रीकृष्ण के पक्ष का उपपादन ही करना चाहता हूँ ॥ २४ ॥

इत्थं यानं सिद्धान्तयित्वा तत्रोद्धवप्रतिरोधं हृदि निधाय त्रिभिःप्रत्याचष्टे—

विरोधिवचसो मूकान्वागीशानपि कुर्वते ।
जडानप्यनुलोमार्थान्प्रवाचः कृतिनां गिरः ॥ २५ ॥

[सर्वङ्कषा] विरोधीति । कृतिनां—कुशलानां, गिरः कर्त्र्यः । विरोधिवचसः—प्रतिकूलवादिनो, वागीशान्वाक्पतीनपि । 'वागीशो वाक्पतिः समौ' इत्यमरः । मूकान्निर्वाचः कुर्वते । जडयन्तीत्यर्थः । अनुलोमोऽनुकूलोऽर्थोऽभिधेयं येषां तेऽनुकूलार्थाः—अनुकूलवादिनः । ताञ्जडान्मन्दानपि, प्रवाचः—प्रगल्भवाचः कुर्वते । अतोऽस्मद्गिरः प्रवाच्या

इति भावः । अत्र वागीशानां मूकीकरणाज्जडानां प्रवाक्त्वकरणाच्च अशक्य-वस्तुकरणरूपो विशेषोऽलङ्कारः, असम्बन्धे सम्बन्धातिशयोक्तिप्रतिभोत्थापित इति सङ्करः ॥ २५ ॥

[अन्वयः] कृतिनां गिरः (कर्त्र्यः-) विरोधिवचसः वागीशानपि मूकान् कुर्वते । अनुलोमार्थान् जडान् अपि प्रवाचः कुर्वते ।

[विग्रहः] विरोधि वचो येषां ते विरोधिवचसः, तान् । अनुलोमोऽर्थो येषां ते अनुलोमार्थास्तान् अनुलोमार्थान् । प्रकृष्टा वाचो येषान्ते प्रवाचः, तान् ।

[अर्थः] कृतिनां = कुशलानाम् । वाक्पटूनाम् । गिरः = वाचः—(कर्त्र्यः) । विरोधिवचसः = प्रतिकूलभाषिणः । विरुद्ध-वाक्यान् । वागीशान् = वाक्पतीनपि । बृहस्पतिसमानपि । मूकान् = निर्वाचः । जडान् । कुर्वते = विदधति । अनुलोमार्थान् = अनुकूलवादिनः । स्वानुयायिनस्तु । जडानपि=मन्दमतीनपि । मन्दवाचोऽपि । प्रवाचः = प्रगल्भवाचः । पटुवाक्यान् । कुर्वते = विदधति । तदेव मद्वाचो विरोधिनो विदुषो मूकान् करिष्यन्ति, अनुकूलान् मन्दमतीनपि प्रगल्भतां प्रापयिष्यन्तीत्यर्थः ।

[भावार्थः] प्रगल्भानि मद्वचांसि विरोधिनां वाक्यजालानि जडयिष्यन्ति, अनुकूलवादिनश्चोत्साहयिष्यन्ति ।

[कोशः] 'अवाचि मूकः' इत्यमरः । 'वागीशो वाक्पतिः समौ' इत्यमरः । 'कृती कुशल इत्यपि' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] कृतिनां गीर्भिः—विरोधिवचसः वागीशा अपि मूकाः क्रियन्ते, अनुलोमार्था जडा अपि-प्रवाचः क्रियन्ते ।

[भाषाटीका] कुशल वक्ता—अपनी वाणी से विरोधी बड़े २ वक्ताओं को भी चुप कर देता है, तथा अपने पक्षपाती जडमतियों को भी प्रगल्भ बना देता है ॥ २५ ॥

नन्वात्मनीनेन स्वामिना 'बुद्धेः फलमनाग्रहः' इति न्यायेन शास्त्रज्ञ-वचनं प्रतिकूलमपि ग्राह्यमेवेत्याशङ्क्याह—

षड् गुणाः शक्तयस्तिस्रः सिद्धयश्चोदयास्त्रयः ।
ग्रन्थानधीत्य व्याकर्तुमिति दुर्मेधसोऽप्यलम् ॥२६॥

[सर्वङ्कषा] षडिति । दुष्टा मेधा येषां ते दुर्मेधसः—मन्दबुद्धयोऽपि। 'नित्यमसिच्प्रजामेधयोः' इति समासान्तोऽसिच्प्रत्ययः । ग्रन्थानौशनसादीनधीत्य—पठित्वा । गुणाः—सन्धिविग्रहयानासनद्वैधीभावसमाश्रयाख्याः षट् । शक्तयः—प्रभुत्वमन्त्रोत्साहाख्यास्तिस्रः । सिद्धयः—पूर्वोक्तशक्तित्रयसाध्याः पुरुषार्थलाभात्मिकाः, ताश्च तिस्रः—प्रभुसिद्धिर्मन्त्रसिद्धिरुत्साहसिद्धिश्चेति । उदयाः—वृद्धिक्षयस्थानानि छत्रिन्यायेनोदया उच्यन्ते । तत्र—वृद्धिक्षयौ स्वशक्तिसिद्ध्योः, पूर्वावस्थानादुपचयापचयौ स्थानं । ते च त्रय इति व्याकर्तुं—व्याख्यातुमलं—समर्थाः । 'पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषु' इति तुमुन् । पञ्चाङ्गनिर्णयशक्तिविकलानां सन्ध्यादिरूपसङ्ख्यामात्रपाठकानामशास्त्रज्ञत्वादुद्घनादयो न ग्राह्यवचना इत्यभिसन्धिः।अत्रामरः—सन्धिर्ना विग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रयः।षड् गुणाः शक्तयस्तिस्रः प्रभावोत्साहमन्त्रजाः।क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च त्रिवर्गो नीतिवेदिनाम् ॥' इति तत्रारिविजिगीष्वोर्व्यवस्थाकरणमैक्यं सन्धिः । विरोधो विग्रहः । विजिगीषोरारिं प्रति यात्रा यानम् । तयोर्मिथः प्रतिबद्धशक्त्योः कालप्रतिक्षया तूष्णीमवस्थानमासनम् । दुर्बलप्रबलयोर्वाचिकमात्मसमर्पणं द्वैधीभावः । अरिणा पीड्यमानस्य बलवदाश्रयणं—संश्रयः । कोशदण्डोत्थं तेजः—प्रभावः । कर्तव्यार्थेषु स्थेयान्प्रयत्न-उत्साहः । षड्गुणचिन्तनं मन्त्रः । गतमन्यदिति सङ्क्षेपः ॥ २६ ॥

[अन्वयः] दुर्मेधसः अपि—ग्रन्थान् अधीत्य—गुणाः षट्, शक्तयः तिस्रः, सिद्धयः तिस्रः, उदयाः त्रयः इति व्याकर्तुम् अलम् ।

[विग्रहः] दुष्टा मेधा येषान्ते दुर्मेधसः ।

[अर्थः] दुर्मेधसोऽपि = मन्दबुद्धयोऽपि । जडमतयोऽपि । अध्ययनमात्रपरायणा अपि प्रतिभाशून्याः । ग्रन्थान् = नीतिग्रन्थान् । औशनसबार्हस्पत्यादिनीतिशास्त्राणि । अधीत्य = पठित्वा । गुणाः = सन्धिविग्रहयानासनद्वैधीभावसमाश्रय।

गुणशब्दवाच्याः । षट् = षडेव । शक्तयः = प्रभुत्वमन्त्रोत्साहाख्याः शक्तिपदवाच्याः । तिस्रः = तिस्र एव । सिद्धयः= प्रभावमन्त्रोत्साहशक्तित्रयसाध्याः पुरुषार्थलाभात्मिकाः प्रभुत्वसिद्धिमन्त्रसिद्ध्युत्साहसिद्धिरूपाः । तिस्रः = तिस्र एव । उदयाः = स्वशक्तिसिद्ध्योः वृद्धिः क्षयोऽन्येषामवस्थानञ्चेत्येवरूपाः । त्रयः = त्रय एव । इति = इत्थं । व्याकर्त्तुं = नीतिमार्गं व्याख्यातुम् । अलं = समर्थाः ।

[भावार्थः] नीतितत्त्वज्ञानशून्या अपि स्वाधीतग्रन्थमात्रसारा मूढा नीतेः स्थूलान् विषयान्परिगणयितुं वक्तुं च समर्थाः । परं नीतितत्त्वविदस्त्वतितरां दुर्लभा एव ।

[कोशः] ' सन्धिर्ना विग्रहो यानमानसनं द्वैधमाश्रयः । षड्गुणाः' इत्यमरः । 'शक्तयस्तिस्रः प्रभावोत्साहमन्त्रजाः' इत्यमरः । 'क्षयः स्थानञ्च वृद्धिश्च त्रिवर्गो नीतिवेदिनाम् ' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] दुर्मेधोभिरपि ग्रन्थान् अधीत्य व्याकर्त्तुम् अलम् (भूयते)

[भाषाटीका] जिनको नीति के तत्त्व का कुछ भी ज्ञान नहीं है ऐसे स्थूलबुद्धि लोग भी पढ़े हुए नीति ग्रन्थों के आधार से—सन्धि आदि ६ गुण होते हैं । प्रभावादिजनित तीन शक्तियाँ होती हैं । और सिद्धियाँ (शक्तियाँ से लाभ) तीन होती हैं । तीन ही उदय (शक्ति और सिद्धि की वृद्धि स्थिरता और हानि) होते हैं ।—इस प्रकार मोटी २ बातें कह सकते हैं । पर नीति के गूढ़ तत्त्व को समझना और कहना बड़ा कठिन है ॥२६॥

ननु शास्त्रोक्तार्थव्याख्यातैव शास्त्रज्ञः, स एव ग्राह्यवचनश्चेत्याशङ्क्याह—

अनिर्लोडितकार्यस्य वाग्जालं वाग्मिनो वृथा ।
निमित्तादपराद्धेषोर्धानुष्कस्येव वल्गितम् ॥ २७ ॥

[सर्वङ्कषा] अनिर्लोडितेति । अनिर्लोडितं नालोकितं कार्यं येन तस्य । कार्याकार्यमजानत इत्यर्थः । वाचोऽस्य सन्तीति वाग्मी वावदूकः । 'वाचो युक्तिपटुर्वाग्मी वावदूकोऽतिवक्तरि' इत्यमरः । 'वाचो ग्मिनिः' इति ग्मिनिप्रत्ययः । तस्य वाग्जालं–वागाडम्बरो, निमित्ताल्लक्ष्यात् । 'वेध्यं

लक्ष्यं निमित्तं चशरव्यं च समं विदुः' इति वैजयन्ती। अपराद्धेषोः— स्खलितबाणस्य। धनुः प्रहरणमस्येति धानुष्को–धन्वी। 'प्रहरणम्' इति ठक्। 'इसुसुक्तान्तात्कः'। 'अपराद्धपृषत्कोऽसौ लक्ष्याद्यश्च्युतसायकः।' 'धन्वी धनुष्मान्धानुष्कः' इत्यमरः। तस्य वल्गितमिव वृथा–निष्फलम्। कार्यज्ञस्य वचो ग्राह्यं न तु वाचालस्येति भावः ॥२७॥

[अन्वयः] अनिर्लोडितकार्यस्य वाग्मिनः वाग्जालम्–निमित्तादपराद्धेषोः धानुष्कस्य वल्गितमिव—वृथा।

[विग्रहः] न निर्लोडितम् अनिर्लोडितम्, अनिर्लोडितं कार्यं येनासौ अनिर्लोडितकार्यः, तस्य। अपराद्धः इषुर्यस्यासौ अपराद्धेषुः, तस्य अपराद्धेषोः। धनुः प्रहरणमस्य धानुष्कः, तस्य–धानुष्कस्य।

[अर्थः] अनिर्लोडितकार्यस्य = अनवलोकितकार्यस्य। अविचारितकार्यस्य। कार्याकार्यमजानतः। वाग्मिनः = वावदूकस्य केवलं। भाषणपरस्य। वाग्जालं = वागाडम्बरः। वाक्प्रबन्धः। निमित्तात् = लक्ष्यात्। अपराद्धेषोः = स्खलितशरस्य। च्युतबाणस्य। धानुष्कस्य = धन्विनः। वल्गितमिव = जल्पितमिव। आत्मश्लाघेव। वृथा=मुधैव। निष्फलमेव। निरर्थकमेव।

[भावार्थः] अविचारितकार्याकार्यस्य केवलं वावदूकस्य–वल्गितं—लक्ष्याच्च्युतसायकस्य धन्विनो वल्गितमिव—वृथैव। अतो विचारमेवादौ कृत्वा कार्यं करणीयं, कार्ये विनाशिते हेतुप्रदर्शनादिकं वृथैवेत्याशयः।

[कोशः] 'वेध्यं लक्ष्यं निमित्तञ्च शरव्यञ्च समं विदुः' इति यादवः। 'अपराद्धपृषत्कोऽसौ लक्ष्याद्यश्च्युतसायकः' इत्यमरः। 'धन्वी धनुष्मान् धानुष्कः' इत्यमरः।

[वाच्यप०] अनिर्लोडितकार्यस्य वाग्मिनो वाग्जालेन निमित्तान् अपराद्धेषोर्धानुष्कस्य वल्गितेनेव वृथा भूयते।

[भाषाटीका] बिना विचारे काम करनेवाला व्यक्ति—कार्य के बिगड़ जाने पर कितनी भी युक्तियाँ दिया करे पर उसका कहना वैसे ही

निष्फल है जैसे लक्ष्य पर बाण नहीं लगने पर धानुष्क का अपने पक्ष के समर्थन में गाल बजाना ॥ २७ ॥

इत्थं 'षाड्गुण्यादिपाठमात्रं न मन्त्र' इति सिद्धे सम्प्रति स्वयं मन्त्रस्वरूपमाह—

सर्वकार्यशरीरेषु मुक्त्वाऽङ्गस्कन्धपञ्चकम् ।
सौगतानामिवात्मान्यो नास्ति मन्त्रो महीभृताम् ॥ २८ ॥

[सर्वङ्कषा] **सर्वेति** । सर्वाणि कार्याणि सन्ध्यादीनि तानि शरीराणीवेत्युपमितसमासः । व्यासे सौगतानामिवेति लिङ्गात् । तेषु **सर्वकार्यशरीरेषु** । सर्वेषु शरीरेष्विव सर्वकार्येष्वित्यर्थः । **अङ्गानि स्कन्धा** इवेत्युपमितसमासः । तेषां **पञ्चक मुक्त्वा** । स्कन्धपञ्चकमिवाङ्गपञ्चकं हित्वेत्यर्थः । पञ्च परिमाणमस्येति पञ्चकम् । 'सङ्ख्यायाः सञ्ज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु' इति कप्रत्ययः । सुगतो भक्तिर्भजनीय एषां **सौगता** बौद्धाः । 'भक्तिः' इत्यण्प्रत्ययः । तेषामन्य **आत्मेव महीभृतामन्यो मन्त्रो नास्ति** । कर्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यसम्पत्, देशकालविभागः, विपत्तिप्रतीकारः, कार्यसिद्धिश्चेति पञ्चाङ्गानि । यथाह कामन्दकः—'सहायाः साधनोपाया विभागो देशकालयोः । विपत्तेश्च प्रतीकारः सिद्धिः पञ्चाङ्गमिष्यते ॥' इति । रूपवेदनाविज्ञानसञ्ज्ञासंस्काराः पञ्च स्कन्धाः । तत्र विषयप्रपञ्चो **रूपस्कन्धः**, तज्ज्ञानप्रपञ्चो **वेदनास्कन्धः**, आलयविज्ञानसन्तानो **विज्ञानस्कन्धः**, नामप्रपञ्चः **संज्ञास्कन्धः**, वासनाप्रपञ्चः **संस्कारस्कन्धः** । एवं पञ्चधा परिवर्तमानो ज्ञानसन्तान एवात्मा इति बौद्धाः । एवं यथा बौद्धानां सर्वेषु शरीरेषु स्कन्धपञ्चकातिरिक्त आत्मा नास्ति, तथा राज्ञामङ्गपञ्चकातिरिक्तो मन्त्रो नास्तीत्युपमाऽलङ्कारः । तच्चास्माकं समग्रमेवेत्ययमेव यात्राकाल इति भावः ॥ २८ ॥

[अन्वयः] **सर्वकार्यशरीरेषु अङ्गस्कन्धपञ्चकं मुक्त्वा सौगतानाम् अन्यः आत्मा इव महीभृताम् अन्यः मन्त्रो नास्ति ।**

[विग्रहः] (नीतिपक्षे—) सर्वाणि च तानि कार्याणि च सर्वकार्याणि, सर्वकार्याणि शरीराणीव सर्वकार्यशरीराणि । तेषु । (अन्यत्र-) सर्वकार्याणीव शरीराणि, तेषु इति विग्रहः । अङ्गानि स्कन्धा इव अङ्गस्कन्धाः । (अन्यत्र—)

अङ्गानीव स्कन्धाः, अङ्गस्कन्धाः। तेषां पञ्चकम् अङ्गस्कन्धपञ्चकम्। सुगतो भक्तिर्येषां ते सौगताः।

[अथः] सर्वकार्यशरीरेषु=सर्वेषु शरीरेष्विव सर्वेषु सन्धिविग्रहादिषु कार्येषु। अङ्गस्कन्धपञ्चकं = रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्काराख्यस्कन्धपञ्चकमिव कर्मारम्भोपाय—पुरुषद्रव्यसम्पत् — देशकालविभाग — विपत्प्रतीकार — कार्यसिद्धिरूपमङ्गपञ्चकम्। मुक्त्वा = हित्वा। परित्यज्य। सौगतानां = बौद्धानाम्। अन्यः = स्कन्धपञ्चकातिरिक्तः। आत्मेव = आत्मपदवाच्य इव। (यथा तेषामन्य आत्मा नास्ति तथा—) महीभृतां = राज्ञाम्। अन्यः = उक्ताऽङ्गपञ्चकातिरिक्तः। मन्त्रः = मन्त्रपदवाच्यः। नास्ति = नैवास्ति। न विद्यते। सौगतानां यथा स्कन्धपञ्चकमेवात्मा तथा राज्ञामङ्गपञ्चकमेव मन्त्र इत्यर्थः।

[भावार्थः] सौगतानामङ्गस्कन्धपञ्चकमेव यथाऽऽत्मा तथा राज्ञां कर्मारम्भोपायाद्यङ्गपञ्चकमेव मन्त्रः।

[कोशः] 'शरीरं वर्ष्म विग्रहः' इत्यमरः। 'सहायाः साधनोपाया विभागो देशकालयोः। विपत्तेश्च प्रतीकारः सिद्धिः पञ्चाङ्गमिष्यते' इति कामन्दकः।

[वाच्यप०] सर्वकार्यशरीरेषु अङ्गस्कन्धपञ्चकं मुक्त्वा अन्येन आत्मना इव महीभृताम् अन्येन मन्त्रेण न भूयते।

[भाषाटीका] जैसे बौद्धों के मत में रूप आदि पांच स्कन्धों से अलग आत्मा कोई वस्तु नहीं है (किन्तु रूपादि पांच स्कन्ध ही आत्मा है) वैसे ही राजाओं का भी पांच अङ्गों अलग मन्त्र कोई वस्तु नहीं है. (किन्तु कर्मारम्भोपाय आदि पांच अङ्ग ही मन्त्र है।) ॥ २८ ॥

अथ मन्त्रितार्थक्रियाविलम्बे दोषमाह—

मन्त्रो योध इवाऽधीरः सर्वाङ्गैः संवृतैरपि।
चिरं न सहते स्थातुं परेभ्यो भेदशङ्कया ॥ २९ ॥

[सर्वङ्कषा] मन्त्र इति । संवृतैर्गुप्तैः सर्वाङ्गैः—पूर्वोक्तैरुपायादिभिरुरःस्थलादिभिश्चोपलक्षितोऽपि । सर्वाङ्गसंवृतोऽपीत्यर्थः । मन्त्रो—विचारः । अधीरो—भीरुः । युध्यत इति योधो—भट इव । पचाद्यच् । परेभ्योऽन्येभ्योऽरिभ्यश्च । 'परं दूरान्यमुख्येषु परोऽरिपरमात्मनोः' इति वैजयन्ती । भेदो—विदारणं, तृतीयगामित्वं च, तस्य शङ्कया चिरं स्थातुम् । विलम्बितुमित्यर्थः । न सहते—न क्षमः । 'शकधृष-' इत्यादिना तुमुन्प्रत्ययः । अतो न विलम्बितव्यम्, अन्यथा मन्त्रभेदे कार्यहानिः स्यादिति भावः ॥ २९ ॥

[अन्वयः] संवृतैः सर्वाङ्गैः (—उपलक्षितोऽपि) मन्त्रः अधीरः योध इव परेभ्यो भेदशङ्कया चिरं स्थातुं न सहते ।

[विग्रहः] युद्ध्यते इति योधः । न धीरः अधीरः ।

[अर्थः] संवृतैः=सुगुप्तैः । सुरक्षितैः । सर्वाङ्गैः=उपायादिभिः सर्वाङ्गैः । उरोवक्षस्थलादिभिश्च सकलैरङ्गैः । उपलक्षितोऽपीति शेषः । सर्वाङ्गसंवृतोऽपीत्यर्थः । मन्त्रः=विचारः । अधीरः=भीरुः । कातरः । योध इव=भट इव । सैनिक इव । परेभ्यः=अन्येभ्यः । शत्रुभ्यश्च । भेदशङ्कया=विदारणशङ्कया । तृतीयलोककर्णगामित्वभीत्या, अन्यावगमनाशङ्कया च । चिरं=बहुकालं यावत् । स्थातुम्=अवस्थातुम् । विलम्बितुम् । न सहते=न क्षमते । न समर्थः ।

[भावार्थः] सर्वतः सुरक्षितोऽपि मन्त्रः—कवचादिना सुरक्षितोऽप्यधीरो भट इव—परेभ्यो भेदशङ्कया चिरं स्थातुं न शक्तः । अतस्त्वरया चैद्योऽभियातव्यो नात्र विलम्बो विधेयः ।

[कोशः] 'मन्त्रो वेदविशेषे स्याद्देवादीनाञ्च साधने । गुह्यवादेऽपि च पुमान्' इति मेदिनी । 'भटा योधाश्च योद्धारः' इत्यमरः । 'अधीरे कातरः' इत्यमरः । 'परं दूरान्यमुखेषु परोऽरिपरमात्मनोः' इति वैजयन्ती ।

[वाच्यप०] संवृतैः सर्वाङ्गैः (—उपलक्षितेन) अपि मन्त्रेण अधीरेण योधेनेव परेभ्यो भेदशङ्कया चिरं स्थातुं न सह्यते ।

[भाषाटीका] यदि मन्त्र (गुप्तसलाह्) के सभी अङ्ग (उपाय आदि पाँचो अङ्ग) गुप्त रखे जायँ तोभी वह ज्यादा देर तक गुप्त नहीं रह सकता, जैसे कवच आदि से सन्नद्ध भी कायर सिपाही ज्यादा समय तक युद्ध में शत्रुओं के बीच नहीं ठहर सकता ॥ २९ ॥

किञ्च नीतिसर्वस्वपर्यालोचनयापि न विलम्बः कार्य इत्यभिप्रेत्याह—

आत्मोदयः परज्यानिर्द्वयं नीतिरितीयती ।
तदूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्यं प्रतायते ॥ ३० ॥

[सर्वङ्कषा] आत्मोदय इति। आत्मन उदयो—वृद्धिः, परस्य—शत्रोः, ज्यानिः—हानिः। 'वीज्याहाज्वरिभ्यो निः' इत्यौणादिको निः प्रत्ययः। इति द्वयम्। इदं परिमाणमस्या इति इयती—एतावती। 'किमिदम्भ्यां वो घः' इति वतुपो वस्य घश्च। 'उगितश्च' इति ङीप्। नीतिः—नीतिसङ्ग्रहः। एतद्द्वयातिरिक्तो न कश्चिन्नीतिपदार्थोऽस्तीत्यर्थः। यदन्यत्षाड्गुण्यादिवर्णनं तत्सर्वमस्यैव प्रपञ्च इत्याह—तदिति। तद्द्वय-मूरीकृत्य—अङ्गीकृत्य। 'ऊरीकृतमुररीकृतमङ्गीकृतम्' इत्यमरः। 'ऊर्यादि-च्विडाचश्च' इति गतिसञ्ज्ञायां 'कुगति-प्रादयः' इति समासे क्त्वो ल्यप्। कृतिभिः—कुशलैः, वाचस्पत्यं—वाग्मित्वम्। कस्कादित्वादलुक्सत्वे। 'षष्ठ्याः पतिपुत्र—' इत्यादिना सत्वमिति स्वामी; तन्न। तस्य छन्दो-विषयत्वात्। ब्राह्मणादित्वाद्भावे ष्यञ्प्रत्ययः। प्रतायते—विस्तार्यते। कर्मणि लट्। 'तनोतेर्यकि' इत्यात्वम्। तस्मादात्मोदयार्थिभिरविलम्बाच्छ-त्रुरुच्छेत्तव्यः। तत्रान्तरायत्वात्तस्येति भावः ॥ ३० ॥

[अन्वयः] आत्मोदयः परज्यानिः इति द्वयम् इयती नीतिः। तदूरीकृत्य कृतिभिः वाचस्पत्यं प्रतायते।

[विग्रहः] आत्मन उदयः आत्मोदयः। परस्य ज्यानिः परज्यानिः। वाचस्पतेर्भावः कर्म वा वाचस्पत्यम्।

[अर्थः] आत्मोदयः=स्वस्याभ्युदयः। स्ववृद्धिः। आत्मनो लाभः। परज्यानिः=शत्रूणां च हानिः। शत्रूणां विनाशः।

इति द्वयम् = इदं द्वयमेव । इयती = एतावती । नीतिः = नीति-सारः । स्वलाभः परहानिरित्येतदेव नीतितत्त्वमित्यर्थः । तत् = स्वोदयः, परहानिश्चेत्येतद् द्वयम् । ऊरीकृत्य = स्वीकृत्य । अङ्गी-कृत्य । कृतिभिः = कुशलैः । नीतिनिपुणैः । वाचस्पत्यं = वाग्मिता । प्रतायते = विस्तार्यते । षाड्गुण्यादिविचारः सर्वोऽपि नीतिवेदि-नामेतावन्नीतिसारमूलक इत्यर्थः । एवञ्च स्वलाभाय शत्रुरुच्छे-त्तव्य एवेति तत्त्वम् ।

[भावार्थः] आत्मलाभो विपक्षहानिश्चेत्येतद्द्वयमेव नीते-र्मूलम् । एतदनुरोधेनैव नीतिविदो नीतिं निर्धारयन्ति । तत्स्वला-भान्तरायभूता रिपुरविलम्बमुच्छेत्तव्यः ।

[कोशः] 'ऊरीकृतमुररीकृतमङ्गीकृतम्' इत्यमरः । 'उदयः पर्वतो-न्नत्योः इति हैमः ।

[वाच्यप०] आत्मोदयः परग्लानिः इति इयत्या नीत्या भूयते । तदूरीकृत्य कृतिनः वाचस्पत्यं प्रतन्वन्ति ।

[भाषाटीका] अपना लाभ और शत्रु की हानि—यही नीति का सार है । अतः ये दोनों जिस तरह हों वही मन्त्र (उपाय) और नीति उपादेय है । इसीके आधार पर ही राजनीतिपटु विद्वान् लोग नीतिविस्तार—षाड्गुण्य कल्पना किया करते है । और शत्रु पर चढ़ाई करने से उक्त कार्य सिद्ध होते हैं अतः अविलम्ब शत्रु पर चढ़ाई करनी चाहिए ॥ ३० ॥

ननु लब्धोदयस्य किं परोच्छित्त्येत्यत्राह—

तृप्तियोगः परेणापि महिम्ना न महात्मनाम् ।
पूर्णश्चन्द्रोदयाकाङ्क्षी दृष्टान्तोऽत्र महार्णवः ॥ ३१ ॥

[सर्वङ्कषा] तृप्तियोग इति । महीयसां—महात्मनां । परेणापि—प्रभूतेनापि, महिम्ना—ऐश्वर्येण, तृप्तियोगः—सन्तोषलाभो न । अत्र—तृप्त्यभावे, पूर्णः सन् चन्द्रोदयाकाङ्क्षी । वृध्द्यर्थमिति भावः । महार्णवो दृष्टान्तः—दृष्टः अन्तो निश्चयो यस्मिन् । दृष्टान्तो—निदर्शनम् । उपमानमिति यावत् । राज्ञा वृद्धावलम्बुद्धिर्न कार्या । 'असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः

सन्तुष्टाश्च महीभुजः। सलज्जा गणिका नष्टा, निर्लज्जा च कुलाङ्गना॥' इति न्यायादिति भावः। नायं दृष्टान्तालङ्कारः, बिम्बप्रतिबिम्बभावेनौपम्यस्य गम्यत्वे तस्योत्थानात्। किन्तु दृष्टान्तशब्देन तस्याभिधानादुपमालङ्कारः। अतएव दृष्टान्तोदाहरणनिदर्शनरूपाः शब्दा न प्रयोक्तव्याः पौनरुक्त्यापत्तेरित्येकावल्यलङ्कारः॥ ३१॥

[अन्वयः] महात्मनाम् परेणापि महिम्ना तृप्तियोगो न। पूर्णः चन्द्रोदयाकाङ्क्षी महार्णवः अत्र दृष्टान्तः।

[विग्रहः] तृप्तेर्योगः—तृप्तियोगः। महान् आत्मा येषां ते महात्मानः, तेषां महात्मनाम्। चन्द्रस्य उदयः चन्द्रोदयः, चन्द्रोदयम् आकाङ्क्षते तच्छीलः चन्द्रोदयाकाङ्क्षी।

[अर्थः] महीयसां = महात्मनाम्। परेणापि = उत्कृष्टेनापि। विपुलेनापि। अतिमहताऽपि। प्रभूततमेनापि। महिम्ना = ऐश्वर्येण। तृप्तियोगः = सन्तोपलाभः। न = नैव भवति। अत्र = तृप्तियोगाऽभावे। पूर्णः=परिपूर्णः सन्नपि। समृद्धतमश्च भवन्नपि। चन्द्रोदयाकाङ्क्षी = स्वाभिवृद्ध्यर्थं शशाङ्कोदयमपेक्षमाणः। महार्णवः = सागरः। दृष्टान्तः = उदाहरणम्। उपमानम्। 'अस्ती'ति शेषः।

[भावार्थः] सर्वसमृद्धिशालिना महीयसाऽपि राज्ञा वृद्धौ सन्तोषो न विधेयः। परिपूर्णोऽपि महार्णवः स्वसमृद्धये चन्द्रोदयमभिवाञ्छत्येव। तत्स्वाभिवृद्धयेऽस्माभिरभियानङ्कार्यम्।

[कोशः] 'परः श्रेष्ठाऽरिदूरान्योत्तरे क्लीबन्तु केवले' इति मेदिनी।

[वाच्यप०] तृप्तियोगेन न भूयते। महार्णवेन दृष्टान्तेन भूयते।

[भाषाटीका] सब तरह समृद्धि सम्पन्न होने पर भी (राजाओं को) सन्तोष नहीं कर लेना चाहिए और अपनी उन्नति के लिए सतत चेष्टा करते रहना चाहिए। देखो—पूर्ण होते हुए भी समुद्र अपनी वृद्धि के लिए चन्द्रमा का उदय चाहता है। क्योंकि चन्द्रमा के उदय होने पर समुद्र बढ़ता है॥ ३१॥

तथापि सन्तोषे दोषमाह—

सम्पदा सुस्थिरम्मन्यो भवति स्वल्पयापि यः ।
कृतकृत्यो विधिर्मन्ये न वर्धयति तस्य ताम् ॥ ३२ ॥

[सर्वङ्कषा] सम्पदेति । यः स्वल्पयापि सम्पदा सुस्थिरमात्मानं मन्यत इति सुस्थिरम्मन्यः—स्वस्थमानी भवति । 'आत्ममाने खश्च' इति खश्प्रत्यये मुमागमः । तस्याल्पसन्तुष्टस्य, तां—स्वल्पसम्पदं, कृतकृत्यस्तावतैव कृतार्थो विधिर्दैवमपि न वर्धयति अहमिति मन्ये । पौरुषहीनाद्दैवमपि जुगुप्सते, तत्प्रवृत्तेः पारार्थ्यादिति भावः ॥ ३२ ॥

[अन्वयः] यः स्वल्पयापि सम्पदा सुस्थिरम्मन्यो भवति कृतकृत्यः विधिः तस्य ताम् न वर्धयतीति-मन्ये ।

[विग्रहः] सुस्थिरं आत्मानं मन्यते सुस्थिरम्मन्यः । कृतं कृत्यं येनाऽसौ कृतकृत्यः ।

[अर्थः] यः = यो जनः । स्वल्पया = अप्रभूतयाऽपि । स्तोकयाऽपि । सम्पदा = सम्पत्त्या । ऐश्वर्येण । सुस्थिरंमन्यः = सुस्थिरमानी । अलम्बुद्धिः । कृतकृत्यमानी । भवति = सम्पद्यते । तस्य = अल्पसन्तुष्टस्य सुस्थिरम्मन्यस्य पुंसः । तां = स्वल्पां सम्पत्तिम् । कृतकृत्यः = तावतैव कृतार्थः । विधिः = दैवम् । न वर्धयति = न संवर्द्धयति । इत्येवमिति शेषः । मन्ये = अहं कल्पयामि । विचारयामि ।

[भावार्थः] यः पुमानालस्योपहतः स्वल्पयाऽपि सम्पदा सुस्थिरमात्मानं मत्वा स्वसमृद्धये प्रयत्नं न करोति मन्ये विधिरपि तावतैव कृतार्थस्तस्य तां स्वल्पां सम्पदं न वर्द्धयति । अतः सम्पत्तावलम्बुद्धिर्न विधेया । किन्तु यत्नोऽभिवृद्धौ विधेयः ।

[कोशः] ' दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः ' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] येन स्वल्पयापि सम्पदा सुस्थिरम्मन्येन भूयते कृतकृत्येन विधिना तस्य सा न वर्ध्यते (इति मया) मन्यते ।

[भाषाटीका] जो मनुष्य थोड़ी सी सम्पत्ति को प्राप्त कर सन्तोष कर लेता है उसकी उस सम्पत्ति को दैव (अदृष्ट) भी कृतार्थ हो नहीं बढ़ाता ऐसा मैं समझता हूं । अतः अपनी सम्पत्ति को सदा बढ़ाते रहना चाहिए ॥ ३२॥

किञ्च पराक्रमलब्ध एवोदयो नान्यलब्ध इत्याह—

समूलघातमघ्नन्तः परान्नोद्यन्ति मानिनः ।
प्रध्वंसितान्धतमसस्तत्रोदाहरणं रविः ॥ ३३ ॥

[सर्वङ्कषा] समूलेति । मानिनः-अभिमानिनः परान् शत्रून् समूलं हत्वा समूलघातमघ्नन्तः । अनुन्मूलयन्त इत्यर्थः । 'समूलाकृतजीवेषु हन्कृञ्ग्रहः' इति णमुल् प्रत्ययः । 'कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः' इति हन्तेर-नुप्रयोगः । नोद्यन्ति । किन्तु हत्वैवोद्यन्तीत्यर्थः । तत्र—हत्वैवोदये । अन्धयतीत्यन्धं—गाढं तमोऽन्धतमसम् । 'ध्वान्ते गाढेऽन्धतमसम्' इत्य-मरः । 'अवसमन्धेभ्यस्तमसः' इत्यच्प्रत्ययः । प्रध्वंसितमन्धतमसं येन सः । उदयात्प्रागिति भावः । रविरुदाहरणं—दृष्टान्तः । अत्रापि [illegible] महार्णवः' इतिवदुपमालङ्कारो न तु दृष्टान्त इति द्रष्टव्यम् ॥ ३३ ॥

[अन्वयः] मानिनः परान् समूलघातमघ्नन्तः नोद्यन्ति । प्रध्वंसितान्धतमसः रविः तत्रोदाहरणम् ।

[विग्रहः] अन्धं तमः—अन्धतमसम् । प्रध्वंसितम् अन्धतमसं-येनासौ प्रध्वंसितान्धतमसः ।

[अर्थः] मानिनः=अभिमानिनः । परान्=शत्रून् । वैरिणः । रिपून् । समूलघातमघ्नन्तः = समूलमनुत्सारयन्तः = सानुबन्ध-मविनाशयन्तः । नोद्यन्ति = नोद्गच्छन्ति । नोदयं लभन्ते इति वा । किन्तु हत्वैवोद्यन्तीत्यर्थः । तत्र = हत्वैवोदये । प्रध्वंसितान्धतमसः = उदयात्पूर्वमेवोन्मूलितगाढान्धकारः । रविः = सूर्यः । उदाहरणं = दृष्टान्तः । निदर्शनम् । उपमानम् ।

[भावार्थः] शत्रूनविनाश्य कथमुदयो भवेन्मानिनाम् ? । अन्धकारं विनाश्यैव हि रविरुदेति नान्यथा ।

[कोशः] 'ध्वान्तेगाढेऽन्धतमसम्' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] मानिभिः परान् समूलघातम् अघ्नद्भिर्नोदीयते ।

[भाषाटीका] बड़े लोग शत्रुको जड़ से उखाड़े बिना अभ्युदय को प्राप्त नहीं करते । देखो—अन्धकार को दूर करके ही सूर्य भगवान् उदय होते हैं, अन्धकार के रहते नहीं ॥ ३३ ॥

किञ्चानुच्छिन्नशत्रोः प्रतिष्ठैव दुर्घटेत्याह—

विपक्षमखिलीकृत्य प्रतिष्ठा खलु दुर्लभा ।
अनीत्वा पङ्कतां धूलिमुदकं नावतिष्ठते ॥ ३४ ॥

[सर्वङ्कषा] विपक्षमिति । विपक्षं—शत्रुमखिलीकृत्य । खिलमुत्सन्नमकृत्वा । अनुन्मूल्येत्यर्थः । **प्रतिष्ठा दुर्लभा खलु** । तथाहि—उदकं कर्तृ । धूलिम् । स्वपरिभाविनीमिति भावः । पङ्कतामनीत्वा । नाधः कृत्येत्यर्थः' । **नावतिष्ठते** । किन्तु नीत्वैव तिष्ठतीत्यर्थः । 'समवप्रविभ्यः स्थः' इत्यात्मनेपदम् । वाक्यभेदेन प्रतिबिम्बनापेक्षो दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ३४ ॥

[अन्वयः] विपक्षमखिलीकृत्य प्रतिष्ठा दुर्लभा खलु । उदकं (कर्तृ) धूलिं पङ्कताम् अनीत्वा न अवतिष्ठते ।

[विग्रहः] दुःखेन लब्धुं योग्या दुर्लभा । पङ्कस्य भावः पङ्कता, तां—पङ्कताम् ।

[अर्थ] विपक्षं = शत्रुम् । अखिलीकृत्य = अविनाश्य । अहत्वा । अनुन्मूल्य । प्रतिष्ठा = अवस्थितिः । यशश्च । दुर्लभा खलु = दुर्लभैव । तथा हि—उदकं = जलं कर्तृ । धूलिं = रेणुम् । पङ्कतां = कर्दमताम् । अनीत्वा = अगमयित्वा । अतिरस्कृत्य । अनधः कृत्वेति यावत् । नावतिष्ठते = न तिष्ठति । किन्तु पङ्कतां नीत्वैवोदकमवतिष्ठते इत्यर्थः ।

[भावार्थः] रिपूनधः कृत्वैव राज्ञाऽवस्थातुं शक्यते नान्यथा । उदकं हि स्वपरिभाविनीं धूलिं कर्दमतां नीत्वैवाऽवतिष्ठते नान्यथा ।

[कोशः] 'रेणुर्द्वयोः, स्त्रियां धूलिः, पांसुर्ना, न द्वयो रजः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] धूलिं पङ्कतामनीत्वा उदकेन न अवस्थीयते ।

[भाषाटीका] शत्रुको अच्छी तरह विनष्ट किए बिना टिकना (रहना) असम्भव है । देखो जल जब तक मिट्टीको कीचड़ नहीं बना लेता (परास्त कर नीचे नहीं दबा लेता) तब तक ठहर नहीं सकता । (जल तब तक मिट्टी के ऊपर नहीं उठ सकता है जब तक मिट्टीको गीली नहीं कर लेता है ।।३४।।

नन्वयं शिशुपाल एकाकी, नः किं करिष्यतीत्याशङ्क्याह—

म्रियते यावदेकोऽपि रिपुस्तावत्कुतः सुखम् ।
पुरः क्लिश्नाति सोमं हि सैंहिकेयोऽसुरद्रुहाम् ॥३५॥

[सर्वङ्कषा] म्रियत इति । एकोऽपि रिपुर्यावद्म्रियते अवतिष्ठते । 'धृङ् अवस्थाने' इति धातोस्तौदादिकात्कर्तरि लट् । 'रिङ्शयग्लिङ्क्षु' इति रिङादेशः । तावत्—तदवधि । सुखं कुतः ? । 'यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ' इत्यमरः । तथाहि—सिंहिकाया अपत्यं पुमान्सैंहिकेयो—राहुः । 'तमस्तु राहुः स्वर्भानुः सैंहिकेयो विधुन्तुदः' इत्यमरः । 'स्त्रीभ्यो ढक्' । असुरद्रुहां—देवानां पुरोऽग्रे सोमं क्लिश्नाति-बाधते । प्रायुपां सोमग्रहणम् । सूर्यञ्चेति भावः । तस्मादेकोऽपि शत्रुरुच्छेत्तव्य इति भावः । 'अग्नेः-शेषमृणाच्छेषं शत्रोः शेषं न शेषयेत्' इति तात्पर्यम् । विशेषेण सामान्य-समर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ३५ ॥

[अन्वयः] एकोपि रिपुः यावत् म्रियते तावत् सुखम् कुतः ? । सैंहिकेयः असुरद्रुहां पुरः सोमं क्लिश्नाति हि ।

[विग्रहः] असुरेभ्यो द्रुह्यन्तीति असुरद्रुहस्तेषाम् असुरद्रुहाम् ।

[अर्थः] एकोऽपि = एकाकी खल्वपि । रिपुः = शत्रुः । यावन्म्रियते = यावदवतिष्ठते । यावज्जीवति । तावत् = तावत्कालं । तावत्पर्यन्तम् । तदवधि । सुखं = शिवं । कुतः = कस्माल्लभ्यते । नैव लभ्यते इत्यर्थः । हि = यतः । सैंहिकेयः = राहुः । असुरद्रुहां = देवानाम् । पुरः = अग्रेऽपि । सोमं = चन्द्र-

मसम्। सूर्याचन्द्रमसाविति यावत्। क्लिश्नाति = पीडयति।

[भावार्थः] शत्रुर्यावदेकोऽप्यवतिष्ठते तावद्भयं भवत्येव। एकोऽपि पर्वणि राहुः सूर्याचन्द्रमसौ पीडयत्येव। तस्माच्छत्रुर्ना-वशेष्यः, किन्तु प्रयत्नेनोच्छेत्तव्य एव।

[कोशः] 'तमस्तु राहुः स्वर्भानुः सैंहिकेयो विधुन्तुदः' इत्यमरः। 'यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे' इत्यमरः।

[वाच्यप०] यावत् एकेनापि रिपुणा भ्रियते तावत्कुतः सुखम्?। सैंहिकेयेन असुरद्रुहां पुरः सोमः क्लिश्यते हि।

[भाषाटीका] शत्रु जब तक एक भी जीता रहेगा कष्ट देगा। देखो देवताओं के रहते हुए भी सूर्य चन्द्रमा को राहु समय २ पर कष्ट पहुँचाया ही करता है ॥ ३५ ॥

ननु क्षुद्रोऽयं चैद्यः किं न करिष्यतीत्याशङ्क्य तस्य बलवत्तां वक्तुं मित्राऽमित्रबलाबलविवेकं तावत्करोति—

सखा गरीयान् शत्रुश्च कृत्रिमस्तौ हि कार्यतः।
स्यातामामित्रौ मित्रे च सहजप्राकृतावपि ॥ ३६ ॥

[सर्वङ्कषा] सखेति। क्रियया उपकारापकारान्यतररूपया। निर्वृत्तः कृत्रिमः। 'ड्वितः क्त्रिः' 'क्त्रेर्मम्नित्यम्'। सखा-सुहृत् शत्रुश्च कृत्रिमो गरीयान्। कुतः—हि यस्मात्तौ कृत्रिममित्रशत्रू। कार्यतः—उपकाराप-काररूपकार्यवशात्। 'निर्वृत्तौ'विति शेषः। उक्तकार्योपाधेर्यावज्जीवमनपाया-दनयोर्मित्रामित्रभावोऽप्यनपायीति गरीयस्त्वमिति भावः। सहजप्राकृतौ तु नैवमित्याह—स्यातामिति। सह जातः सहजः। एकशरीरावयवत्वात्। तत्र सहजं मित्रं—मातृष्वसेयपितृष्वसेयादि। सहजशत्रुस्तु—पितृव्य-तत्पुत्रादिःप्रकृत्या सिद्धः-प्राकृतः। पूर्वोक्तसहजकृत्रिमलक्षणरहित इत्यर्थः। तत्र विषयान्तरः प्राकृतः शत्रुः। तदनन्तरः प्राकृतं मित्रम्। अपि त्वर्थे। तौ सहजप्राकृतौ—शत्रुमित्रे च स्यातां तावात्मकार्यवशादनियमेनोभयरू-पतामापद्येते न कृत्रिमशत्रु मित्रे। कृत्रिमः शत्रुः शत्रुरेव। मित्रञ्च मित्रमेवेति

कृत्रिमावेव मित्रामित्रौ गरीयांसौ न तु सहजौ, नापि प्राकृतावित्यर्थः। अनेन कृत्रिमत्वं सर्वापवादीति सिद्धम् ॥ ३६ ॥

[अन्वयः] कृत्रिमः सखा शत्रुश्च गरीयान्। हि तौ कार्यतः। सहजप्राकृतौ—...मित्रौ मित्रे च स्याताम्।

[विग्रहः] सह जातः सहजः। प्रकृत्या जातः प्राकृतः।

[अर्थः] कृत्रिमः = यथायथम् उपकारेणापकारेण च निर्वृत्तः। सखा = सुहृत्। शत्रुश्च = रिपुश्च। 'कृत्रिम' इति शेषः। गरीयान्= श्रेष्ठः। तयोर्मित्रामित्रभावस्यानपायित्वात्। उपकाराज्जातं मित्रं बलवदपकाराज्जातो रिपुश्च सर्वतो बलवानित्यर्थः। हि = यतः। तौ = कृत्रिमः सखा, शत्रुश्चेत्येतौ। कार्यतः=उपकारापकाररूपकार्यवशात्। निवृत्ताविति शेषः। सहजप्राकृतावपि = सहजात-प्रकृति-सिद्धौ तु। अमित्रौ = कदाचित्कार्यवशाच्छत्रू। मित्रे च = कदाचित्कार्यवत्सखायौ, यथायथं चाऽनियमेन। स्यातां = भवतः। (सहजप्राकृतौ शत्रुसुहृदावनियमेन कदाचित्कार्यवशाच्छत्रुतां कदाचिच्च मित्रतां भजत इति तयोर्न तथा गुरुत्वं यथा कृत्रिमयोः शत्रुसुहृदोर्गुरुत्वमस्ति। कृत्रिमयोः सर्वदैकरूपत्वात्।)

[भावार्थः] सहजप्राकृतौ शत्रुसुहृदौ न तथा गौरवं भजतो यथा कृत्रिमावमित्रसुहृदौ भजतः। यतः सहजप्राकृतौ शत्रुसुहृदौ च कादाचित्कौ, कृत्रिमौ तौ तु नकदाचिदपि शत्रुतां, मित्रतां च त्यजत इति तौ गरीयांसौ। कृत्रिमश्चायं चैद्यः शत्रुरिति तस्योन्मूलनं नितरामावश्यकम्।

[कोशः] 'अथ मित्रं सखा सुहृत्' इत्यमरः।

[वाच्यप०] सहजप्राकृताभ्यां अमित्राभ्यां मित्राभ्यां च भूयेत।

[भाषाटीका] शत्रु और मित्र तीन २ प्रकार के हैं—१ सहज शत्रु २ प्राकृत शत्रु ३ कृत्रिम शत्रु और १ सहज मित्र २ प्राकृत मित्र ३ कृत्रिम

मित्र। इन में कृत्रिम मित्र और कृत्रिमशत्रु सब से प्रधान हैं, क्योंकि सहज और प्राकृत शत्रु मित्र तो कभी अपना भाव छोड़ भी देते हैं, अर्थात् सहज मित्र कभी शत्रु भी हो सकता है, सहज शत्रु कभी मित्र भी होजाता है। परन्तु कृत्रिम मित्र व कृत्रिम शत्रु तो कार्यवशात् होते हैं, अतः वे अपना भाव कभी नहीं बदलते हैं। अतः वेही असली शत्रु व मित्र हैं। (सहज शत्रु—चाचा, और उसके पुत्र। सहजमित्र—मौसी के लड़के, तथा फुवा के लड़के। प्राकृतशत्रु—सीमा के निकट का राजा आदि। प्राकृत मित्र—शत्रु की सीमाका राजा आदि। कृत्रिम शत्रु व मित्र—कार्यवशात् हुए शत्रु व मित्र)॥ ३६ ॥

एवं चेदस्माकं पैतृष्वसेयः शिशुपालः सहजमित्रत्वात्सन्धातव्यो न तु यातव्य इत्यत आह—

उपकर्त्रारिणा सन्धिर्न मित्रेणाऽपकारिणा ।
उपकारापकारौ हि लक्ष्यं लक्षणमेतयोः ॥ ३७ ॥

[सर्वङ्कषा] उपकर्त्रेति। उपकर्त्रा—उपकारकारिणा, अरिणाऽपि—'सहजेन, प्राकृतेन चे' ति शेषः। सन्धिः—कार्यः। अरित्वापवादेन कृत्रिम-मित्रताया बलीयस्या यावज्जीवभाविन्यास्तत्रोत्पन्नत्वादिति भावः। एवमपकारिणा—मित्त्रेणापि। 'सहजेन, प्राकृतेन वे' ति शेषः। 'सन्धिर्न कार्यः'। मित्त्रत्वापवादेन कृत्रिमशत्रुताया बलीयस्या यावज्जीवभावन्यास्तत्रोत्पन्नत्वादिति भावः। ननु साक्षादरिणा सन्दध्यान्मित्त्रेण कथं विरुन्ध्यादित्याशङ्क्य क्रियया तयोर्वैपरीत्याददोष इत्याह—हि यस्मादुपकारापकारावेव एतयोर्मित्त्रामित्त्रयोर्लक्षणं स्वरूपं, लक्ष्यं—द्रष्टव्यम्। उपकर्तैव मित्त्रम्, अपकर्तैव शत्रुरित्यर्थः। तस्मात्सहजमित्त्रत्वेऽपि चैद्यः क्रियया शत्रुत्वाद्यातव्य एवेति भावः॥ ३७ ॥

[अन्वयः] उपकर्त्रा अरिणा (अपि) सन्धिः (कार्यः) अपकारिणा मित्त्रेण (अपि सन्धिः) न (कार्यः)। हि उपकारापकारौ एतयोः लक्षणं लक्ष्यम्।

[विग्रहः] उपकरोतीति उपकर्ता, तेन उपकर्त्रा । उपकारश्च अपकारश्च उपकारापकारौ । लक्ष्यतेऽनेन तत् लक्षणम् ।

[अर्थः] उपकर्त्रा=उपकारकारिणा । अरिणा=शत्रुणाऽपि । सहजेन प्राकृतेन वा रिपुणाऽपि । सन्धिः=सन्धानं कार्यम् । बलवत्या कृत्रिममित्त्रतयाऽरित्वस्य तत्र बाधान्मैत्त्री युक्तेत्यर्थः । अपकारिणा=अपकारपरेण । मित्त्रेण=सुहृदाऽपि । सहजेन प्राकृतेन वा मित्त्रेणाऽपि । सन्धिः=मैत्त्री । न=नैव कार्यः । कृत्रिमशत्रुताया बलवत्त्वान्मैत्त्री तत्र नोचितेत्यर्थः । हि=यतः । उपकारापकारौ= उपक्रियाऽपक्रिये एव । एतयोः=मित्त्रामित्त्रयोः । लक्षणं=स्वरूपं । चिह्नम् । लक्ष्यं=द्रष्टव्यम् । उपकर्त्तैव हि सुहृत्, अपकर्त्तैव हि शत्रुरित्यर्थः ।

[भावार्थः] उपकारो मित्त्रलक्षणमपकारः शत्रोः । तदेवमपकारकारितया चैद्योऽस्माकं रिपुः ।

[कोशः] 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' इत्यमरः । 'अथ मित्रं सखा सुहृत्' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] उपकर्त्रा अरिणा सन्धिं कुर्यात् । अपकर्त्रा मित्त्रेणापि सन्धिं न कुर्यात् । उपकारापकाराभ्यां लक्षणेन लक्ष्येण भूयते ।

[भाषाटीका] उपकार करनेवाले शत्रु से भी सन्धि (मित्रता) करलेनी चाहिए पर अपकारी मित्र से भी सन्धि नहीं हो सकती । क्योंकि उपकार और अपकार ही मित्र और शत्रु का लक्षण है ॥ ३७ ॥

अथ चैद्यस्य कृत्रिमशत्रुत्वं चतुर्भिराह—

त्वया विप्रकृतश्चैद्यो रुक्मिणीं हरता हरे ! ।
बद्धमूलस्य मूलं हि महद्वैरतरोः स्त्रियः ॥ ३८ ॥

[सर्वङ्कषा] त्वयेति । हे हरे, रुक्मिणीं हरता । बन्धुभिस्तस्मै प्रदत्तां राक्षसधर्मेणोद्वहतेत्यर्थः । 'राक्षसो युद्धहरणात्' इति याज्ञवल्क्यः । 'गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्त्रस्य तौ स्मृतौ' इति मनुः । त्वया चैद्यो विप्रकृतः—विप्रियं प्रापितः । तथाहि—बद्धमूलस्य—रूढमूलस्य ।

वैरतरोः स्त्रियो महत्-प्रधानं मूलम् । हि निश्चये । रूपकसंसृष्टोऽयं सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ३८ ॥

[अन्वयः] हरे ! रुक्मिणीं हरता चैद्यः त्वया विप्रकृतः । (तथाहि—) बद्धमूलस्य वैरतरोः स्त्रियः महत् मूलं हि ।

[विग्रहः] बद्धं मूलं यस्य येन वाऽसौ बद्धमूलः, तस्य-बद्धमूलस्य । वैरमेव तरुः वैरतरुः, तस्य-वैरतरोः ।

[अर्थः] हरे = हे कृष्ण । रुक्मिणीं = तन्नाम्नीं रुक्मिभगिनीम् । हरता = कुण्डिननगरादपहरता । राक्षसधर्मेणोद्वहता च । त्वया = भवता । चैद्यः = चेदिदेशाधिपः स शिशुपालः । विप्रकृतः = अपकृतः । विप्रियं प्रापितः । (तथा हि—) बद्धमूलस्य = रूढमूलस्य । प्रवृद्धस्य । वैरतरोः = विरोधवृक्षस्य । स्त्रियः = कामिन्यः । महत् = प्रधानम् । मूलं हि = निश्चितं कारणम् । मूलञ्च ।

[भावार्थः] रुक्मिणीहरणाच्चैद्यस्त्वया विप्रकृतः । स्त्रियो हि विरोधतरुमूलभूताः । स्त्रीनिमित्तं वै विरोधः ।

[कोशः] ' वैरं विरोधो विद्वेषः ' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] हरे ! रुक्मिणीं हरन् त्वं चैद्यं विप्रकृतवान् ।

[भाषाटीका] हे कृष्ण ! रुक्मिणी का हरण कर आपने ही शिशुपाल से वैर ठाना है । क्योंकि वैर की जड़ स्त्रियाँ ही होती है ॥ ३८ ॥

अथ तेनापि त्वं विप्रकृत इत्याह—

त्वयि भौमङ्गते जेतुमरौत्सीत्स पुरीमिमाम् ।
प्रोषिताऽर्यमणं मेरोरन्धकारस्तटीमिव ॥ ३९ ॥

[सर्वङ्कषा] त्वयीति । त्वयि—भूमेरपत्यं पुमांसं भौमं—नरकासुरं, जेतुं गते सति । सः—चैद्य इमां पुरीं—द्वारकाम् । प्रोषितोऽर्यमा सूर्यो यस्यास्तां मेरोस्तटीं—सानुमन्धकार इवारौत्सीत्—रुद्धवान् । रुधेरनिटो लुङि सिचि वृद्धिः । उपमालङ्कारः ॥ ३९ ॥

[अन्वयः] त्वयि भौमं जेतुं गते (सति) स इमाम् पुरीम्—प्रोषितार्यमणाम् मेरोः तटीम् अन्धकार इव—अरौत्सीत् ।

[विग्रहः] प्रोषितः अर्यमा यस्याः सा प्रोषितार्यमा, ताम्—प्रोषितार्यमणम् ।

[अर्थः] त्वयि=भवति श्रीकृष्णे । भौमं = भौमासुरम् । नरकासुरम् । जेतुं = विजेतुम् । गते=इतःप्रयाते सति । सः = शिशुपालः । इमां पुरीं = द्वारकाम् । प्रोषितार्यमणं = गतभास्कराम् । अपेतदिवाकराम् । मेरोः = सुमेरोः । तटीं = प्रस्थम् । सानुम् । अन्धकार इव = ध्वान्तमिव । अरौत्सीत् = अवरुद्धवान् । रुरोध ।

[भावार्थः] सूर्यगमनानन्तरं सुमेरोस्तटीं यथाऽन्धकारो रुणद्धि तथैव त्वद्रहितामिमां पुरीं स चैद्योऽवरुरोध ।

[कोशः] 'पूः स्त्री पुरीनगर्यौ वा' इत्यमरः । 'सूरसूर्यार्यमादित्यद्वादशात्मदिवाकराः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] त्वयि जेतुं गते तेन इयम् पुरी—प्रोषितार्यम्णा मेरोस्तटी अन्धकारेणेव—अरोधि ।

[भाषाटीका] सूर्य भगवान् के आगे बढ़ जानेपर सुमेरु के शिखरों पर जैसे अन्धकार आक्रमण करता है (छा जाता है) वैसे ही नरकासुर को मारने जब आप कामरूप (आसाम) देशको गए थे उस समय शिशुपाल ने इस द्वारकापुरी पर चढ़ाई की थी ॥ ३९ ॥

अपकारान्तरमाह—

आलप्याऽलमिदं बभ्रोर्यत्स दारानपाहरत् ।
कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः ॥ ४० ॥

[सर्वङ्कषा] आलप्येति । स चैद्यो बभ्रोः-यादवभेदस्य दारान्—भार्याम् । 'भार्या जायाथ पुंभूम्नि दाराः स्यात्तु कुटुम्बिनी' इत्यमरः । अपाहरदिति यदिदं—दारापहरणम् । आलप्य—उच्चार्य—अलम् । नालपनीयमित्यर्थः । 'अलङ्खल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा' इति क्त्वाप्रत्यये समासे

ल्यबादेशः । यतः—पापानां—पाप्मनां (कथा-) कथनमुच्चारणमपि । 'चिन्तिपूजिकुथिकुम्बि—' इत्यप्रत्ययः । अश्रेयसे—अनर्थाय, अलं-समर्थं खलु । 'नमः स्वस्ति—' इत्यादिना चतुर्थी । अत्र निषिध्यमानालपननिषेधन-समर्थनात्कार्येण कारणसमर्थकोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ४० ॥

[अन्वयः] स बभ्रोर्दारान् अपाहरत् (इति) इदम् आलप्य अलम् । यतः पापानाम् कथापि अश्रेयसे अलम् खलु (भवति) ।

[विग्रहः] न श्रेयः अश्रेयः, तस्मै अश्रेयसे ।

[अर्थः] सः = चैद्यः । बभ्रोः = बभ्रुनामकस्य यादवस्य । दारान् = भार्याम् । अपाहरत् = जहार । बलात्कारेणाऽहार्षीत् । इदम् = इतीदं दारापहरणम् । आलप्य = उच्चार्य । अलम् = कृतम् । न किञ्चित्फलम् । तदुच्चारणं व्यर्थमेवेत्यर्थः । यतः—यस्मा-त्कारणात् । पापानां = पाप्मनाम् । पापिनाम् । कथाऽपि= कथनमपि । तन्नामोच्चारणमपि । अश्रेयसे = अमङ्गलाय । पापाय । अलं खलु = समर्थं खलु ।

[भावार्थः] 'स चैद्यो द्वारकावासिनो बभ्रोर्यादवस्य भार्यां जहारे' त्यादि तत्पापकथयाऽप्यालं, यतः पाप्मनां कथा-ऽप्यमङ्गलाया पापाय च प्रभवति ।]

[कोशः] 'भार्या जायाऽथ पुंभूम्नि दाराः स्यात्तु कुटुम्बिनी' इत्यमरः । 'निषेधवाक्यालङ्कारे जिज्ञासाऽनुनये खलु' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] तेन बभ्रोः दारा अपाह्रियन्त । कथयाऽपि अश्रेयसे अलं (भूयते) ।

[भाषाटीका] उस शिशुपाल ने यहाँ बभ्रु (यादवविशेष) की स्त्री को जबरदस्ती हरण कर लिया इत्यादि उसके पाप की बातें भी नहीं कहनी चाहिए, क्योंकि पापियों के पाप की चर्चा से भी पाप लगता है ॥ ४० ॥

फलितमाह—

विराद्ध एवं भवता, विराद्धा बहुधा च नः ।
निर्वर्त्यतेऽरिः क्रियया स श्रुतश्रवसः सुतः ॥ ४१ ॥

[सर्वङ्कषा] विराद्ध इति। एवं भवता विराद्धः—विप्रकृतः। राधेरनिटः कर्मणि क्तः। बहुधा नोऽस्माकं च विराद्धा—विप्रकर्ता। श्रुतश्रवाः—नाम हरेः पितृष्वसा, तस्याः सुतः। पैतृष्वसेयत्वात्सहजमित्रमपीति भावः। स—चैद्यः। क्रियया—पूर्वोक्तान्योन्यापक्रियया। अरिर्निर्वर्त्यते—कृत्रिमः शत्रुः क्रियते। अतो बलीयस्त्वादनुपेक्ष्य इति भावः ॥४१॥

[अन्वयः] एवं भवता विराद्धः, बहुधा नः विराद्धा स श्रुतश्रवसः सुतः क्रियया अरिः निर्वर्त्यते।

[विग्रहः] विराध्यते स्म इति विराद्धः। विराध्यतीति विराद्धा।

[अर्थः] एवम् = इत्थम्। भवता = त्वया। विराद्धः = विप्रकृतः। बहुधा = बहुप्रकारेण। नः = अस्माकञ्च। विराद्धा = विप्रकर्त्ता। श्रुतश्रवसः सुतः = श्रुतश्रवोनामिकाया अस्मत्पितृष्वसुः पुत्रः शिशुपालः। 'सहजमित्रमपी' ति शेषः। सः=चैद्यः। क्रियया=परस्परापकारेण। अरिः=कृत्रिमः शत्रुः। निर्वर्त्यते= क्रियते।

[भावार्थः] सहजमित्रमपि स सम्प्रति चैद्योऽपकारकारितया कृत्रिमः शत्रुर्जात इति नोपेक्ष्यः।

[कोशः] 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषण दुर्हृदः' इत्यमरः।

[वाच्यप०] एयं भवता विराद्धं, नः बहुधा विराद्धारम् श्रुतश्रवसः सुतम् क्रिया अरिं निर्वर्तयति।

[भाषाटीका] इस प्रकार तुमारे द्वारा अपकृत हुआ वह शिशुपाल वारंवार हमारा अपकार करने से अब हमारा कृत्रिम शत्रु होगया है। अतः उसकी उपेक्षा करना ठीक नहीं है ॥ ४१ ॥

अत्राप्युपेक्षायां दोषमाह—

विधाय वैरं सामर्षे नरोऽरौ य उदासते।
प्रक्षिप्योदर्चिषं कक्षे शेरते तेऽभिमारुतम् ॥ ४२ ॥

[सर्वङ्कषा] विधायेति। ये नरः—पुमांसः। 'स्युः पुमांसः पञ्चजनाः

पुरुषाः पूरुषा नरः' इत्यमरः । सामर्षे—प्रागेव सरोषेऽरौ वैरं विधाय । स्वयं चापकृत्येत्यर्थः । उदासते—उपेक्षन्ते । ते—नरः । कक्षे—गुल्मे । 'कक्षस्तु गुल्मे दोर्मूले पापे जीर्णवने तृणे' इति वैजयन्ती । उदर्चिषम्—अधिकज्वालम् । अग्निं प्रक्षिप्य, अभिमारुतम् । आभिमुख्येऽव्ययीभावः । शेरते—स्वपन्ति । तद्वन्नाशहेतुरित्यर्थः । 'शीङो रुट्' इति रुडागमः । अत्र ये उदासते ते शेरते इति विशिष्टौदासीन्यशयनयोर्वाक्यार्थयोर्निर्दिष्टैकत्वासम्भवात्सादृश्यलक्षयामसम्भवद्वस्तुसम्बन्धे वाक्यार्थनिर्वृत्तिरिति निदर्शनाभेदः । न चायं दृष्टान्तः, वाक्यभेदेन प्रतिबिम्बकारणाक्षेपे तस्योत्थानात् । अत्र तु वाक्यार्थे वाक्यार्थसमारोपाद्वाक्यैकवाक्यतायां तदभाव इत्यलङ्कारसर्वस्वकारः ॥ ४२ ॥

[अन्वयः] ये नरः सामर्षे अरौ वैरं विधाय उदासते ते कक्षे उदर्चिषम् प्रक्षिप्य अभिमारुतम् शेरते ।

[विग्रहः] अमर्षेण सहितः सामर्षः, तस्मिन्—सामर्षे । उद्गतानि अर्चींषि यस्यासौ उदर्चिः, तम्—उदर्चिषम् । मारुतमभिलक्ष्य अभिमारुतम् ।

[अर्थः] ये नरः = पुमांसः । सामर्षे = प्रागेव सरोषे । कुपिते । अरौ = शत्रौ । वैरं = विरोधं । विधाय = कृत्वा । तस्य स्वयमपकारं कृत्वेत्यर्थः । उदासते = उपेक्षन्ते । ते = नरः । कक्षे = गुल्मे । उदर्चिषं = उद्गतज्वालं वह्निम् । निक्षिप्य = निधाय । अभिमारुतं = मारुताभिमुखम् । शेरते = स्वपन्ति ।

[भावार्थः] सरोषे शत्रौ वैरं विधाय ये पुरुषा उदासीनास्तिष्ठन्ति ते तृणपुञ्जे उद्गतशिखं वह्निं निक्षिप्य मारुताभिमुखं स्वपन्ति । नूनं ते विनश्यन्तीत्याशयः ।

[कोशः] 'कोपक्रोधामर्षरोषप्रतिघा रुट्क्रुधौ स्त्रियौ इत्यमरः । 'कक्षस्तु गुल्मे दोर्मूले पापे जीर्णवने तृणे' इति वैजयन्ती । 'स्युः पुमांसः पञ्चजनाः पुरुषाः पूरुषा नरः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] यैर्नृभिः सामर्षेऽरौ वैरं विधाय उदास्यते तैः कक्षे उदर्चिषम् प्रक्षिप्य अभिमारुतं शय्यते ।

[भाषाटीका] जो मनुष्य क्रोधी शत्रु से वैर बान्धकर भी चुपचाप बैठते हैं वे सूखी घास की ढेरी में जलती हुई अग्नि को फेंककर हवा की ओर सोते हैं। अर्थात् वे शीघ्र ही नाश को प्राप्त होते हैं ॥ ४२ ॥

तथापि बान्धवत्वात्सोढव्य इत्याशङ्क्याह—

मनागनभ्यावृत्त्या वा कामं क्षाम्यतु यः क्षमी।
क्रियासमभिहारेण विराध्यन्तं क्षमेत कः ॥४३॥

[सर्वङ्कषा] मनागिति। यः क्षमी—सहनः। 'शमित्यष्टाभ्यो घिनुण्' इति घिनुणप्रत्ययः। स सोढा—मनागल्पम्। अभ्यावृत्तावपीति भावः। अनभ्यावृत्त्या—सकृद्वा। अनल्पत्वेऽपीति भावः। विराध्यन्तम्—अपकुर्वाणं, कामं—भृशं। क्षाम्यतु—क्षमताम्। सम्भवनायां लोट्। 'शमामष्टानां दीर्घः श्यनि'। क्रियासमभिहारेण—भृशम्, पौनःपुन्येन चेत्यर्थः। न च पुंवाक्येष्वनेकार्थत्वं दोषाय। विराध्यन्तं कः क्षमेत—सहेत, सोढुं शक्नुयात्। न कोऽपीत्यर्थः। 'शकि लिङ्—' इति वाक्यार्थे लिङ्। 'क्षमू प्रसहने' दैवादिको, भौवादिकश्च ॥ ४३ ॥

[अन्वयः] यः क्षमी (सः) मनाक् अनभ्यावृत्त्या वा (विराध्यन्तम्) कामम् क्षाम्यतु, क्रियासमभिहारेण विराध्यन्तं (तु) कः क्षमेत ?

[विग्रहः] न अभ्यावृत्तिः अनभ्यावृत्तिः, तया अनभ्यावृत्त्या। क्षमते तच्छीलः क्षमी।

[अर्थः] यः क्षमी = सहनः। क्षमापरः। सोढा। (सः) मनाक् = अल्पम्। अनभ्यावृत्त्या वा = सकृद्वा। एकवारं वा। (विराध्यन्तम् = अपकुर्वाणम्—) कामं = भृशम्। यथेच्छम्। क्षाम्यतु = क्षमताम्। सहतां नाम। क्रियासमभिहारेण = पौनःपुन्येन, भृशञ्च। वारंवारम्, अतितराञ्च। विराध्यन्तम् = अपकुर्वाणन्तु। कः = कः पुमान्। क्षमेत = सहेत ?। सोढुं शक्नुयात् ?। न कोऽपीत्यर्थः।

[भावार्थः] स्वल्पमेकवारं वाऽपराध्यन्तं कोऽपि क्षमी सहतां नाम, भृशं मुहुर्मुहुर्वाऽपराध्यन्तं तु कः खलु सहेत ?। ∴ न कोऽपि । तदयं चैद्यो वध्य एव नोपेक्ष्यः ।

[कोशः] 'किञ्चिदीषन्मनागल्पे' इत्यमरः । 'सहिष्णुः सहनः क्षन्ता तितिक्षुः क्षमिता क्षमी' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] क्षमिणा मनाक् अनभ्यावृत्त्या वा (विराध्यन्) कामम् क्षम्यताम् !, क्रियासमभिहारेण विराध्यन् केन क्षम्येत ? ।

[भाषाटीका] कोई सहनशील व्यक्ति थोड़े अपराध को या एक वार किए गए भारी अपराध को भी क्षमा कर सकता है, पर वारंवार विपुल अपराध करनेवाले को कौन क्षमा कर सकता है ? ॥ ४३ ॥

ननु सर्वदा क्षमैव पुंसो भूषणम्, अतोऽपराधेऽपि क्षन्तव्यमत आह—

अन्यदा भूषणं पुंसः क्षमा लज्जेव योषितः ।
पराक्रमः परिभवे वैयात्यं सुरतेष्विव ॥ ४४ ॥

[सर्वङ्कषा] अन्यदेति । अन्यदा—सुरतव्यतिरिक्ते काले । योषितो लज्जेव पुंसोऽन्यदा—अपरिभवे, क्षमा—शमो, भूषणम् । परिभवे तु योषितः सुरतेषु वैयात्यं—धार्ष्ट्यमिव । 'धृष्टे धृष्णुर्वियातश्च' इत्यमरः । पराक्रमः—पौरुषं, भूष्यतेऽनेनेति भूषणमाभरणम् । एवं चाऽक्रियावचनत्वान्नियतलिङ्गत्वाद्विरोध इति वल्लभोक्तं प्रत्युक्तम् ॥ ४४ ॥

[अन्वयः] अन्यदा योषितः लज्जा इव पुंसः (अन्यदा) क्षमा भूषणम् । (परिभवे तु योषितः—) सुरतेषु वैयात्यम् इव (पुंसः—) पराक्रमः भूषणम् ।

[विग्रहः] भूष्यतेऽनेन तत् भूषणम् ।

[अर्थः] अन्यदा = सुरतातिरिक्ते काले । योषितः= नार्याः । लज्जेव = त्रपेव । पुंसः = पुरुषस्य । अन्यदा = परिभवातिरिक्ते काले । क्षमा = क्षान्तिः । शान्तिः । भूषणं = शोभाधायकम् । (परिभवे=तिरस्कारे तु । योषितः = अबलायाः ।)

सुरतेषु = रतिसमयेषु । मैथुनेषु । वैयात्यमिव = धाष्टर्यमिव । पराक्रमः = पौरुषमेव । भूषणम् = आभरणम् । शोभाधायकम् ।

[भावार्थः] योषितो लज्जेव शान्तिरेव सर्वदा पुंसो भूषणम् । अपमानावसरे तु परं सुरतेषु योषितां धाष्टर्यमिव पुंसः पुंस पौरुषमेव भूषणम् ।

[कोशः] 'स्त्री योषिदबला योषा नारी सीमन्तिनी वधूः' इत्यमरः । 'धृष्टे धृष्णुर्वियातश्च' इत्यमरः । 'मन्दाक्षं ह्रीस्त्रपा व्रीडा लज्जा' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] अन्यदा पुंसः क्षमया भूषणेन भूयते । परिभवे पराक्रमेण भूषणेन भूयते ।

[भाषाटीका] स्त्रियों का भूषण जैसे लज्जा है उसी तरह पुरुष का भूषण शान्ति है, पर अपमान के समय में तो पुरुष को पराक्रम ही शोभा देता है, जैसे सुरतकाल में स्त्री को धृष्टता शोभा देती है ॥ ४४ ॥

अथ परिभवेऽप्यपराक्रमे त्रिभिर्निन्दामाह—

माजीवन्यः परावज्ञादुःखदग्धोऽपि जीवति ।
तस्याऽजननिरेवास्तु जननीक्लेशकारिणः ॥ ४५ ॥

[सर्वङ्कषा] मा जीवन्निति । यः परस्यापकर्तुरवज्ञया अवमानेन यद्दुःखं तेन दग्धस्ततोऽत एव माजीवन्—गर्हितजीवी सन् । 'माङ्याक्रोशे' इति लटः शत्रादेशः । जीवति—प्राणान्धारयति । जनन्याः क्लेशकारिणो—गर्भधारणप्रसवादिवेदनाकारिणः । तद्व्यतिरिक्तार्थक्रियाहीनस्येत्यर्थः । तस्य—अजननमजननिरनुत्पत्तिरेवास्तु । जननीक्लेश निवृत्त्यर्थमिति भावः । 'आक्रोशे नञ्यनिः' इति नञ्पूर्वाजनिधातोरनिप्रत्ययः ॥ ४५ ॥

[अन्वयः] यः परावज्ञादुःखदग्धोऽपि माजीवन् (सन्) जीवति, जननीक्लेशकारिणः तस्य अजननिः एव अस्तु ।

[विग्रहः] परस्य अवज्ञा परावज्ञा, परावज्ञया दुःखं, परावज्ञा दुःखं, तेन दग्धः—परावज्ञादुःखदग्धः । अजननम्—अजननिः । जनन्याः क्लेशः

जननीक्लेशः, जननीक्लेशं करोतीति जननीक्लेशकारी, तस्य-जननीक्लेशकारिणः।

[अर्थः] यः = पुमान् । परावज्ञादुःखदग्धोऽपि = परावमानदुःखप्रदग्धोऽपि । माजीवन् = गर्हितजीवी सन् । जीवति = प्राणान्धारयति । जननीक्लेशकारिणः = मातृप्रसवादिवेदनाकारिणः । पुरुषार्थशून्यस्य । तस्य = तस्य पुंसः । अजननिरेव = अनुत्पत्तिरेव । मातृक्लेशाभावायाऽप्रादुर्भाव एव । अस्तु = भवतु। वृथैव तस्य जन्मेत्यर्थः ।

[भावार्थः] परापमानदुःखदग्धस्य गर्हितजीवनस्य मातुः प्रसवादिपीडाकारिणोऽजन्मैव शोभनम् ।

[कोशः] 'जनयित्री प्रसूर्माता' इत्यमरः' ।

[वाच्यप०] येन परावज्ञादुःखदग्धेनापि माजीवता (सता) जीव्यते जननीक्लेशकारिणस्तस्य अजनन्या एव भूयताम् ।

[भाषाटीका] जो मनुष्य अपमानित होकर भी जीता है उसका तो जन्म भी वृथा ही है । और उसने अपनी माता को वृथा ही प्रसव की पीड़ा पहुंचाई वह न जन्मता तो ही अच्छा था माता को पीडा तो न होती ॥४५॥

पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति ।
स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः ॥४६॥

[सर्वङ्कषा] पादेति । यद्रजो धूलिः पादेनाहतं सदुत्थायोड्डीय मूर्धानमाहन्तुरेव शिरोऽधिरोहत्याक्रमति । तद्रजः । अचेतनमपीति भावः । अवमाने सत्यपि स्वस्थात्सन्तुष्टाद्देहिनश्चेतनाद्वरं श्रेष्ठम् । व्यतिरेकालङ्कारः ॥ ४६ ॥

[अन्वयः] यत् (रजः) पादाहतम् (सत्) उत्थाय (आहन्तुः) मूर्धानमधिरोहति तद्रजः अपमानेऽपि स्वस्थाद्देहिनः वरम् ।

[विग्रहः] पादेन आहतम् पादाहतम् । देहोऽस्यास्तीति देही, तस्य देहिनः ।

[अर्थः] यत् = रजः । पादाहतं = चरणताडितं सत् ।

उत्थाय = उड्डीय। उत्प्लुत्य। मूर्धानम् = आहन्तुः शिरः। अधिति = आक्रामति। तद्रजः = अचेतनाऽपि सा धूलिः। अपमानेऽपि = तिरस्कारे जातेऽपि। स्वस्थात् = सन्तुष्टात्। शान्तात्। देहिनः = चेतनात्पुरुषात्। वरं = श्रेष्ठम्।

[भावार्थः] पादाहता धूलिराहन्तुः शिरोऽधिरोहति। परं यश्च पुमान् अपमाने सत्यपि स्वस्थस्ततस्तद्रज एव वरम्। तदवमानेऽवश्यं पराक्रमितव्यम्।

[कोशः] 'रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः पांसुर्ना न द्वयो रजः' इत्यमरः। 'देवाद्वृते वरः श्रेष्ठे त्रिपु क्लीबं मनाक्प्रिये' इत्यमरः।

[वाच्यप०] पादाहतेन येन उत्थाय मूर्धा अधिरुह्यते देहिनः तेन रजसा वरेण (भूयते)।

[भाषाटीका] धूलि भी पैर से आहत होने पर उड़कर शिर पर चढ़ती है। जो मनुष्य अपमान होने पर भी चुपचाप सहन करता है उससे तो धूल भी अच्छी है ॥ ४६ ॥

असम्पादयतः कञ्चिदर्थं जातिक्रियागुणैः।
यदृच्छाशब्दवत्पुंसः सञ्ज्ञायै जन्म केवलम् ४७

[सर्वङ्कषा] असम्पादयत इति। किञ्च–जातिः–ब्राह्मणत्वादिः, क्रिया—इज्याध्ययनादिः, गुणः—शौर्यादिः, तैः साधनैः। करणे तृतीया। कञ्चिदर्थं—सुकृतकीर्त्यादिपौरुषार्थम्—अन्यत्र गोत्वपाचकत्वशौक्ल्यादिभिः स्वाभिधेयभूतैः करणैः। कञ्चिदर्थं–व्यवहाररूपं प्रयोजनम्। असम्पादयतः। उभयत्र तादृग्जात्याद्यसम्भवादिति भाव। पुंसो जन्म–सत्तालाभः। यदृच्छाशब्दवत्–इच्छाप्रकल्पितस्य जात्यादिप्रवृत्तिनिमित्तशून्यस्य डित्थादिशब्दस्येव। 'तत्र तस्येव' इति वतिप्रत्ययः। 'स्वेच्छा यदृच्छा स्वच्छन्दः स्वैरता चेति ते समाः।' इति केशवः। संज्ञायै केवलं–सञ्ज्ञार्थमेव। एकत्र पारिभाषिकं किञ्चिन्नाममात्रमनुभवितुम्, अन्यत्र तादृक्तामनुभवितुमित्यर्थः ॥ ४७ ॥

[अन्वयः] जातिक्रियागुणैः कञ्चिदर्थं असम्पादयतः पुंसः यदृच्छाशब्दवत् केवलम् सञ्ज्ञायै जन्म (विज्ञेयम्) ।

[विग्रहः]जातिश्च क्रिया च गुणाश्च जातिक्रियागुणाः,तैः—जातिक्रियागुणैः। यदृच्छया शब्दः, यदृच्छाशब्दः, यदृच्छाशब्देन तुल्यं यदृच्छाशब्दवत् ।

[अर्थः] (किञ्च—) जातिक्रियागुणैः = जात्यादिभिरनुकूलैः साधनैः । क्षत्रियत्वादिजातिभिः, यज्ञाध्ययनसन्धिविग्रहादिक्रियाभिः, शौर्यादिभिर्गुणैश्च । अन्यत्र—गोत्व—पाचकत्व-शौक्लयादिभिः स्वाभिधेयैः करणभूतैः । कञ्चिदर्थं = किमपि प्रयोजनम् । पुण्यसञ्चयकीर्त्तिविजयादिपुरुषार्थम् । अन्यत्र—व्यवहाररूपं प्रयोजनम् । असम्पादयतः = अकुर्वतः । अविदधतः। पुंसः = पुरुषस्य । जन्म = जननम् । सत्तालाभः । उद्भवः । यदृच्छाशब्दवत् = इच्छाकल्पितस्य जात्यादिप्रवृत्तिनिमित्त-शून्यस्य डित्थादिशब्दस्येव । यदृच्छाकल्पितडित्थडवित्थादि-शब्दवत् । सञ्ज्ञायै केवलं = सञ्ज्ञार्थमेव केवलम् ।

[भावार्थः] जातिगुणादिसाधनैः कञ्चन स्वार्थमसम्पादयतः पुंसो जन्म डित्थादियदृच्छाशब्दवन्निरर्थकमेव ।

[कोशः] 'स्वेच्छा यदृच्छा स्वच्छन्दः स्वैरता चेति ते समाः'इति केशवः ।

[वाच्यप०] जन्मना संज्ञायै केवलेन भूयते ।

[भाषाटीका] जो मनुष्य—अपनें जाति गुण क्रिया आदि साधनों से कीर्त्ति धर्म धन राज्य आदि किसी पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं करता है उसका जन्मडित्थ डवित्थ (कतवारू पनारू चिथरू) आदि यदृच्छाशब्दों (बुलाने-समझने भर के लिए स्वेच्छा से रखे गए शब्दों) की तरह नाममात्र के लिए है । अर्थात् व्यर्थ है ॥ ४७ ॥

एवमपौरुषं दूषयित्वा पौरुषं भूषयति—

तुङ्गत्वमितरा नाद्रौ, नेदं सिन्धावगाधता ।
अलङ्घनीयताहेतुरुभयं तन्मनस्विनि ॥ ४८ ॥

[सर्वङ्कषा] तुङ्गत्वमिति । अद्रौ—पर्वते, तुङ्गत्वम्—औन्नत्यम् । 'अस्ती'ति शेषः । 'अस्तिर्भवन्तीपरोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्ती' त्यादिभाष्यात् । भवन्ती'ति पूर्वाचार्याणां लटः सञ्ज्ञा । इतरा—अगाधता । नास्ति । सिन्धौ समुद्रेऽगाधता—गम्भीरतास्ति । इदं—तुङ्गत्वं, नास्ति । मनस्विनि—वीरे त्वलङ्घनीयताहेतुः—अलङ्घ्यत्वकारणं । तदुभयं तुङ्गत्वमगाधता च । तस्मादद्रिसिन्धुभ्यामधिको मनस्वीति व्यतिरेकालङ्कारः ॥ ४८ ॥

[अन्वयः] अद्रौ तुङ्गत्वम् (अस्ति) इतरा न (अस्ति) । सिन्धौ अगाधता (अस्ति) इदं न (अस्ति) । मनस्विनि अलङ्घनीयता हेतुः तत् उभयम् (अस्ति) ।

[विग्रहः] न लङ्घनीयता अलङ्घनीयता, अलङ्घनीयतायाः हेतुः अलङ्घनीयताहेतुः ।

[अर्थः] अद्रौ = पर्वते । (अलङ्घनीयताहेतुः—) तुङ्गत्वम्= औन्नत्यम् । अस्तीति शेषः । (परन्तु अलङ्घनीयताहेतुः—) इतरा = अगाधता । न = नास्ति । सिन्धौ = समुद्रे तु । अगाधता = गम्भीरता । अतलस्पर्शित्वम् । गाम्भीर्यम् । अस्तीतिशेषः । (परन्तु—) इदं = तुङ्गत्वम् । न = नास्ति । मनस्विनि = वीरे तु । धीरे तु । अलङ्घनीयताहेतुः = अलङ्घ्यत्वकारणम् । तदुभयं = तुङ्गत्वाऽगाधते । तुङ्गत्वागाधत्वोभयम् । अस्तीति शेषः ।

[भावार्थः] अद्रिरुन्नतोऽपि नागाधः, सिन्धुरगाधोऽपि नोन्नतः, मनस्वी तु उन्नतोऽगाधश्चेति गिरिसागराभ्यामभ्यधिकः सः ।

[कोशः] 'अद्रिगोत्रगिरिग्रावाऽचलशैलशिलोच्चयाः' इत्यमरः । 'उदन्वानुदधिः सिन्धुः सरस्वान्सागरोऽर्णवः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] तुङ्गत्वेन भूयते । इतरया न भूयते । उभयेन भूयते ।

[भाषाटीका] पर्वत ऊँचा है पर अगाध [गहरा) नहीं है समुद्र

गहरा है पर ऊँचा नहीं है। परन्तु मनस्वी (वीर) तो ऊँचा (उन्नत) और गहरा दोनों होने के कारण दुर्लङ्घनीय है ॥ ४८ ॥

सम्प्रति शत्रौ मार्दवमनर्थायेत्याह—

तुल्येऽपराधे स्वर्भानुर्भानुमन्तं चिरेण यत् ।
हिमांशुमाशु ग्रसते तन्म्रादिम्नः स्फुटं फलम् ॥४६॥

[सर्वङ्कषा] तुल्य इति। स्वर्भानुः—राहुः, अपराधे तुल्येऽपि। भानुमन्तं–सूर्यं। चिरेण ग्रसते। हिमांशुं–चन्द्रमाशु शीघ्रं ग्रसते। गिलतीति यत्। 'ग्रसिते गिलितं गीर्णम्' इत्यभिधानात्। तन्म्रदिम्नः–मार्दवस्य। फलं स्फुटम्। 'पृथ्वादिभ्य इमनिच्' इतीमनिच्प्रत्ययः। तस्माद्विपक्षे तीव्रेण भवितव्यम्। अन्यथा मृदुः सर्वत्र इति भावः। एतच्च प्रस्तुतमप्रस्तुतार्केन्दुकथनेन सारूप्यात्प्रतीयते इत्यप्रस्तुतप्रशंसाभेदोऽयम्। 'अप्रस्तुतस्य कथनात्प्रस्तुतं यत्र गम्यते। अप्रस्तुतप्रशंसेयं सारूप्याद्विनियन्त्रिता ॥' इति लक्षणात् ॥ ४९ ॥

[अन्वयः] स्वर्भानुः अपराधे तुल्ये (अपि) भानुमन्तं चिरेण ग्रसते, हिमांशुम् आशु (ग्रसते)। तत् म्रदिम्नः फलं स्फुटम्।

[विग्रहः] भानवोऽस्य सन्तीति भानुमान्, तं—भानुमन्तम्। हिमा अंशवो यस्याऽसौ हिमांशुस्तम् हिमांशुम्।

[अर्थः] स्वर्भानुः = राहुः। अपराधे = दोषे। अपकारे। तुल्ये = समानेऽपि। भानुमन्तं = सूर्यम्। चिरेण = महता कालेन। ग्रसते = गिलति। आक्रमते। हिमांशुं = चन्द्रमसन्तु। आशु = शीघ्रमेव। (ग्रसते = निगिलति।) तत् = तदेतत्। म्रदिम्नः = मार्दवस्य। फलं = परिणामः। स्फुटं = स्पष्टम्।

[भावार्थः] राहुः सूर्यं तेजस्विनं कालान्तरेण ग्रसते, मृदुं चन्द्रन्तु आशु ग्रसते। तद्रिपौ मार्दवं न युक्तम्।

[कोशः] 'ग्रसिते गिलितं गीर्णम्' इत्यभिधानम्। 'सस्ये हेतुकृते फलम्' इत्यमरः।

[वाच्यप०] स्वर्भानुना हिमांशुराशु ग्रस्यते । तन्म्रदिम्नः फलेन स्फुटेन भूयते ।

[भाषाटीका] मृदुता का फल देखो कि—अपराध बराबर होने पर भी राहु सूर्य को जल्दी नहीं ग्रसता, पर चन्द्रमा को मृदु होने के कारण जल्दी २ ग्रसता है। अतः मनुष्य को ज्यादा मृदु होना अच्छा नहीं है॥४९॥

एतदेव भङ्ग्यन्तरेणाह—

स्वयं प्रणमतेऽल्पेऽपि परवायावुपेयुषि ।
निदर्शनमसाराणां लघुर्बहुतृणं नरः ॥ ५० ॥

[सर्वङ्कषा] स्वयमिति । असाराणां—दुर्बलानां, निदर्शनं—दृष्टान्तः । अतः एव ईषदसमाप्तं तृणं बहुतृणम् । तृणकल्पमित्यर्थः । 'विभाषा सुपो बहुच्पुरस्तात्—' इति बहुच्प्रत्ययः प्रकृतेः पूर्वं च भवति । "स्यादीषदसमाप्तौ तु बहुच्प्रकृतिलिङ्गके' इति वचनात्प्रकृतिलिङ्गता । लघुः—निष्पौरुषो नरोऽल्पेऽपि । परो वायुरिवेत्युपमितसमासः, बहुतृणमिति स्पष्टोपमासाहचर्यात् । 'कल्पब्देश्यदेशीयदेश्यादी'ति दण्डिना कल्पबादीनामौपम्यवाचकेष्वभिधानात् । तस्मिन्नुपेयुषि प्राप्ते सति, स्वयं प्रणमते—स्वयमेव प्रह्वीभवति । 'कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रिया' इति कर्मवद्भावात् 'भावकर्मणोः' इत्यात्मनेपदम् । 'न दुहस्नुनमां यक्चिणौ' इति यक्प्रतिषेधः । वायुना तृणमिवाल्पीयसापि रिपुणा लघुरक्लेशेन परिभूयत इत्यर्थः । उपमालङ्कारः ॥ ५० ॥

[अन्वयः] असाराणां निदर्शनम् बहुतृणम् लघुः नरः अल्पेऽपि परवायौ उपेयुषि स्वयं प्रणमते ।

[विग्रहः] (लघुपक्षे—) परो वायुरिव परवायुः, तृणपक्षे–पर इव वायुः परवायुः, तस्मिन् । नास्ति सारो येषां तेअसाराः, तेषाम् असाराणाम् । ईषदसमाप्तं तृणं बहुतृणम् ।

[अर्थः] असाराणां = दुर्बलानाम् । तुच्छानाञ्च । निदर्शनं = दृष्टान्तः । नितरां तुच्छः । (अत एव—) बहुतृणं = तृणकल्पं । तृणतुल्यः । लघुः = निष्पौरुषः । नरः = पुमान् । अल्पेऽपि =

स्वल्पेऽपि । परवायौ = शत्रुमारुते । वायुतुल्ये वैरिणि । उपेयुषि = सम्प्राप्ते सति । स्वयम् = आत्मनैव । प्रणमते = प्रह्वीभवति । वायुना तृणमिव साधारणेनाऽपि शत्रुणा निर्बलोऽनायासेन परिभूयत इत्यर्थः ।

[भावार्थः] यो हि निर्बलः स तृणवद्रिपुभिरनायासेन परिभूयते । अतो बलमास्थेयम् ।

[कोशः] 'सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीबं वरे त्रिषु' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] अल्पेऽपि परवायावुपेयुषि स्वयं लघुना प्रणम्यते ।

[भाषाटीका] निर्बलों का सबसे बड़ा उदाहरण, तृणतुल्य, कमजोर मनुष्य सामान्य शत्रुरूपी वायु से भी (तृण की तरह) अनायास ही दबा दिया जाता है । (हलकी सी हवा से भी घास फूस झुक ही जाते हैं) ॥५०॥

पुनः पौरुषे गुणमाह—

तेजस्विमध्ये तेजस्वी दवीयानपि गण्यते ।
पञ्चमः पञ्चतपसस्तपनो जातवेदसाम् ॥ ५१ ॥

[सर्वङ्कषा] तेजस्वीति । दवीयानपि—दूरस्थोऽपि । 'स्थूलदूर—' इत्यादिना पूर्वगुणयणादिपरलोपौ । तेजस्वी तेजस्विनां मध्ये गण्यते—सङ्ख्यायते । तथाहि — पञ्चाग्निसाध्यं तपो यस्य स तथा तस्य—पञ्चतपसः—पञ्चाग्निमध्ये तपस्यतः । तपनोऽर्को जातवेदसामग्नीनां पञ्चमः—पञ्चानां पूरणः । पञ्चमो जातवेदा भवतीत्यर्थः । विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ५१ ॥

[अन्वयः] दवीयान् अपि तेजस्वी तेजस्विमध्ये गण्यते । पञ्चतपसः जातवेदसाम् पञ्चमः तपनः (भवति)

[विग्रहः] प्रशस्तं तेजः अस्ति येषान्ते तेजस्विनः, तेजस्विनां मध्यं तेजस्विमध्यम्, तस्मिन् तेजस्विमध्ये । पञ्चभिः (पञ्चाग्निसाध्यं वा) तपो यस्यासौ पञ्चतपाः, तस्य पञ्चतपसः । पञ्चानां पूरणः—पञ्चमः ।

[अर्थः] दवीयानपि = अतिदूरस्थोऽपि । विप्रकृष्टोऽपि ।

तेजस्वी = प्रभावशाली । तेजोराशिविराजितश्च । तेजस्विमध्ये = तेजस्विनां मध्ये । प्रतापवतां मध्ये । गण्यते = सङ्ख्यायते । (तथाहि—) पञ्चतपसः = पञ्चाग्निमध्ये तपस्यतः पुंसः । तपनः = सूर्यः । जातवेदसां = वह्नीनाम् । पञ्चमः = पञ्चानां पूरणः । भवतीति शेषः ।

[भावार्थः] दूरस्थोऽपि तेजस्वी तेजस्विमध्ये गण्यते । पञ्चस्वग्निषु सूर्यो दूरस्थोऽपि गण्यते एव ।

[कोशः] 'कृपीटयोनिर्ज्वलनो जातवेदास्तनूनपात्' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] दवीयांसमपि तेजस्विनं तेजस्विमध्ये गणयन्ति ।

[भाषाटीका] तेजस्वी दूर भी रहे तो भी तेजस्वियों में उसकी गिनती होती ही है । पञ्चाग्नि तापनेवालों के लिए सूर्य भी पाँचवाँ अग्नि गिना जाता है ॥ ५१ ॥

गुणान्तरं च व्यतिरेकेणाह—

अकृत्वा हेलया पादमुच्चैर्मूर्धसु विद्विषाम् ।
कथङ्कारमनालम्बा कीर्तिर्द्यामधिरोहति ॥ ५२ ॥

[सर्वङ्कषा] अकृत्वेति । उच्चैरुन्नतेषु विद्विषां मूर्धसु हेलया पादमकृत्वा—अनिधाय । 'अनञ्पूर्वः' इति निषेधात्समासेऽपि न ल्यबादेशः । कीर्तिः कथङ्कारम् ? । कथमित्यर्थः । 'अन्यथैवंकथमित्थंसु सिद्धाप्रयोगश्चेत्' इत्यनर्थकादेव करोतेः कथम्पूर्वाण्णमुल् । अनालम्बा—निराधारा कीर्तिर्द्यां—दिवमधिरोहति । न कथञ्चिदित्यर्थः । किञ्चिन्निःश्रेण्यादिकमनाक्रम्य उच्चसौधस्य दुरारोहत्वादिति भावः । तस्मात्कीर्तिमिच्छता पौरुषमेवाश्रयणीयमिति श्लोकतात्पर्यम् । कीर्तितद्वतोरभेदोपचारात्समानकर्तृतानिर्वाहः । अत्र प्रस्तुतायाः कीर्तेर्विषयमहिम्ना अप्रस्तुतप्रासादारोहणस्त्रीव्यवहारप्रतीतेः समासोक्तिः ॥ ५२ ॥

[अन्वयः] उच्चैः विद्विषां मूर्धसु हेलया पादम् अकृत्वा अनालम्बा कीर्तिः कथङ्कारम् द्याम् अधिरोहति ? ।

[विग्रहः] नास्ति आलम्बो यस्याः सा अनालम्बा ।

[अर्थः] उच्चैः = उन्नतेषु । विद्विषां = शत्रूणाम् । मूर्धसु = शिरःसु । हेलया = अनादरेण । बलात्कारेण । हठात् । पादं = चरणम् । अकृत्वा = अनिधाय । कीर्तिः = यशः । कथङ्कारं = कथं नाम । अनालम्बा = निरालम्बा सती । निराश्रया सती । द्याम् = दिवम् । स्वर्गम् । अधिरोहति = आरोहति । न कथञ्चिदित्यर्थः ।

[भावार्थः] शत्रुशिरःसु पादमकृत्वा कीर्त्तिः कथं नाम दिवमधिरोहति ? । न कथञ्चित् । अतः शत्रुशिरःशु पादोऽवश्यं विजिगीषुणा निधेयः ।

[कोशः] 'सुरलोको द्योदिवौ द्वे स्त्रियां क्लीबे त्रिविष्टपम्' इत्यमरः । 'हेला स्त्रियामवज्ञायां विलासे वारयोषिताम्' इति मेदिनी ।

[वाच्यप०] विद्विषामुच्चैः शिरःसु पादमकृत्वा अनालम्बया कीर्त्या कथङ्कारम् द्यौरधिरुह्यते ? ।

[भाषाटीका] शत्रुओं के शिर पर पैर रखे बिना (बिना अवलम्ब के, बिना सीढी के) कीर्त्ति आकाश में कैसे चढ़ सकती है ? । शत्रु को जीतने से ही स्वर्ग तक कीर्त्ति फैलती है ॥ ५२ ॥

पौरुषमेवाश्रयणीयमित्यत्रान्वयव्यतिरेकदृष्टान्तावाचष्टे—

अङ्काधिरोपितमृगश्चन्द्रमा मृगलाञ्छनः ।
केसरी निष्ठुरक्षिप्तमृगयूथो मृगाधिपः ॥५३॥

[सर्वङ्कषा] अङ्केति । अङ्कमुत्सङ्गमधिरोपितो मृगो येन स चन्द्रमाः मृगलाञ्छनः—मृगाङ्कः । तथा निष्ठुरं यथा तथा क्षिप्तो हतो मृगयूथो मृगसमूहो येन स केसरी—सिंहो मृगाधिपः । उभयत्रापि 'ख्यात' इति शेषः । तस्माच्छत्रौ मार्दवं दुष्कीर्तये, पौरुषं तु कीर्तये इति भावः । अत्राऽप्रस्तुतकथनात्प्रस्तुतार्थप्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसा ॥ ५३ ॥

[अन्वयः] अङ्काधिरोपितमृगः चन्द्रमा मृगलाञ्छनः

('इत्येवं ख्यातः')। निष्ठुरक्षिप्तमृगयूथः केसरी (तु) मृगाधिपः ('इत्येवं ख्यातः')।

[विग्रहः] अङ्के अधिरोपितो मृगो येनासौ अङ्काधिरोपितमृगः । मृगः लाञ्छनं यस्यासौ मृगलाञ्छनः। निष्ठुरं क्षिप्तः मृगयूथो येनासौ निष्ठुरक्षिप्त-मृगयूथः । मृगाणाम् अधिपः—मृगाधिपः ।

[अर्थः] अङ्काधिरोपितमृगः = उत्सङ्गस्थापितहरिणः । चन्द्रमाः = इन्दुः । मृगलाञ्छनः=मृगाङ्कः । 'इत्येवं लोके ख्यातः' इति शेषः । किञ्च—निष्ठुरक्षिप्तमृगयूथः = निर्दयहतहरिणसमूहः । केसरी = सिंहस्तु । मृगाधिपः = मृगराजः । 'इत्येवं लोके ख्यातः' इति शेषः ।

[भावार्थः] उत्सङ्गस्थापितहरिणश्चन्द्रो मृगाङ्क इत्युच्यते, हतहरिणो हरिर्मृगराज इत्युच्यते, तच्छत्रौ मार्दवमकीर्त्तये, पौरुषन्तु यशसे ।

[कोशः] 'उत्सङ्गचिह्नयोरङ्कः' इत्यमरः । 'कलङ्काङ्कौ लाञ्छनञ्च' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] चन्द्रमसा मृगलाञ्छनेन ख्यातेन भूयते । केसरिणा मृगाधिपेन ख्यातेन भूयते ।

[भाषाटीका] हरिण को गोद में बैठानेवाले चन्द्रमा को तो लोग मृग-लाञ्छन (मृगकलङ्कवाला) कहते हैं । पर निर्दयता से हरिणों को मारने वाले सिंह को तो लोग मृगाधिप (हरिणों का राजा) कहते हैं । अतः शत्रु पर निर्दयता दिखाना ही उचित है ॥ ५३ ॥

ननु सामादिसुकरोपायमपेक्ष्य किं पाक्षिकसिद्धिना दण्डेन ? । यथाह मनुः—'साम्ना भेदेन दानेन समस्तैरुत वा पृथक् । विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन ॥' इति । तस्मात्सान्त्वमेव युक्तमित्याशङ्क्य द्वाभ्यां निराचष्टे—

चतुर्थोपायसाध्ये तु रिपौ सान्त्वमपक्रिया ।
स्वेद्यमामज्वरं प्राज्ञः कोऽम्भसा परिषिञ्चति ॥५४॥

[सर्वङ्कषा] चतुर्थोपायेति । चतुर्थोपायसाध्ये—दण्डसाध्ये । रिपौ, सान्त्वं—साम । 'साम सान्त्वमुभे समे' इत्यमरः । अपक्रिया—अपकारः । तथा हि—स्वेद्यं—स्वेदार्हम् । स्वेदन (प्रती) कार्यमित्यर्थः । 'स्वेदस्तु स्वेदने घर्मे' इति विश्वः । आमज्वरम्—अपक्वज्वरं प्राप्य । 'आमो रोगे रोगभेदे आमोऽपक्वे तु वाच्यवत्' इति विश्वः । कः प्राज्ञः—पण्डितोऽम्भसा—जलेन परिषिञ्चति ? । न कोऽपीत्यर्थः । ज्वरितस्याम्भस्सेकवत् क्रुद्धस्य सान्त्वमुद्दीपकर स्यात् । अतो दण्डय एवेति भावः । वाक्यभेदेन प्रतिबिम्बकरणापेक्षो दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ५४ ॥

[अन्वयः] चतुर्थोपायसाध्ये रिपौ सान्त्वमपक्रिया (भवति)। स्वेद्यम् आमज्वरम् (प्राप्य) कः प्राज्ञः अम्भसा परिषिञ्चति ? ।

[विग्रहः] चतुर्णाम् पूरणः चतुर्थः । चतुर्थश्चाऽसौ उपायश्च चतुर्थोपायः, चतुर्थोपायेन साध्यः चतुर्थोपायसाध्यः, तस्मिन् चतुर्थोपायसाध्ये । आमश्चासौ ज्वरश्च आमज्वरः, तम् आमज्वरम् ।

[अर्थः] चतुर्थोपायसाध्ये = दण्डसाध्ये । रिपौ = शत्रौ । सान्त्वं = साम । अपक्रिया = अपकारः । (तथाहि—) स्वेद्यं = स्वेदार्हम् । स्वेदोचितम् । आमज्वरम् = अपक्वज्वरं । (प्राप्य = आसाद्य ।) कः प्राज्ञः = को विद्वान् । भिषक् । अम्भसा = जलेन । परिषिञ्चति = अभिषिञ्चति । उपचरति । न कोऽपीत्यर्थः ।

[भावार्थः] दण्डार्हे रिपौ सान्त्वप्रयोगोऽपकार एव । स्वेद्ये ज्वरे जलाभिषेको हि अपकारायैव भवति ।

[कोशः] 'साम सान्त्वमुभे समे' इत्यमरः । 'स्वेदस्तु स्वेदने घर्मे' इति विश्वः । 'आमो रोगे रोगभेदे आमोऽपक्वे तु वाच्यवत्' इति विश्वः ।

[वाच्यप०] सान्त्वेन अपक्रियया भूयते । केन प्राज्ञेन स्वेद्यः आमज्वरः अम्भसा परिषिच्यते ।

[भाषाटीका] दण्ड (बलप्रयोग) से माननेवाले शत्रु पर सामवाद (शान्ति) का प्रयोग हानिकारक होता है। आम (कच्चे) ज्वर में

जहाँ स्वेद (पसीना) कराना चाहिए वहाँ कौन समझदार वैद्य रोगी को ठण्डे जल से नहलाता है ? ॥ ५४ ॥

सामवादाः सकोपस्य तस्य प्रत्युत दीपकाः।
प्रतप्तस्येव सहसा सर्पिषस्तोयबिन्दवः ॥ ४४ ॥

[सर्वङ्कषा] सामेति। सकोपस्य—रूढवैरस्य। तस्य—चैद्यस्य। सामवादाः—प्रियोक्तयः। सहसा प्रतप्तस्य—क्वथितस्य। सर्पिषो—घृतस्य। तोयबिन्दव इव। प्रत्युत—वैपरीत्येन। दीपकाः—प्रज्वलन-कारिणः। न तु शान्तिकरा इत्यर्थः। तस्माद्दण्ड्य एव सः। मनुवचनं त्वप्ररूढवैरविषयमिति भावः ॥ ५५ ॥

[अन्वयः] सकोपस्य तस्य सामवादाः सहसा प्रतप्तस्य सर्पिषः तोयबिन्दवः प्रत्युत दीपकाः।

[विग्रहः] साम्नो वादाः सामवादाः। कोपेन सहितः सकोपः, तस्य सकोपस्य। तोयस्य बिन्दवः तोयबिन्दवः।

[अर्थः] सकोपस्य = सक्रोधस्य । रूढवैरस्य । तस्य = चैद्यस्य । सामवादाः = प्रियोक्तयः । सहसा = अकस्मात् । प्रतप्तस्य = क्वथितस्य । सर्पिषः = घृतस्य । तोयबिन्दव इव = जलबिन्दव इव । प्रत्युत = वैपरीत्येन । दीपकाः = उत्तेजका एव । न तु शान्तिकारकाः ।

[भावार्थः] रूढवैरस्य सामर्षस्य शत्रोः शिशुपालस्य भवत्प्रयुक्ताः सान्त्ववादाः प्रदीप्तस्य घृतस्य तोयबिन्दव इव दीपका एव न शान्तिप्रदाः, अतस्तत्र दण्ड एव प्रयोक्तव्यः।

[कोशः] 'कोपक्रोधामर्षरोषप्रतिघा रुट्क्रुधौ स्त्रियौ' इत्यमरः।

[वाच्यप०] सामवादैस्तस्य दीपकैर्भूयते।

[भाषाटीका] क्रोधाविष्ट शिशुपाल के प्रति आपके सान्त्ववचन (मीठे २ शान्ति के वाक्य) उलटे उत्तेजक ही होंगे, जैसे गर्म घी पर जल के छींटे उत्तेजक ही होते हैं ॥ ५५ ॥

एवं स्थिते यदि केचिदुद्धवादयः प्रत्याचक्षीरंस्तान्प्रत्याह—

गुणानामायथातथ्यादर्थं विप्लावयन्ति ये ।
अमात्यव्यञ्जना राज्ञां दूष्यास्ते शत्रुसञ्ज्ञिताः ॥ ५६ ॥

[सर्वङ्कषा] गुणानामिति । सन्ध्यादीनां गुणानामायथातथ्यात् । यथात्वमनतिक्रम्य यथातथ्यम् । यथायोग्यमिति यावत् । 'यथार्थे तु यथातथम्' इत्यमरः । यथार्थेऽव्ययीभावः । 'स नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वम् । ह्रस्वो नपुंसके—' इति ह्रस्वत्वम् । ततो नञ्समासे—अयथातथं, तस्य भाव आयथातथ्यम् । ब्राह्मणादित्वात्ष्यञ्प्रत्ययः । 'यथातथयथापुरयोः पर्यायेण' इति विकल्पान्नञ्पूर्वपदवृद्धिः । तस्मादायथातथ्यात्—अयथायोग्यत्वात् । अन्यकालेऽन्यप्रयोगादित्यर्थः। अर्थं—प्रयोजनं । ये विप्लावयन्ति—निघ्नन्ति । कार्यहानिं कुर्वन्तीत्यर्थः । अमात्यानां व्यञ्जनं चिह्नं येषां ते तथोक्ताः । तद्वेषधारिण इत्यर्थः । 'अवर्ज्यो बहुव्रीहिर्व्यधिकरणो जन्माद्युत्तरपदः' इति वामनः । वस्तुतस्तु शत्रुरिति संज्ञा एषां सञ्जाता—शत्रुसंज्ञिताः—शत्रव एव, ते—कूटमन्त्रिणो राज्ञां दूषयितुमर्हाः दूष्या—गर्ह्याः । त्याज्या इति यावत् । 'कृत्यानां कर्तरि वा' इति कर्तरि षष्ठी । अतः स्वोक्तं न प्रतिरोद्धव्यमिति भावः ॥ ५६ ॥

[अन्वयः] गुणानाम् आयथातथ्यात् अर्थं ये विप्लावयन्ति अमात्यव्यञ्जनाः (वस्तुतस्तु) शत्रुसंज्ञिताः—ते राज्ञां दूष्याः ।

[विग्रहः] अमात्यानां व्यञ्जनं येषां ते अमात्यव्यञ्जनाः । दूषयितुमर्हाः—दूष्याः । शत्रुरिति संज्ञा सञ्जाता येषान्ते शत्रुसंज्ञिताः ।

[अर्थः] गुणानां = सन्धिविग्रहादिगुणानाम् । आयथातथ्यात् —अयथायोग्यत्वात् । अन्यकालेऽन्यस्य प्रयोगात् । यथार्थज्ञानाभावात् । अयथायोग्यं प्रयोगात् । अर्थं = प्रयोजनम् । राजकार्यम् । ये = अमात्यादयः । विप्लावयन्ति = विनिघ्नन्ति । विनाशयन्ति । अमात्यव्यञ्जनाः = मन्त्रिचिह्नाः । मन्त्रिवेषधारिणः । शत्रुसंज्ञिताः = शत्रवः । ते = कूटमन्त्रिणः । दुर्मन्त्रिणः ।

राज्ञां = महीपतीनाम् । दूष्याः = गर्ह्याः । त्याज्या इति यावत् ।

[भावार्थः] सन्ध्यादीनामयथायोग्यं प्रयोगाद्ये राजकार्य-हन्तारस्ते कूटमन्त्रिणो (वस्तुतस्तु) शत्रुरूपा राज्ञा दूरतः परित्याज्याः ।

[कोशः] 'मन्त्री धीसचिवोऽमात्यः' इत्यमरः । 'व्यञ्जनं लाञ्छन-श्मश्रुनिष्ठानावयवेष्वपि' इति मेदिनी ।

[वाच्यप०] यैः गुणानाम् आयथातथ्यात् अर्थः विप्लाव्यते तान् अमात्यव्यञ्जनान् शत्रुसंज्ञितान् राजानो दूषयेयुः ।

[भाषाटीका] जो मन्त्री सन्धि-विग्रह आदि गुणों का यथार्थ प्रयोग नहीं करने से राजा का कार्य बिगाड़ते हैं, वे मन्त्री के वेष में शत्रु ही हैं, उन्हें राजा तुरन्त निकाल दे ॥ ५६ ॥

ननु यातव्योऽपि काले यातव्य इत्याशङ्कयाऽयमेव काल इत्याह—

स्वशक्त्युपचये केचित्परस्य व्यसनेऽपरे ।
यानमाहुस्तदासीनं त्वामुत्थापयति द्वयम् ॥ ५७ ॥

[सर्वङ्कषा] स्वेति । केचिद्वृद्धाः स्वस्य शक्त्युपचये—सामर्थ्या-तिरेके । यानं—यात्रामाहुः । यथाह कामन्दकः—'प्रायेण सन्तो व्यसने रिपूणां यातव्यमित्येव समादिशन्ति । तथा विपक्षे व्यसनानपेक्षी क्षमो द्विषन्तं मुदितः प्रतीयात् ॥' इति । अपरे—वृद्धाः । परस्य—शत्रोर्व्यसने—विपदि । 'व्यसनं विपदि भ्रंशे' इत्यमरः । यानमाहुः । अत्र मनुः—'तदा यायाद्विगृह्यैव व्यसने चोत्थिते रिपोः' इति । तद्द्वयमुक्तपक्षद्वयं कर्तृ । आसीनमनुद्युञ्जानम् । 'ईदासः' इति शानजाकारस्येकारादेशः । त्वामुत्था-पयति—प्रेरयति । तदुभयलाभादीदृक्कालो न कदापि लक्ष्यत इत्यर्थः ॥५७॥

[अन्वयः] केचित् स्वशक्त्युपचये यानमाहुः । अपरे परस्य व्यसने (यानमाहुः) । तद्द्वयम् आसीनं त्वाम् उत्थापयति ।

[विग्रहः] स्वस्य शक्तिः स्वशक्तिः, स्वशक्तेरुपचयः स्वशक्त्युपचयः, तस्मिन्—स्वशक्त्युपचये ।

[अर्थः] केचित् = केचिन्नीतिविदः । स्वशक्त्युपचये = स्वसामर्थ्यवृद्धौ । स्वशक्त्यतिरेके । यानं = युद्धयात्राम् । आहुः = कथयन्ति । अपरे = अन्ये नीतिविशारदाः । परस्य = शत्रोः । व्यसने = विपदि । [यानमाहुः—यात्रां कथयन्ति] । तद्द्वयम् = उक्तपक्षद्वयं कर्तृ । आसीनम् = अनुद्युञ्जानम् । अलसवदवस्थितम् । त्वां = भवन्तम् । उत्थापयति = युद्धयात्रायै त्वरयति ।

[भावार्थः] स्वशक्तिवृद्धौ, परव्यसने वा युद्धयात्रा नीतितत्त्वविदां वृद्धानामभिमता । तदेतदुभयमपीदानीमुपस्थितन्तदुत्तिष्ठ, इदानीं शत्रुरभिषेणयितव्यः ।

[कोशः] 'व्यसनं विपदि भ्रंशे' इत्यमरः ।

[वाच्यप] कैश्चित् स्वशक्त्युपचये अपरैश्च परस्य व्यसने यानमुच्यते, तेन द्वयेन आसीनस्त्वम् उत्थाप्यसे ।

[भाषाटीका] अपने बल की वृद्धि में या शत्रु के विपत्तिकाल में चढ़ाई करनी चाहिए—यह नीतिज्ञ कहा करते हैं । सो दोनों ही बातें (शत्रु की विपत्ति और अपनी वृद्धि) तुम को युद्ध के लिए उत्साहित कर रही हैं । अच्छा अवसर है, उठो ॥ ५७ ॥

तत्र स्वशक्त्युपचयं तावल्लक्षयति—

लिलङ्घयिषतो लोकानलङ्घ्यानलघीयसः ।
यादवाम्भोनिधीन्रुन्धे वेलेव भवतः क्षमा ॥ ५८ ॥

[सर्वङ्कषा] लिलंघयिषत इति । लोकाँल्लङ्घयितुमिच्छतो लिलंघयिषतः । लङ्घयतेः सन्नन्ताल्लटः शतरि शस् । अलङ्घ्यान्—स्वयं दुर्लङ्घ्यान् । कुतः ? । अलघीयसोऽतिगुरून् । अत एव यादवा अम्भोनिधय इवेत्युपमितसमासः, वेलेवेति लिङ्गात् । तान्—यादवाम्भोनिधीन्भवतः क्षमा—तितिक्षा । वेलेव—कूलमिव । 'वेलाकूलेऽपि वारिधेः' इति विश्वः । रुन्धे—प्रतिबध्नाति । अन्यथा प्रागेव सर्वं संहरेयुरिति भावः ॥ ५८ ॥

[अन्वयः] लोकान् लिलंघयिषतः अलंघ्यान् अलघीयसः यादवाम्भोनिधीन् भवतः क्षमा वेला इव रुन्धे ।

[विग्रहः] लङ्घयितुमिच्छतः—लिलङ्घयिषतः, तान् । लङ्घितुम् योग्याः लङ्घ्याः, न लङ्घ्याः अलङ्घ्यास्तान् अलङ्घ्यान् । न लघीयांसः अलघीयांसः, तान्—अलघीयसः । यादवा अम्भोनिधय इव, यादवाम्भोनिधयः, तान्—यादवाम्भोनिधीन् ।

[अर्थः] लोकान् = भुवनानि । जनांश्च । लिलङ्घयिषतः = लङ्घयितुमिच्छतः । अलङ्घ्यान् = स्वयंपरैर्दुर्लङ्घ्यान् । अलघीयसः = अतिगुरून् । अतिमहतः । यादवाम्भोनिधीन् = यादवसागरान् । समुद्रतुल्यान् यादवान् । भवतः = श्रीकृष्णस्य तव । क्षमा = तितिक्षा । वेलेव = कूलमिव । रुन्धे = प्रतिबध्नाति । अवरुणद्धि ।

[भावार्थः] जगल्लिलंघयिषतो दुर्लङ्घ्यान् यादवाम्भोनिधीन् वेलेव भवतः क्षमा रुणद्धि । अतः क्षमां त्यज, शत्रुमुन्मूलयामः ।

[कोशः] ' वेला कूलेऽपि वारिधेः ' इति विश्वः । ' लोकस्तु भुवने जने ' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] लोकान् लिलङ्घयिषन्तः अलङ्घ्याः अलघीयांसः यादवाम्भो निधयः भवतः क्षमया वेलया इव रुध्यन्ते ।

[भाषाटीका] जगत् भी को अतिक्रमण करने की इच्छा रखनेवाले यादवरूपी समुद्रों को केवल आपकी क्षमा ही वेला (किनारा, सीमा) की तरह रोकती है ॥ ५८ ॥

अभ्युच्चयश्चायमपरो यदक्लेशेनैव ते विजयलाभ इत्याह—

विजयस्त्वयि सेनायाः साक्षिमात्रेऽपदिश्यताम् ।
फलभाजि समीक्ष्योक्ते बुद्धेर्भोग इवात्मनि ॥ ५९ ॥

[सर्वङ्कषा] विजय इति । सेनायाः कर्त्र्या विजयः साक्षिमात्रे

उदासीने एव फलभाजि त्वयि समीक्ष्योक्ते—साङ्ख्योक्ते । 'साङ्ख्यं समीक्ष्यम्' इति त्रिकाण्डः । आत्मनि बुद्धेः—महत्तत्त्वस्य, मूलप्रकृतेः प्रथमविकारस्य कर्त्र्याः । भोगः—सुखदुःखानुभव इवापदिश्यतां—व्यवह्रियताम् । भृत्यजयपराजययोः स्वामिगम्यत्वादिति भावः । साङ्ख्या अप्याहुः—'कर्तैव भवत्युदासीन' इति, 'सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात्पुरुषस्य साधयति बुद्धिः' इति च ॥ ५९ ॥

[अन्वयः] सेनायाः विजयः साक्षिमात्रे फलभाजि त्वयि समीक्ष्योक्ते आत्मनि बुद्धेः भोग इव अपदिश्यताम् ।

[विग्रहः] फलं भजते इति फलभाक्, तस्मिन् फलभाजि । समीक्ष्येन उक्तः समीक्ष्योक्तः, तस्मिन् समीक्ष्योक्ते । साक्ष्येव साक्षिमात्रं, तस्मिन्—साक्षिमात्रे ।

[अर्थः] सेनायाः = सैन्यस्य । बलस्य–कर्तृभूतस्य । विजयः= जयः । साक्षिमात्रे = उदासीने एव । फलभाजि = फलभोक्तरि । त्वयि = भवति । समीक्ष्योक्ते = साङ्ख्यशास्त्रोक्ते । आत्मनि = पुरुषे । बुद्धेः = महत्तत्त्वस्य । भोग इव = सुखदुःखानुभव इव । बुद्धिकर्तृकः सुखाद्यनुभव इव । अपदिश्यतां = व्यवह्रियताम् । भृत्यजयपराजययोः स्वामिगम्यत्वादिति भावः ।

[भावार्थः] अस्मत्सैन्यमेव शत्रून्विनाशयिष्यति, त्वं केवलं साक्षिभूतस्तिष्ठ । साङ्ख्यशास्त्रे बुद्धिकृतो भोगो यथा पुरुषे व्यवह्रियते तथा सेनाविजयंत्वद्विजयतया लोका व्यवहरिष्यन्तीत्यात्मनः सेनासमृद्धिर्दर्शिता ।

[कोशः] 'साङ्ख्यं समीक्ष्यम्' इति त्रिकाण्डशेषः ।

[वाच्यप०] त्वयि सेनायाः विजयम् आत्मनि भोगमिव अपदिशन्तु ।

[भाषाटीका] जैसे बुद्धि (महत्तत्त्व) कृत सुख आदि का अनुभव पुरुष में समझा जाता है—'मैं सुखी हूँ' इत्यादि; वैसे ही सेना का विजय तुमारा ही विजय लोग कहेंगे । (अर्थात् हमारी सेनासम्पत्ति प्रचण्ड है) ॥ ५९ ॥

अथ परस्य व्यसनमाह—

हते हिडिम्बरिपुणा राज्ञि द्वैमातुरे युधि ।
चिरस्य मित्रव्यसनी सुदमो दमघोषजः ॥ ६० ॥

[सर्वङ्कषा] हत इति । हिडिम्बरिपुणा—भीमेन । द्वयोर्मात्रोरपत्यं पुमान्द्वैमातुरः । 'मातुरुत्सङ्ख्यासम्भद्रपूर्वायाः' इत्यण्प्रत्ययः । उकारश्चान्तादेशो रेफपरः । तस्मिन्राज्ञि—जरासन्धे । स हि द्वाभ्यां पत्नीभ्यामर्धशः प्रसूतो जरया नाम पिशाच्या सन्धितश्चेति कथयन्ति । युधि हते सति । चिरस्य—चिरकालेन । 'चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः' इत्यमरः । मित्रव्यसनी—मित्रव्यसनवान् । मित्रभ्रंशवानिति यावत् । 'व्यसनं विपदि भ्रंशे' इत्यमरः । दमघोषजश्चैद्यः । सुखेन दम्यत इति सुदमः । एकाकित्वात्सुसाध्य इत्यर्थः ॥ ६० ॥

[अन्वयः] हिडिम्बरिपुणा द्वैमातुरे राज्ञि युधि हते (सति) चिरस्य मित्रव्यसनी दमघोषजः सुदमः ।

[विग्रहः] हिडिम्बस्य रिपुः—हिडिम्बरिपुः, तेन हिडम्बरिपुणा । द्वयोर्मात्रोरपत्यं द्वैमातुरस्तस्मिन् द्वैमातुरे । दमघोषाज्जातः—दमघोषजः ।

[अर्थः] हिडिम्बरिपुणा = भीमसेनेन । द्वैमातुरे = द्वयोर्मात्रोरपत्ये । राज्ञि = राजनि जरासन्धे । युधि = युद्धे । हते = विनाशिते सति । चिरस्य = चिरकालेन । मित्रव्यसनी = मित्रव्यसनवान् । मित्रविकलः । हतमित्रः । दमघोषजः = शिशुपालः । सुदमः = अनायासेन जेतुं शक्यः ।

[भावार्थः] जरासन्धवधात्सम्प्रति मित्रव्यसनी चैद्योऽस्माभिरनायासेन जेतुं शक्यः ।

[कोशः] 'समित्याजिसमिद्युधः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] हिडिम्बरिपुणा द्वैमातुरे राज्ञि हते सति चिरस्य मित्रव्यसनिना दमघोषजेन सुदमेन भूयते ।

[भाषाटीका] भीमसेन ने जरासन्ध को मार ही दिया है, अब

मित्र के मारे जाने से उस शिशुपाल का जीतना सुलभ होगया है ॥ ६० ॥

कष्टश्चायं पक्षोऽभ्युपेत्यावदेनोक्तः, वस्तुतस्तु शूराणामग्रिमपक्ष एवेष्टः शास्त्रसंवादी । यथाह कामन्दकः—'यदा समर्थः प्रसभं निहन्तुं पराक्रमादूर्जितमप्यमित्रम् । तदाऽभियायादहितानि कुर्वन्नुपान्ततः कर्षणपीडनानि ।' इतीत्यभिप्रेत्याह—

नीतिरापदि यद्गम्यः परस्तन्मानिनो ह्रिये ।
विधुर्विधुन्तुदस्येव पूर्णस्तस्योत्सवाय सः ॥ ६१ ॥

[सर्वङ्कषा] नीतिरिति । परः—शत्रुरापदि गम्यो—गमनार्हः नीतिरिति यत्तदापदि गमनं मानिनः शौर्याभिमानिनो ह्रिये । लज्जाकरमित्यर्थः । किन्तु—पूर्णः—उपचितगात्रः, सः—शत्रुस्तस्य मानिनः । विधुश्चन्द्रः । विधुं तुदति हिनस्तीति विधुन्तुदो राहुः । 'विध्वरुषोस्तुदः' इति खश्प्रत्यये मुमागमः । तस्येवोत्सवाय । अत एव बलिना बलवानेव यातव्यः, बलिनश्च वयमिति भावः ॥ ६१ ॥

[अन्वयः] परः आपदि गम्य इति नीतिः यत्तन्मानिनः ह्रिये । पूर्णः स—विधुन्तुदस्य विधुरिव—तस्योत्सवाय ।

[विग्रहः] विधुं तुदतीति विधुन्तुदस्य ।

[अर्थः] परः = शत्रुः । आपदि = विपत्तिसमये । गम्यः = गमनार्हः । अभियातव्यः । नीतिः = इति नीतिः । यत्—तत् = आपदि गमनम् । मानिनः = शौर्याभिमानिनः । धीरस्य । ह्रिये = लज्जायै भवति । (किन्तु–) पूर्णः = समृद्धः, उपचितवपुश्च । सः = शत्रुः । तस्य = मानिनः । विधुः = पूर्णचन्द्रः । विधुन्तुदस्येव = राहोरिव । उत्सवाय = हर्षायैव भवति । बलिना हि बलवानेवाभियातव्य इत्यर्थः ।

[भावार्थः] राहुः पूर्णं चद्रमिव बली समृद्धमुपचितबलमेव रिपुमभियाति, न क्षीणबलं कृशतनुम् । तद्रिपुरभियातव्यः सम्प्रति ।

[कोशः] 'तमस्तु राहुः स्वर्भानुः सैंहिकेयो विधुन्तुदः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] परेण आपदि गम्येन भूयते ।

[भाषाटीका] 'कमजोर शत्रु पर चढ़ाई करना' यह नीति वीर मानी पुरुष के लिए लज्जा देनेवाली है । समृद्ध शत्रु पर चढ़ाई करना ही मानी को अच्छा लगता है । देखो, राहु भी पूर्ण चन्द्रमा पर ही आक्रमण करता है ॥ ६१ ॥

तर्हि पूर्वोदाहृतमन्वादिशास्त्रविरोधः स्यादित्याशङ्क्याह—

अन्यदुच्छृङ्खलं सत्त्वमन्यच्छास्त्रनियन्त्रितम् ।
सामानाधिकरण्यं हि तेजस्तिमिरयोः कुतः ॥ ६२ ॥

[सर्वङ्कषा] अन्यदिति । अन्यदुच्छृङ्खलमनर्गलं । प्रसह्य पीडनक्षममिति भावः । सत्त्वं बलम् अन्यत् । शास्त्रेण—मन्वादिशास्त्रेण नियन्त्रितमुदाहृतं । परव्यसनकालनिमित्तं सत्त्वमन्यत् । उत्कटानुत्कटलक्षणवैलक्षण्यमन्यशब्दार्थः । तयोः सापेक्षत्वनिरपेक्षत्वाभ्यां मिथो विरोधान्नैकशास्त्रत्वं सम्भवतीत्यर्थः । अत्र दृष्टान्तमाह—तेजस्तिमिरयोः—समानमधिकरणं ययोस्तयोर्भावः सामानाधिकरण्यमेकाश्रयत्वं कुतः ? । न कुतश्चित् । तयोः सहावस्थानविरोधादिति भावः । तस्मादुभयोरुदितानुदितहोमवद्भिन्नविषयत्वादितरेतरशास्त्रविरोधो न बाधक इति भावः ॥ ६२ ॥

[अन्वयः] अन्यत् उच्छृङ्खलं सत्त्वम् । अन्यत् शास्त्रनियन्त्रितम् (सत्त्वम्) । हि तेजस्तिमिरयोः सामानाधिकरण्यं कुतः ?।

[विग्रहः] उद्गता शृङ्खला यस्य तत् उच्छृङ्खलम् । शास्त्रेण नियन्त्रितं शास्त्रनियन्त्रितम् । तेजश्च तिमिरं च तेजस्तिमिरे, तयोः तेजस्तिमिरयोः । समानम् अधिकरणं ययोस्ते समानाधिकरणे, तयोर्भावः—सामानाधिकरण्यम्।

[अर्थः] अन्यत् = अन्यादृशम् । उच्छृङ्खलं = निरर्गलम् । प्रसह्य पीडनक्षमम् । सत्त्वं = बलम् ॥ अन्यत् = भिन्नम् । उत्कटानुत्कटभेदभिन्नम् । शास्त्रनियन्त्रितं = शास्त्रानुसारि । मन्वादिनीतिशास्त्रानुसारि । सत्त्वं = बलम् । परव्यसन-

लब्धम् । हि = यतः । तेजस्तिमिरयोः = आलोकान्धकारयोः । प्रकाशध्वान्तयोः । सामानाधिकरण्यं = समानाधिकरणता । कुतः = कथं भवितुमर्हति ? । नैव भवितुमर्हतीत्यर्थः ।

[भावार्थः] अनियन्त्रितं बलमन्यत्, नीत्यनुसारि बलमन्यत् । कथमनयोः सामानाधिकरण्यं सम्भवति । तदेवं निरर्गलबलशालितयाऽस्माभिः पदेपदे शास्त्रचिन्ता न कार्या, शत्रुर्हन्तव्य एव ।

[कोशः] 'अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तं तमिस्रं तिमिरं तमः' इत्यमरः । 'द्रव्यासुव्यवसायेषु सत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] सत्त्वेन अन्येन भूयते ।

[भाषाटीका] अनियन्त्रित (असीम) बल कुछ और है, शास्त्रानुसारी बल कुछ और है, प्रकाश और अन्धकार की तरह ये दोनों एक जगह कैसे रह सकते हैं ? । हमलोग असीम बलवाले हैं अतः शास्त्रविचार की क्या आवश्यकता है, शत्रु पर चढ़ाई कर देनी चाहिए ॥ ६२ ॥

तर्हि नः किमिदानीं कार्यमत आह—

इन्द्रप्रस्थगमस्तावत्कारि मा, सन्तु चेदयः ।
आस्माकदन्तिसान्निध्याद्वामनीभूतभूरुहः ॥६३॥

[सर्वङ्कषा] इन्द्रप्रस्थेति । इन्द्रप्रस्थस्य—पार्थनगरस्य । गमो—गमनम् । 'ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च' इत्यप्प्रत्ययः । तावदिदानीम् मा कारि—तावत् न क्रियतामेवेत्यर्थः । 'यावत्तावत्परिच्छेदे कार्त्स्न्ये मानेऽवधारणे' इति विश्वः । कृञः कर्मणि लुङ् । 'माङि लुङ्' इत्याशीरर्थे । 'न माङ्योगे' इत्यट्प्रतिषेधः । किन्तु चेदयः—चेदिदेशाः । अस्माकमिमे आस्माकाः 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्च' इति विकल्पादण्प्रत्ययः । 'तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ' इत्यस्माकादेशः । सन्निधिरेव–सान्निध्यम् । स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययः । आस्माकानां दन्तिनां सान्निध्याद्वामनीभूताः—शाखाभङ्गात्खर्वीभूता भूरुहो वृक्षा येषां ते तथोक्ताः सन्तु । चेदियात्रैव क्रियतामित्यर्थः । सा च प्रस्तुता प्रस्तुतेनैव स्वकार्येण गम्यत इति पर्यायोक्ता-

लङ्कारः। 'कारणं गम्यते यत्र प्रस्तुतात्कार्यवर्णनात्। प्रस्तुतत्वेन सम्बन्धात्पर्यायोक्तः स उच्यते॥' इति लक्षणात्॥ ६३॥

[अन्वयः] इन्द्रप्रस्थगमः तावत् मा कारि। चेदयः आस्माकदन्तिसान्निध्यात् वामनीभूत भूरुहः सन्तु।

[विग्रहः] इन्द्रप्रस्य गमः इन्द्रप्रस्थगमः। अस्माकम् इमे आस्माकाः, आस्माकाश्च ते दन्तिनश्च आस्माकदन्तिनः, तेषां सान्निध्यम्—आस्माकदन्तिसान्निध्यं, तस्मात्-आस्माकदन्तिसान्निध्यात्। वामनीभूता भूरुहा येपु ते वामनीभूतभूरुहः।

[अर्थः] इन्द्रप्रस्थगमः = हस्तिनापुरगमनम्। युधिष्ठिरयज्ञस्थलगमनम्। तावत् = इदानीम्। माकारि = न कार्यम्। किन्तु—चेदयः = चेदिदेशाः। आस्माकदन्तिसान्निध्यात् = अस्मद्गजसामीप्यात्। वामनीभूतभूरुहः = शाखाभङ्गात्खर्वीभूतपादपाः। विध्वस्तपादपाः। सन्तु = भवन्तु।

[भावार्थः] युधिष्ठिरयज्ञगमनमिदानीं न कार्यं, शत्रुराष्ट्रं समुन्नतपादपगहनमपि अस्मद्गजसन्निधानाद्वामनीभूतभूरुहं, विध्वस्तवृक्षसमूहं वा भवतु। (तदिदानीं शत्रुरेवाभियातव्यः)।

[कोशः] 'वृक्षो महीरुहः शाखी विटपी पादपस्तरुः' इत्यमरः। 'खर्वो ह्रस्वश्च वामनः' इत्यमरः।

[वाच्यप०] इन्द्रप्रस्थगमं तावत् मा कार्षीः। चेदिभिः आस्माकदन्तिसान्निध्यात् वामनीभूतभूरुड्भिर्भूयताम्।

[भाषाटीका] अतः अभी हस्तिनापुर मत जाइए, पहिले शत्रु के दुर्गम देश (चेदि—चन्देरी-झांसी जिला) के बड़े २ वृक्ष हमारे हाथियों के पहुंचने से छोटे २ हो जावें। तोड़-मोड़ दिये जावें (अर्थात् हाथियों द्वारा शत्रु का देश व जङ्गल-दुर्ग नष्ट कर दिया जाए)॥ ६३॥

निरुद्धवीवधासारप्रसारा गा इव व्रजम्।
उपरुन्धन्तु दाशार्हाः पुरीं माहिष्मतीं द्विषः॥६४॥

[सर्वङ्कषा] निरुद्धेति । किञ्च—दाशार्हाः—यादवाः । वीवधो-धान्यादिप्राप्तिः, आसारः-सुहृद्बलम्, प्रसारस्तृणकाष्ठादेः प्रवेशः । 'धान्या-देर्वीवधः प्राप्तिरासारस्तु सुहृद्बलम् । प्रसारस्तृणकाष्ठादेः प्रवेशः' इति वैज-यन्ती । ते निरुद्धा यैस्ते तथोक्ताः । अन्यत्र–निरुद्धो वीवधानां–पर्याहारा-परनाम्नां स्कन्धवाह्यक्षीराद्याहरणसाधनभारविशेषाणाम्–आसारप्रसारौ प्रवेशनिर्गमौ यैस्ते तथोक्ताः । 'विवधो वीवधो भारे पर्याहाराध्वनोरपि' इति हेमचन्द्रः । व्रजं–गोष्ठम् । 'व्रजः स्याद्गोकुलं गोष्ठम्' इति वैजयन्ती । गा इव माहिष्मतीं पुरीं द्विषोऽरीनुपरुन्धन्तु । व्रजे गा इव माहिष्मत्या-मरीनावृण्वन्त्वित्यर्थः । 'दुहियाचिरुधि–' इति द्विकर्मकत्वम् । तत्र पुरी-व्रजावकथितं कर्म, अन्यदीप्सितं कर्म ॥ ६४ ॥

[अन्वयः] दाशार्हाः निरुद्धवीवधासारप्रसारा व्रजम् गा इव माहिष्मतीम् पुरीम् द्विषः उपरुन्धन्तु ।

[विग्रहः] वीवधश्च आसारश्च प्रसारश्च ते वीवधासारप्रसाराः, निरुद्धाः वीवधासारप्रसारा यैस्ते निरुद्धवीवधासारप्रसाराः । अन्यत्र–आसा-रश्च प्रसारश्च आसारप्रसारौ, वीवधानाम् आसारप्रसारौ वीवधासारप्रसारौ, निरुद्धौ वीवधासारप्रसारौ यैस्ते निरुद्धवीवधासारप्रसाराः ।

[अर्थः] (किञ्च—) दाशार्हाः=यादवाः । निरुद्धवीवधा-सारप्रसाराः = अवरुद्धधान्यादिप्राप्ति—सुहृद्बलसाहाय्य—तृणका-ष्ठादिप्रवेशाः । व्रजपक्षे–अवरुद्धदुग्धादिभारवहनसाधनशिक्य-भेदप्रवेशनिर्गमनाः । व्रजं=गोष्ठम् । गा इव = धेनूरिव । माहिष्मतीं = तन्नाम्नीम् । पुरीं = नगरीम् । द्विषः = शत्रून् । उपरुन्धन्तु = आवृण्वन्तु । निरुन्धन्तु ।

[भावार्थः] निरुद्धयातायातमार्गा यादवा व्रजे गा इव माहिष्मत्यां शत्रूनुपरुन्धन्तु ।

[कोशः] 'धान्यादेर्वीवधः प्राप्तिरासारस्तु सुहृद्बलम् । प्रसारस्तृण-काष्ठादेः प्रवेशः' इति वैजयन्ती । 'विवधो वीवधो भारे पर्याहाराध्वनोरपि' इति हैमः । 'व्रजः स्याद्गोकुलं गोष्ठम्' इति वैजयन्ती ।

[वाच्यप०] दाशार्हैः निरुद्धवीवधासारप्रसारैः व्रजेगा इव माहिष्मती पुरी द्विषः उपरुध्यताम् ।

[भाषाटीका] जैसे गोकुल में दूध दही की बहँगियों का आना जाना रोककर गौवों को चोर घेर लेते हैं, वैसे ही धान्यप्रवेश व मित्रों की पलटनों की सहायता और तृण काष्ठ आदि का प्रवेश रोकती हुए यादवों की सेना माहिष्मती ('महेश्वर'-इन्दौर) पुरी में शत्रुओं को तुरन्त घेर ले॥६४॥

तर्हि पार्थप्रार्थनायाः का गतिरित्याशङ्क्य उपेक्षैव गतिरित्याह—

यजतां पाण्डवः स्वर्गमवत्विन्द्रस्तपत्विनः ।
वयं हनाम द्विषतः सर्वः स्वार्थं समीहते ॥ ६५ ॥

[सर्वङ्कषा] यजतामिति । पाण्डवो युधिष्ठिरो यजतां-यागंकरोतु। इन्द्रः स्वर्गमवतु—रक्षतु । इनोऽर्कः । 'इनः पत्यौ नृपार्कयोः' इति मेदिनी । तपतु—प्रकाशताम् । वयं द्विषो हनाम मारयाम । 'आडुत्तमस्य पिच्च' इत्याडागमः । सर्वत्र प्राप्तकाले लोट् । तथाहि—सर्वो जनः स्वार्थं-स्वप्रयोजनं, समीहतेऽनुसन्धत्ते । इन्द्रादिसमानयोगक्षेमो नः पार्थ इत्यर्थः । अर्थान्तरन्यासः ॥ ६५ ॥

[अन्वयः] पाण्डवः यजताम्, इन्द्रः स्वर्गम् अवतु, इनः तपतु, वयं द्विषतः हनाम, सर्वः स्वार्थं समीहते ।

[विग्रहः] पाण्डोरपत्यं पाण्डवः । स्वस्य अर्थः स्वार्थः, तम् ।

[अर्थः] पाण्डवः = युधिष्ठिरः । यजतां = यागं करोतु नाम । इन्द्रः = महेन्द्रः । स्वर्गं=सुरलोकम् । अवतु=रक्षतु । इनः=सूर्यः । तपतु = प्रकाशताम् । वयं = यादवाः । द्विषः = शत्रून् । हनाम= मारयाम । (तथा हि–) । सर्वः=सर्वोऽपि लोकः । स्वार्थं=स्वप्रयोजनम् । समीहते=अनुसन्धत्त । अभिवाञ्छति । कुरुते ।

[भावार्थः] युधिष्ठिरादयः स्वार्थं यज्ञादिना साधयन्तु वयमपि स्वार्थं शत्रुविनाशरूपं साधयामः ।

[कोशः] ' इनः पत्यौ नृपार्कयोः' इति मेदिनी ।

[वाच्यप०] पाण्डवैः इज्यताम् । इन्द्रेण स्वर्गः अव्यताम् । इनेन तप्यताम् । अस्माभिः द्विषन्तो हन्यन्ते । सर्वैः स्वार्थः समीह्यते ।

[भाषाटीका] युधिष्ठिर यज्ञ करें, इन्द्र स्वर्ग की रक्षा करें, सूर्य तपते रहें । हम भी अपना काम करें—शत्रु को मारें । क्योंकि सभी लोग अपना अपना स्वार्थ ही साधन करते हैं ॥ ६५ ॥

प्राप्यतां विद्युतां सम्पत्सम्पर्कादर्करोचिषाम् ।
शस्त्रैर्द्विषच्छिरश्छेदप्रोच्छलच्छोणितोक्षितैः ॥६६॥

[सर्वङ्कषा] प्राप्यतामिति । किञ्च—द्विषतां शिरश्छेदेन प्रोच्छलताउद्गच्छता शोणितेनोक्षितैः—सिक्तैः, शस्त्रैरर्करोचिषां सम्पर्कात्सम्बन्धाद्विद्युतां, सम्पत्लक्ष्मीः, प्राप्यतामिति । निदर्शनालङ्कारः ॥ ६६ ॥

[अन्वयः] द्विषच्छिरश्छेदप्रोच्छलच्छोणितैः शस्त्रैः अर्करोचिषां सम्पर्कात् विद्युतां सम्पत् प्राप्यताम् ।

[विग्रहः] द्विषतां शिरांसि द्विषच्छिरांसि, तेषां छेदः द्विषच्छिरश्छेदः, तेन प्रोच्छलन्ति च तानि शोणितानि च द्विषच्छिरश्छेदप्रोच्छलच्छोणितानि, तैः उक्षितानि द्विषच्छिरश्छेदप्रोच्छलच्छोणितोक्षितानि, तैः । अर्कस्य रोचींषि अर्करोचींषि, तेषाम्—अर्करोचिषाम् ।

[अर्थः] (किञ्च—) द्विषच्छिरश्छेदप्रोच्छलच्छोणितोक्षितैः = शत्रुशिरश्छेदोद्गच्छद्रुधिरसंसिक्तैः । शस्त्रैः = खड्गाद्यायुधैः । अर्करोचिषां = सूर्यकिरणानाम् । सम्पर्कात् = सम्बन्धात् । विद्युतां = तडिताम् । सम्पत् = लक्ष्मीः । शोभा । प्राप्यतां = लभ्यताम् ।

[भावार्थः] युधि द्विषन्मूर्धकर्त्तनोद्गतरुधिरारुणितैरायुधैः । सूर्यकिरणसम्पर्काद्विद्युल्लक्ष्मीराप्यतां नाम ।

[कोषः] 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' इत्यमरः । 'रोचिः शोचिरुभे क्लीबे' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] द्विषच्छिरश्छेदप्रोच्छलच्छोणितोक्षितानि शस्त्राणि अर्क-रोचिषाम् सम्पर्कात् विद्युतां सम्पदम् प्राप्नुवन्तु ।

[भाषाटीका] युद्ध में शत्रुओं के शिर काटने से निकले हुए रुधिर खड्ग आदि से रंगे हुए शस्त्रों को सूर्य की किरणों के सम्पर्क से बिजली की सी शोभा प्राप्त हो । (युद्ध में हम शत्रुओं के शिर काटें) ॥ ६६ ॥

इति संरम्भिणो वाणीर्बलस्यालेख्यदेवताः ।
सभाभित्तिप्रतिध्वानैर्भयादन्ववदन्निव ॥ ६७ ॥

[सर्वङ्कषा] इतीति । इतीत्थं **संरम्भिणः**—क्षुभितस्य, बलभद्रस्य वाणीरालेख्यदेवताश्चित्रलिखितदेवताः । **सभायाः**—सदोगृहस्य **भित्तीनां प्रतिध्वानैः**—प्रतिध्वनिव्याजेनेत्यर्थः । **भयादन्ववदन्**—अन्वमोदयन्निवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ६७ ॥

[अन्वयः] इति संरम्भिणः बलस्य वाणीः आलेख्यदेवताः सभाभित्तिप्रतिध्वानैः भयात् अन्ववदन्निव ।

[विग्रहः] आलेख्यानाम्, आलेख्ये वा देवताः आलेख्यदेवताः । सभायाः भित्तयः सभाभित्तयः, तासां प्रतिध्वानानि, तैः—सभाभित्तिप्रतिध्वानैः ।

[अर्थः] इति = इत्थम् । संरम्भिणः = क्रुद्धस्य । क्षुभितस्य । बलस्य = बलभद्रस्य । वाणीः = गिरः । आलेख्यदेवताः = चित्र-लिखिता देवताः । स्तम्भपुत्तलिकाः । सभाभित्तिप्रतिध्वानैः = समितिभवनकुड्यप्रतिध्वनिच्छलेन । भयात् = भीतेः । अन्वव-दन्निव = अन्वमोदयन्निव । अनुवदन्ति स्म ।

[भावार्थः] इत्थं संरम्भिणो बलस्य वाणीनां सभायां प्रति-ध्वनिरभूत् । एवमुक्त्वा बलो विरराममेति यावत् ।

[कोशः] 'सङ्कर्षणः सीरपाणिः कालिन्दीभेदनो बलः' इत्यमरः । 'स्त्री प्रतिश्रुत्प्रतिध्वानम्' इत्यमरः । 'सभासमितिसंसदः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] इति बलस्य वाण्यः आलेख्यदेवताभिर्भयात् अन्वौद्यन्त इव ।

[भाषाटीका] इस प्रकार बड़े आवेश से बलभद्रजी ने कहा । और

सभा में उसकी प्रतिध्वनि गूँज उठी । मानों भय से सभा की भित्ति में चित्र-लिखित देवताओं ने (पुतलियों नें) भी इनकी बात का समर्थन किया ॥६७॥

निशम्य ताः शेषगवीरभिधातुमधोक्षजः ।
शिष्याय बृहतां पत्युः प्रस्तावमदिशद्दृशा ॥६८॥

[सर्वङ्कषा] निशम्येति । अधः कृतमक्षजमिन्द्रियजं ज्ञानं येन सः—अधोक्षजो हरिः । ताः शेषस्य—शेषावतारस्य बलभद्रस्य । गाः—वाचः शेषगवीः । 'गोरतद्धितलुकि' इति टच् । टित्त्वान्ङीप् । निशम्य—श्रुत्वा । 'निशाम्यतीति श्रवणे तथा निशमयत्यपि' इति भट्टमल्लः । तत्र शाम्यतेरिदं रूपम् । अन्यथा निशमय्येति स्यात् । अतएव वामनः—'निशम्यनिशमय्य-शब्दौ प्रकृतिभेदात्' इति । बृहतां वाचां पत्युर्बृहस्पतेस्तस्य शिष्यायोद्धवायाभिधातुं—वक्तुं, दृशा—दृक्सञ्ज्ञया । प्रस्तावमवसरमदिश-दतिसृष्टवान् । 'प्रस्तावः स्यादवसरः' इत्यमरः ॥ ६८ ॥

[अन्वयः] अधोक्षजः ताः शेषगवीः निशम्य बृहतां पत्युः शिष्याय अभिधातुं दृशा प्रस्तावम् अदिशत् ।

[विग्रहः] अधःकृतम् अक्षजं येनासौ अधोक्षजः । शेषस्य गावः शेषगव्यः, ताः शेषगवीः ।

[अर्थः] अधोक्षजः=हरिः । ताः=पूर्वोक्ताः । शेषगवीः= बलदेवगिरः । निशम्य=श्रुत्वा । बृहतां=वाचाम् । पत्युः= स्वामिनः । बृहस्पतेः । शिष्याय = अन्तेवासिने उद्धवाय । अभिधातुं=वक्तुम् । दृशा=दृक्सञ्ज्ञया । नेत्रभङ्ग्या । प्रस्तावम्=अवसरम् । अदिशत्=ददौ । अतिसृष्टवान् ।

[भावार्थः] तदनन्तरं श्रीकृष्णेनोद्धवाय दृक्सञ्ज्ञया वक्तुमवसरो दत्तः ।

[कोशः] 'वनमाली बलिध्वंसी कंसारातिरधोक्षजः' इत्यमरः । 'प्रस्तावः स्यादसवरः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] अधोक्षजेन बृहतां पत्युः शिष्याय प्रस्तावः अदिश्यत ।

[भाषाटीका] बलदेवजी की बातें सुनकर भगवान् कृष्ण ने उद्धवजी से भी कुछ कहने को (आंख के इशारे से) कहा ॥ ६८ ॥

भारतीमाहितभरामथाऽनुद्धतमुद्धवः ।
तथ्यामुतथ्यानुजवज्जगादाग्रे गदाग्रजम् ॥ ६९ ॥

[सर्वङ्कषा] भारतीमिति । अथ कृष्णानुज्ञानन्तरमुद्धवः आहितो भरोऽर्थगौरवं यस्यां सा, तां। तथ्यां यथार्थां, भारतीं वाचम्। अनुद्धतमगर्वितं यथा तथा। गदस्याग्रजं कृष्णम्। अग्रे पुरत इति प्रागल्भ्योक्तिः। उतथ्यस्य महर्षेरनुजो बृहस्पतिः। 'उतथ्यावरजो जीवः' इति विश्वः। तद्वत्तेन तुल्यं जगाद। 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इतिवतिः। तद्धितगेयमुपमा ॥ ६९ ॥

[अन्वयः] अथ उद्धवः आहितभरां तथ्यां भारतीम् अनुद्धतम् (यथा स्यात्तथा) गदाग्रजम् अग्रे उतथ्यानुजवत् जगाद।

[विग्रहः] आहितः भरो यस्यां सा आहितभरा, ताम्—आहितभराम्। गदस्य अग्रजो गदाग्रजः। उतथ्यस्य अनुजः उतथ्यानुजः, तेन तुल्यम् उतथ्यानुजवत्।

[अर्थः] अथ=श्रीकृष्णसङ्केतानन्तरम्। उद्धवः=पवनव्याधिः। आहितभराम्=निहितार्थगौरवाम्। अर्थगुर्वीम्। तथ्यां=यथार्थाम्। शास्त्रानुमोदिताम्। भारतीं=वाचम्। अनुद्धतम्=अगर्वितं यथा स्यात्तथा। गदाग्रजं=श्रीहरिम् प्रति। अग्रे=पुरतः। उतथ्यानुजवत्=सुरगुरुवत्। जगाद=उवाच।

[भावार्थः] तत उद्धवः सुरगुरुवद्गम्भीरया वाचा वक्तुमारेभे।

[कोशः] 'उतथ्यावरजो जीवः' इति विश्वः। 'सत्यं तथ्यमृतं सम्यगमूनि त्रिषु तद्वति' इत्यमरः। 'ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती' इत्यमरः।

[वाच्यप०] अथ उद्धवेन आहितभरा भारती उतथ्यानुजवज्जगदे।

[भाषाटीका] तब अर्थपूर्ण यथार्थ व गम्भीर वाणी से बृहस्पति के तुल्य उद्धवजी श्रीकृष्णजी के आगे यों कहने लगे ॥ ६९ ॥

किं जगादेत्याह—

सम्प्रत्यसाम्प्रतं वक्तुमुक्ते मुसलपाणिना ।
निर्धारितेऽर्थे लेख्येन खलूक्त्वा खलु वाचिकम् ॥७०॥

[सर्वङ्कषा] सम्प्रतीति। सम्प्रति मुसलपाणिना—बलभद्रेण। केवलं शूरेणेति ध्वनिः। उक्ते सति वक्तुमसाम्प्रतमयुक्तम्। साधूक्तत्वादभ्याससमानयोगक्षेमप्रसङ्गादिति ध्वनिः। साम्प्रतशब्दस्याहार्थत्वात्तद्योगे 'शकधृष–' इत्यादिना तुमुन्। तथाहि—लेख्येन—पत्रेणाऽर्थे—वाच्ये निर्धारिते निर्णीते सति वाचिकं–व्याहृतार्थां वाचम् सन्देशवचनमित्यर्थः। 'सन्देशवाग्वाचिकं स्यात्' इत्यमरः। 'वाचो व्याहृतार्थायाम्' इति ठक्। खलु उक्त्वा खलु। न वाच्यं खल्वित्यर्थः। खलुराद्यः प्रतिषेधे, अन्यो वाक्यालङ्कारे। 'निषेधवाक्यालङ्कारे जिज्ञासानुनये खलु' इत्युभयत्राप्यमरः। 'अलङ्खल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा' इति क्त्वाप्रत्ययः। इह 'न पादादौ खल्वादय' इति निषेधस्योद्वेजकाभिप्रायत्वान्नञर्थखलुशब्दस्यानुद्वेजकत्वान्नञ्वदेव पादादौ प्रयोगो न दुष्यतीत्यनुसन्धेयम्। लिखितार्थे वाचिकमिव बलोक्ते मदुक्तिरनवकाशेति वाक्यार्थप्रतिबिम्बकरणात्स्पष्टस्तावदृष्टान्तः। स्तुतिव्याजेन निन्दावगमाद्व्याजस्तुतिश्च। लक्षणं चाग्रे वक्ष्यते ॥ ७० ॥

[अन्वयः] सम्प्रति मुसलपाणिना उक्ते (सति) वक्तुम् असाम्प्रतम्। लेख्येन अर्थे निर्धारिते (सति) वाचिकम् खलूक्त्वा खलु।

[विग्रहः] मुसलं पाणौ यस्यासौ मुसलपाणिस्तेन मुसलपाणिना।

[अर्थः] सम्प्रति = इदानीम्। मुसलपाणिना = सीरिणा। हलमुसलायुधेन बलेन। उक्ते = कथिते सति। वक्तुं=निगदितुम्। अभिधातुम्। असाम्प्रतम् = अयुक्तम्। (तथाहि—) लेख्येन= लिखितेन पत्रादिना। अर्थे=अभिधेये। वाच्ये। निर्धारिते= निर्णीते (सति)। वाचिकं = सन्देशवचनम्। खलूक्त्वा खलु= नैव वाच्यं खलु। नितरां व्यर्थमेवेत्यर्थः।

[भावार्थः] लेखादिना निर्णीतेऽर्थे वाचिकमिव बलभद्रेण निर्धारितायां युद्धयात्रायां मदुक्तिरनवकाशैव।

[कोशः] 'सन्देशवाग्वाचिकं स्यात्' इत्यमरः। 'निषेधवाक्यालङ्कारे जिज्ञासानुनये खलु' इत्यमरः। युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने' इत्यमरः।

[वाच्यप०] असाम्प्रतं भूयते।

[भाषाटीका] बलदेवजी ने जब एक सिद्धान्त स्थापित कर दिया तब मेरे कहने का अवसर ही क्या है ?। लिखित पत्र आदि से अब निर्णय हो चुका हो तो सन्देशा (जबानी—जमाखर्च) व्यर्थ ही है॥ ७७॥

तर्हि किं तूष्णींभूतेन भाव्यं ?, नेत्याह—

तथापि यन्मय्यपि ते गुरुरित्यस्ति गौरवम्।
तत्प्रयोजककर्तृत्वमुपैति मम जल्पतः॥७१॥

[सर्वङ्कषा] तथापीति। तथापि बलेन निर्णीतेऽपि ते तव मय्यपि। बलभद्र इवेत्यपिशब्दार्थः। गुरुरित्येव यद्गौरवमादरः तद्गौरवं जल्पतः जल्पने प्रयोज्यकर्मणो मे प्रयोजककर्तृत्वं प्रेरकत्वमुपैति। अतो वक्ष्यामीत्यर्थः। नहि पण्डितैः सादरं पृष्टस्य विशेषज्ञस्याऽज्ञवत्तूष्णींभावोयुक्तइतिभावः।

[अन्वयः] तथापि ते मय्यपि गुरुरिति यद्गौरवमस्ति तत् जल्पतः मम प्रयोजकर्तृत्वमुपैति।

[विग्रहः] प्रयोजयतीति प्रयोजकः, प्रयोजकश्चासौ कर्ता च प्रयोजककर्ता, प्रयोजककर्तुर्भावः प्रयोजककर्तृत्वम्, तत्।

[अर्थः] तथापि = बलभद्रेण निर्णीतेऽपि। ते=कृष्णस्य तव। मय्यपि = बलभद्र इव मय्युद्धवेऽपि। गुरुरिति = गुरुरयमिति। यत्—गौरवम् = आदरः। अस्ति = वर्त्तते। तत् = तदेव गौरवम्। जल्पतः = भाषमाणस्य। भाषणे प्रयोज्यकर्मणो मे। प्रयोजककर्तृत्वं = प्रेरकत्वम्। उपैति = गच्छति।

[भावार्थः] हे कृष्ण तथापि मयि तव य आदरोऽस्ति तेन प्रेरितोऽहं किञ्चिद्वच्मि।

[कोशः] 'गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे' इति विश्वः ।

[वाच्यप०] तथापि मय्यपि ते गुरुरिति येन गौरवेण भूयते तेन जल्पतो मम प्रयोजकर्तृत्वमुपेयते ।

[भाषाटीका] तो भी हे कृष्ण आपकी मेरे में जो श्रद्धा और आस्था है इससे प्रेरित हो मैं भी कुछ कहता हूँ ॥ ७१ ॥

ननु रामेणैव सर्वं प्रपञ्चेनोक्तम्, सम्प्रति किं ते वाच्यमस्तीत्याशङ्क्य वृथा प्रपञ्चोऽयमिति हृदि निधाय स्तुवन्नाह—वर्णैरित्यादित्रयेण—

वर्णैः कतिपयैरेव ग्रथितस्य स्वरैरिव ।
अनन्ता वाङ्मयस्याहो गेयस्येव विचित्रता ॥ ७२ ॥

[सर्वङ्कषा] कतिपयैः परिमितैर्वर्णैः पञ्चाशतैव मातृकाक्षरैः, कतिपयैः सप्तभिरेव स्वरैर्निषादादिभिर्ग्रथितस्य गुम्फितस्य । वाङ्मयस्य—शब्दजालस्य । 'एकाचोऽपि नित्यं मयटमिच्छन्ति' इति स्वार्थे मयट् । गीयत इति **गेयं**, तस्य, गानस्येव विचित्रता—रचनाभेदादनन्ता—अपरिमिता भवतीत्यर्थः । अहो । अतस्तेन साधूक्तेऽपि विशेषानन्त्यान्ममापि वक्तव्यमस्तीत्येको भावः । तस्य दुरुक्तत्वान्ममैवास्तीत्यन्यः । प्रत्यवयवमिवोपादानादनेकैवेयमुपमा ॥ ७२ ॥

[अन्वयः] कतिपयैरेव वर्णैः (कतिपयैरेव–) स्वरैः इव ग्रथितस्य वाङ्मयस्य–गेयस्येव विचित्रता अनन्ता(भवति) अहो !

[विग्रहः] वागेव वाङ्मयं, तस्य वाङ्मयस्य । गीयते इति गेयं, तस्य गेयस्य ।

[अर्थः] कतिपयैरेव = परिमितैरेव । पञ्चाशत्सङ्ख्यकैरेव । वर्णैः = अकारादिभिरक्षरैः । (कतिपयैरेव = सप्तभिरेव) । स्वरैरिव = निषादर्षभादिभिः स्वरैरिव । ग्रथितस्य = गुम्फितस्य । निर्मितस्य । वाङ्मयस्य = शब्दजालस्य । गेयस्येव = गानस्येव । विचित्रता = वैचित्र्यम् । अनन्ता = रचनाभेदेनापरिमिता भवति । अहो इत्याश्चर्ये ।

[भावार्थः] अक्षराणां परिमितत्वेऽप्यर्थस्य गेयस्येव वाङ्मयस्य वाऽऽनन्त्यान्मद्भाषणेऽपि ततो वैशिष्ट्यं सम्भवतीति मयाऽपि किञ्चिदुच्यते।

[कोशः] 'निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः। पञ्चमश्चेत्यमी सप्त तन्त्रीकण्ठोत्थिताः स्वराः' इत्यमरः।

[वाच्यप०] विचित्रतया अनन्तया भूयते।

[भाषाटीका] यद्यपि अक्षर तो गिनती के (५०—या ५१) ही हैं, और स्वर भी सात ही हैं, परन्तु जैसे सात स्वरों के और उक्त अक्षरों के योग से बने हुए गानों में परस्पर बड़ा भेद होता है वैसे ही उन अक्षरों से बने हुए वाक्यों में भी बहुत (आश्चर्यप्रद) अन्तर होता है। अतः मैं भी कुछ कहता हूँ॥ ७२॥

बह्वपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्णमभिधीयते।
अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः॥ ७३॥

[सर्वङ्कषा] बह्वपीति। स्वेच्छया—स्वप्रतिभानुसारेण, प्रकीर्णमसङ्गतं बह्वपि कामं यथेष्टमभिधीयते। किन्तु अनुज्झितोऽर्थसम्बन्धः पदार्थसङ्गतिर्यस्मिन्स प्रबन्धः—सन्दर्भः दुरुदाहरो दुर्वचः। हरतेः खल्प्रत्ययः। रामेण तु सङ्गतमेवोक्तमिति स्तुतिः, असङ्गतमेवोक्तमिति निन्दा च गम्यते॥ ७३॥

[अन्वयः] स्वेच्छया प्रकीर्णम् बहु अपि कामम् अभिधीयते, अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धः (तु) दुरुदाहरः (एव)।

[विग्रहः] अर्थस्य सम्बन्धः अर्थसम्बन्धः, न उज्झितः अनुज्झितः, अनुज्झितः अर्थसम्बन्धो यस्मिन्नसौ अनुज्झितार्थसम्बन्धः।

[अर्थः] स्वेच्छया = स्वप्रतिभानुसारेण। स्वबुद्ध्यनुसारेण। प्रकीर्णम् = असङ्गतम्। परस्परमसम्बद्धम्। बह्वपि = विपुलमपि। कामं = यथेष्टम्। अभिधीयते = कैश्चिदुच्यते। प्रस्तूयते। किन्तु-अनुज्झितार्थसम्बन्धः = अपरित्यक्तपदार्थसङ्गतिः। परस्परं सङ्गतः। प्रबन्धः = सन्दर्भः। दुरुदाहरः = दुर्वच एव।

[भावार्थः] असङ्गतं बहु यथेष्टं वक्तुं शक्यते सर्वैरपि सङ्गतिमानर्थबहुलः प्रबन्धस्तु न सर्वैरुदाहर्तुं शक्यः । अतो मया किञ्चिदुच्यते ।

[कोशः] 'स्वेच्छा यदृच्छा स्वच्छन्दः स्वैरिता चेति ते समाः' इति केशवः ।

[वाच्यप०] स्वेच्छया प्रकीर्णम् बहु अपि प्रकामम् अभिदधति । प्रबन्धेन दुरुदाहरेण भूयते ।

[भाषाटीका] अनर्गल इधर उधर की अटपट बातें तो जो चाहे बना सकता है पर सङ्गतिमान् विषय का प्रतिपादन करना बहुत कठिन है ॥७३॥

म्रदीयसीमपि घनामनल्पगुणकल्पिताम् ।
प्रसारयन्ति कुशलाश्चित्रां वाचं पटीमिव ॥ ७४ ॥

[सर्वङ्कषा] म्रदीयसीमिति । कुशला वक्तारो म्रदीयसीमतिसुकुमाराक्षरां, श्लक्ष्णतरां च । तथापि घनामर्थगुर्वीम्, अन्यत्र सान्द्राम् । कदलीदलकल्पामित्यर्थः। अनल्पैर्बहुभिःगुणैःश्लेषादिभिः तंतुभिश्च।कल्पितां रचितां, निर्मितां च । चित्रां शब्दादिविचित्रां, विचित्ररूपां च । वाचं पटीं शाटीमिव । प्रसारयन्ति। रामवागप्येवंविधेति स्तुतिः, रामवाक् नैवंविधेति निन्दा च गम्यते । अत्र श्लेषस्य शुद्धविषयासम्भवेन सर्वालङ्कारबाधकत्वादुपमाप्रतिभोत्थापितः प्रकृताप्रकृतश्लेषोऽयमित्यलङ्कारसर्वस्वकारः । एवञ्च पूर्णोपमाया निर्विषयत्वप्रसङ्गाच्छ्लेषप्रतिभोत्थापितेयमुपमैवेत्यन्ये ॥ ७४ ॥

[अन्वयः] कुशलाः म्रदीयसीमपि घनाम् अनल्पगुणकल्पिताम् चित्राम् वाचम् पटीमिव प्रसारयन्ति ।

[विग्रहः] अनल्पाश्च ते गुणाश्च अनल्पगुणाः, अनल्पगुणैः कल्पिता अनल्पगुणकल्पिता, ताम् ।

[अर्थः] कुशलाः=वाक्पटवः । प्रवीणाः । निर्माणपटवः । कलाकुशलाः । म्रदीयसीम्=सुकुमाराक्षराम् । मृदुतमाम् । श्लक्ष्णतमाम् । अतिकोमलाञ्च । घनां=प्रमेयबहुलाम्,

अर्थगुर्वीम्। श्लिष्टाम्। (पटीपक्षे—) सान्द्राम्। निबिड-सूत्राञ्च। अनल्पगुणकल्पिताम्=श्लेषप्रसादमाधुर्यौजःसौकुमार्यादिविपुलगुणगणगुम्फिमाम्। (पटीपक्षे—) आयतश्लक्ष्ण-सूत्ररचिताम्। चित्रां=चित्रबन्धहृद्याम्। विचित्राम्। अनन्यसाधारणीम्। (पटीपक्षे—) चित्रवर्णां, चित्रकिर्मीरिताञ्च। वाचं=वाणीम्। पटीमिव=शाटीमिव। प्रसारयन्ति=प्रकटयन्ति। उद्गिरन्ति। विस्तारयन्ति च।

[भावार्थः] कुशला वक्तारो हि—चित्रां हृद्यां बहुगुणां विशदां वाचं पटीमिव विस्तारयन्ति।

[कोशः] 'गुणो मौर्व्यामप्रधाने रूपादौ सूद इन्द्रिये। त्यागशौर्यादि-सत्त्वादिसन्ध्याद्यावृत्तिरज्जुषु। शुक्लादावपि बुद्ध्याद्य' इति मेदिनी।

[वाच्यप०] कुशलैः म्रदीयसी घना अनल्पगुणा कल्पिता चित्रा वाक् पटीव प्रसार्य्यते।

[भाषाटीका] चतुर वक्ता-मृदु अर्थबहुल अनेक गुणों से मनोहर विचित्र वाणी को साड़ी तरह फैलाते हैं। (साड़ी भी कोमल व घनी बिनी हुई, बढिया सूत की, नाना प्रकार के चित्रों से चित्रित व नाना रंगों से रंगी हुई मनोहर बनी हुई होती है।॥ ७४ ॥

अथोद्धवः स्वसिद्धान्तं वर्णयिष्यन्स्तुत्या गर्वं परिहरन्हरिमभिमुखीकरोति—

विशेषविदुषः शास्त्रं यत्तवोद्ग्राह्यते पुरः।
हेतुः परिचयस्थैर्ये वक्तुर्गुणनिकैव सा ॥ ७५ ॥

[सर्वङ्कषा] विशेषेति। विशेषानवान्तरभेदान्वेत्ति विशेषविद्वान्, तस्य विशेषविदुषो—विशेषज्ञस्य। गतिगम्यादिपाठाद्द्वितीयासमासः। तव पुरोऽग्रे शास्त्रं नीतिशास्त्रमुद्ग्राह्यते उपन्यस्यत इति यत्। 'उद्ग्राहितमुपन्यस्तम्' इति वैजयन्ती। सा तदुद्ग्रहणमित्यर्थः। विधेयप्राधान्यात्स्त्रीलिङ्गत्वम्। वक्तुरुद्ग्राहयितुः परिचयस्थैर्येऽभ्यासदार्ढ्यें हेतुर्गुणनिका। आम्रेडितमेवेति यावत्। नतु वैदुष्यप्रकटनमिति भावः। 'गुण आम्रेडने' चौरादिकात् 'ण्यासश्रन्थो युच्' इति युच्। ततः सञ्ज्ञायां कन्। कात्पूर्वस्येकारः॥७५॥

[अन्वयः] विशेषविदुषः तव पुरः शास्त्रमुद्ग्राह्यते यत् सा वक्तुः परिचयस्थैर्ये हेतुः गुणनिका एव।

[विग्रहः] विशेषं वेत्तीति विशेषविद्वान्, तस्य विशेषविदुषः। परिचयस्य स्थैर्य्यं परिचयस्थैर्यं, तस्मिन्—परिचयस्थैर्ये।

[अर्थः] विशेषविदुषः = विशेषज्ञस्य। विवेकिनः। तव पुरः = तवाग्रे। शास्त्रं = नीतिशास्त्रम्। उद्ग्राह्यते यत् = उपन्यस्यते—इति यत्। सा = शास्त्रोपन्यासात्मिका। वक्तुः = उद्ग्राहयितुर्मम। परिचयस्थैर्ये = अभ्यासदार्ढ्ये। हेतुः = कारणम्। गुणनिकैव = आवृत्तिरेव। मुहुर्मुहुरुक्तमेव। उद्धरणमेव।

[भावार्थः] सर्वज्ञस्य भवतोऽग्रे मत्कृतं नीतिशास्त्रोपपादनमात्मनोऽभ्यासस्य दार्ढ्याय गुणनिकैव, नोपदेशाय न वा स्ववैदुष्यप्रकटनाय।

[कोशः] 'उद्ग्राहितमुपन्यस्तम्' इति वैजयन्ती। 'संस्तवः स्यात्परिचयः' इत्यमरः।

[वाच्यप०] विशेषविदुषः तव पुरो यत् शास्त्रमुद्ग्राहयामि तया गुणनिकयैव भूयते।

[भाषाटीका] हे कृष्ण ! आप तो सर्वज्ञ हैं, आपके सामने नीतिशास्त्र की मेरी यह चर्चा अपने अभ्यास की दृढ़ता के लिए आवृत्तिमात्र ही है ॥७५॥

सम्प्रति स्वगतमुपन्यस्यति—

प्रज्ञोत्साहावतः स्वामी यतेताधातुमात्मनि।
तौ हि मूलमुदेष्यन्त्या जिगीषोरात्मसम्पदः ॥७६॥

[सर्वङ्कषा] प्रज्ञेति। अतोऽस्मात्कारणात्। स्वमस्यास्तीति **स्वामी** प्रभुः। 'स्वामिन्नैश्वर्ये' इति निपातः। **प्रज्ञोत्साहौ**—मन्त्रोत्साहशक्ती। **आत्मनि**—स्वस्मिन्नाधातुं सम्पादयितुं यतेत। स्वयमुभयशक्तिमान्भवेदित्यर्थः। कुतः? । हि यस्मात्तौ—प्रज्ञोत्साहौ। उदेष्यन्त्याः—वर्त्स्यन्त्याः। जिगीषोरात्मनः सम्पदः—प्रभुशक्तेः। मूलं—निदानम्। अत्रोत्साह-

ग्रहणं दृष्टान्तार्थम् । यथोत्साहस्तथा मन्त्रोऽपि ग्राह्यो, न तु केवलोत्साह इति बलभद्रापवादः ॥ ७६ ॥

[अन्वयः] अतः स्वामी प्रज्ञोत्साहौ आत्मनि आधातुं यतेत । हि तौ उदेष्यन्त्याः जिगीषोरात्मसम्पदः मूलम् ।

[विग्रहः] प्रज्ञा च उत्साहश्च प्रज्ञोत्साहौ, तौ । आत्मनः सम्पत् आत्मसम्पत्, तस्याः—आत्मसम्पदः ।

[अर्थः] अतः = अतो हेतोः । स्वामी = प्रभुः । राजा । प्रज्ञोत्साहौ = मन्त्रोत्साहशक्ती । विचारोत्साहौ । आत्मनि = स्वस्मिन् । आधातुं = सम्पादयितुम् । यतेत = प्रयतेत । स्वयमुभयशक्तिमान् भवेत् । हि = यतः । तौ = प्रज्ञोत्साहौ । उदेष्यन्त्याः = वर्त्स्यन्त्याः । जिगीषोः = विजिगीषोः । आत्मसम्पदः = स्वसम्पत्तेः । प्रभुशक्तेः । मूलम् = कारणम् । अस्तीति शेषः ।

[भावार्थः] राज्ञा मन्त्रोत्साहौ स्वस्मिन्सम्पादनीयौ, न केवलमुत्साहेनैव प्रवर्तितव्यं, किन्तु मन्त्रोऽप्यनुसर्त्तव्यः । यतस्तौ हि प्रभुशक्तेर्मूलम् ।

[कोशः] 'उत्साहोऽध्यवसायः स्यात्' इत्यमरः । 'स्वामी प्रभुविशाखयोः' इति विश्वः ।

[वाच्यप०] स्वामिना प्रज्ञोत्साहौ आत्मनि आधातुम् यत्येत । ताभ्यामात्मसम्पदो मूलेन भूयते ।

[भाषाटीका] राजा स्वयं मन्त्र (विचार) और उत्साह इन दोनों को अपने में सम्पादन करे । क्योंकि ये ही दोनों भाविनी प्रभुशक्ति के कारण हैं ॥ ७६ ॥

उत्साहवत्प्रज्ञापि ग्राह्येत्युक्तं तस्याः प्रयोजनमाह—

सोपधानां धियं धीराः स्थेयसीं खट्वयन्ति ये ।
तत्रानिशं निषण्णास्ते जानते जातु न श्रमम् ॥७७॥

[सर्वङ्कषा] सोपधानामिति । ये धीराः—धीमन्तः । सोपधानां सविशेषाम् । युक्तियुक्तामित्यर्थः । अन्यत्र–सगेन्दुकाम् । सोपबर्हामित्यर्थः । 'उपधानं विशेषे स्याद्गेन्दुके प्रणयेऽपि च' इति विश्वः। स्थेयसीं-स्थिराम् अचपलां, द्रढीयसीं च । स्थिरशब्दादीयसुनि 'प्रियस्थिर–' इत्यादिना स्थादेशः। धियं खट्वयन्ति–खट्वां पर्यङ्कं कुर्वन्ति । आश्रयन्तीत्यर्थः । 'शयनं मञ्चपर्यङ्कपल्यङ्काः खट्वया समाः' इत्यमरः । 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच् । ते धीरास्तत्र—धीखट्वायामनिशमश्रान्तं निषण्णाः—विश्रान्ताः सन्तो, जातु—कदाचिदपि, श्रम–खेदं, न जानते—न विदन्ति । श्रमः खेदो रत्यादेरुपलक्षणम् । धीपूर्वक एवोत्साहः सेव्यो न केवल इति सर्वथा धीराश्रयणीयेत्यर्थः । अत्र धिय आरोप्यमाणायाः प्रकृतश्रमापनोदरूपोपकारपर्यन्ततया परिणामालङ्कारः । 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः' इति लक्षणात् ॥ ७७ ॥

[अन्वयः] ये धीराः सोपधानाम् स्थेयसीम् धियम् खट्वयन्ति ते तत्र अनिशं निषण्णाः सन्तः जातु श्रमम् न जानते ।

[विग्रहः] उपधानेन सहिता सोपधाना, तां सोपधानाम् । खट्वामिवाचरन्ति खट्वयन्ति ।

[अर्थः] येधीराः = धीमन्तः । विद्वांसः । सोपधानां = सविशेषाम् । युक्तियुक्ताम् । नवनवोन्मेषशालिनीम् । खट्वापक्षे—सोपधानांसोपबर्हाम् । गेन्दुकसहितामित्यर्थः । स्थेयसीं = स्थिरतराम् । व्यवसायात्मिकाम् । अचञ्चलाम् । अचपलाम् । खट्वापक्षे—द्रढीयसीञ्च । धिय = बुद्धिम् । खट्वयन्ति । पर्यङ्कयन्ति । मञ्चकतां नयन्ति । आश्रयन्तीत्यर्थः । ते = धीराः । तत्र = बुद्धिखट्वायाम् । अनिशं = निरन्तरम् । अश्रान्तञ्च । निषण्णाः = विश्रान्ताः सन्तः । निविष्टाः सन्तः । जातु = कदाचिदपि । श्रमं = खेदम् । आयासञ्च । रत्यादिश्रमञ्च । न जानते = न विदन्ति ।

[भावार्थः] ये विद्वांसो धियं खट्वामिवाश्रयन्ति ते खेदं न जानते । अतो बुद्धिपुरस्सरमुत्साह आश्रयणीयो न केवलः ।

[कोशः] 'उपधानं विशेषे स्यादुगेन्दुके प्रणयेऽपि च' इति विश्वः। 'शयनं मञ्चपर्यङ्कपल्यङ्काः खट्वया समाः' इत्यमरः।

[वाच्यप०] यैः धीरैः सोपधाना स्थेयसी धीः खट्व्यते तैस्तत्रानिश निषण्णैर्जातु श्रमो न ज्ञायते।

[भाषाटीका] जो विद्वान् सविशेष व स्थिर बुद्धि (मन्त्र) को खट्वा की तरह आश्रयण करते हैं, उन्हें श्रम (कष्ट) नहीं होता है, अतः विचार पूर्वक ही उत्साह ठीक है। परन्तु जैसा बलदेवजी ने कहा वैसा केवल उत्साह ठीक नहीं ॥ ७७ ॥

अथ प्रज्ञाऽप्रज्ञयोर्द्वाभ्यां वैषम्यमाह—

स्पृशन्ति शरवत्तीक्ष्णाः स्तोकमन्तर्विशन्ति च।
बहुस्पृशापि स्थूलेन स्थीयते बहिरश्मवत् ॥ ७८ ॥

[सर्वङ्कषा] स्पृशन्तीति। तीक्ष्णाः निशितप्रज्ञाः, शरवत्—शरेण तुल्यं, स्तोकम्—अल्पमेव स्पृशन्ति। अन्तः-कार्यस्यचान्तरं, विशन्ति। अल्पायासेन बहुकार्यं साधयन्तीत्यर्थः। बहुस्पृशा व्यापिना स्थूलेन मन्देन, बृहता चाश्मना-उपलेन तुल्यमश्मवत्। 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' बहिरेव। कार्यस्याकार्यस्य चेति भावः। स्थीयते—स्थितिः क्रियते। मूढो हि अल्पास्य हेतोर्बहु प्रयासं करोति। मूषकग्रहणाय शिखरिखननं परिहासास्पदं भवतीति भावः। तद्धितगतेयमुपमा ॥ ७८ ॥

[अन्वयः] तीक्ष्णाः शरवत् स्तोकं स्पृशन्ति, अन्तर्विशन्ति च। स्थूलेन बहुस्पृशापि अश्मवत् बहिः स्थीयते।

[विग्रहः] बहु स्पृशतीति बहुस्पृक्, तेन—बहुस्पृशा।

[अर्थः] तीक्ष्णाः = निशितप्रज्ञाः। तीक्ष्णबुद्धयः। शरवत् = बाणेन तुल्यम्। स्तोकं = स्वल्पमेव। स्पृशन्ति = लक्ष्यस्य स्पर्शं कुर्वन्ति। अन्तः = कार्यस्य चान्तरम्। विशन्ति = प्रविशन्ति। अल्पेनायासेन विपुलं कार्यं साधयन्तीत्यर्थः। (किन्तु—)

बहुस्पृशाऽपि=विपुलं प्रदेशं स्पृशताऽपि । व्यापिनाऽपि । स्थूलेन=स्थूलबुद्धिना । मन्दमतिना । बृहता च । अश्मवत्=प्रस्तरवत् । बहिः=कार्यस्याकार्यस्य च बहिरेव । बहिःप्रदेश एव च । स्थीयते=अवस्थीयते । स्थितिः क्रियते । कार्यसिद्धिः कर्त्तुं न शक्यते ।

[भावार्थः] विद्वान् कुशलस्तीक्ष्णमतिरल्पायासेन बहुलंकार्यं कुरुते, मन्दस्तु महताऽऽयासेनापि स्वल्पमपि कार्यं साधयितुं न शक्नोति ।

[कोशः] 'शरस्तु तेजने बाणे दध्यग्रे ना शरं जले' इति विश्वः ।

[वाच्यप०] तीक्ष्णैः शरवत् स्तोकं स्पृश्यते, अन्तर्विश्यते च । स्थूलः बहुस्पृगपि अश्मवद्बहिः तिष्ठति ।

[भाषाटीका] तेज आदमी बाण की तरह छूते ही-थोड़े ही आयास से—भीतर घुस जाता है । पर मन्दबुद्धि तो पत्थर की तरह बहुत जगह पर आघात कर के भी भीतर नहीं घुस सकता है । किन्तु—बाहर ही रह जाता है । अधिक श्रम से भी कार्य नहीं कर सकता ॥ ७८ ॥

आरभन्तेऽल्पमेवाज्ञाः कामं व्यग्रा भवन्ति च ।
महारम्भाः कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुलाः ॥ ७९ ॥

[सर्वङ्कषा] आरभन्त इति । किञ्च अज्ञाः अल्पं तुच्छमेवारभन्ते प्रक्रमन्ते । काममत्यन्तं व्यग्राः-त्वरिताश्च भवति । न च पारं गच्छन्तीति भावः । कृतधियः-शिक्षितबुद्धयस्तु । महारम्भा महोद्योगा भवन्ति । निराकुला अव्यग्राश्च तिष्ठन्ति । पारं गच्छन्तीति भावः ॥ ७९ ॥

[अन्वयः] अज्ञाः अल्पमेव आरभन्ते कामं व्यग्राश्च भवन्ति कृतधियः महारम्भाः (भवन्ति) निराकुलाः च तिष्ठन्ति ।

[विग्रहः] कृता धीर्येषां ते कृतधियः । महान् आरम्भो येषां ते महारम्भाः ।

[अर्थः] अज्ञाः = मूढाः । मन्दमतयः । अल्पमेव =

स्वल्पमेव । आरम्भन्ते = प्रक्रमन्ते । कामम् = अत्यन्तम् । व्यग्राश्च = व्याकुलाश्च । त्वरिताश्च । भवन्ति= जायन्ते । कार्यपारं न गच्छन्तीतिभावः । (किन्तु—) कृतधियः = शिक्षितमतयः । महारम्भाः = महोद्योगा भवन्ति । निराकुलाश्च = अव्यग्राश्च । तिष्ठन्तीति शेषः । कार्यञ्च साधयन्तीति भावः ।

[भावार्थः] मूढा अल्पेऽपि कार्ये व्याकुला भवन्ति, न च तत्साधयितुं शक्नुवन्ति । महान्तस्तु महारम्भा अपि निराकुलास्तिष्ठन्ति । कार्याणि अनायासेन साधयन्ति च ।

[कोशः] 'व्यग्रो व्यासक्त आकुलः' इत्यमरः । 'अज्ञे मूढयथाजातमूर्खवैधेयबालिशाः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] अज्ञैः–अल्पमेवारभ्यते, कामं व्यग्रैश्च भूयते । कृतधीभिर्महारम्भैर्भूयते, निराकुलैश्च स्थीयते ।

[भाषाटीका] मूर्ख लोग थोड़े से काम में भी व्याकुल हो जाते हैं, पर बड़े लोग बहुत कार्य करने पर भी निराकुल भाव से रहते हैं ॥ ७९ ॥

अथ प्रज्ञावानपि न प्रमाद्येदित्याह—

उपायमास्थितस्यापि नश्यन्त्यर्थाः प्रमाद्यतः ।
हन्ति नोपशयस्थोऽपि शयालुर्मृगयुर्मृगान् ॥८०॥

[सर्वङ्कषा] उपायमिति । उपायमास्थितस्य—प्राप्तस्यापि । उपायेनैव कार्यं साधयतोऽपीत्यर्थः । किमुत व्यग्रतयेति भावः।प्रमाद्यतः–अनवधानस्य। 'प्रमादोऽनवधानता' इत्यमरः । अर्थाः–प्रयोजनानि, नश्यन्ति । तथाहि—शयालुर्निद्रालुः । आलुचि शीङो वक्तव्यत्वादालुच् । मृगान्यातीति मृगयुः–व्याधः । 'मृगय्वादयश्च' इत्यौणादिकः कुप्रत्ययान्तो निपातः । 'व्याधो मृगवधाजीवो मृगयुर्लुब्धकश्च सः' इत्यमरः । उपशेरतेऽस्मिन्नित्युपशायो मृगमार्गस्थायिनो व्याधस्यात्मगुप्तिस्थानं गर्तविशेषः । तत्र तिष्ठतीत्युपशयस्थोऽपि मृगान्न हन्ति । विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ८० ॥

[अन्वयः] उपायम् आस्थितस्यापि प्रमाद्यतः अर्था नश्यन्ति ।

(तथाहि-) उपशयस्थोऽपि शयालुर्मृगयुः मृगान् न हन्ति ।

[विग्रहः] उपशेरतेऽस्मिन्—उपशयः । उपशये तिष्ठतीति उपशयस्थः । शेते तच्छीलः शयालुः । मृगान् यातीति मृगयुः ।

[अर्थः] उपायं=कार्यसिद्ध्युपायम् । आस्थितस्यापि = प्राप्तस्यापि । प्रमाद्यतः=अनवधानस्य । अनवहितचेतसः । प्रमादिनः । अर्थाः=प्रयोजनानि । कार्याणि । नश्यन्ति = विनश्यन्ति । न सिध्यन्ति । (तथाहि—) शयालुः=निद्रालुः । निद्रातुरः । मृगयुः=व्याधः । उपशयस्थोऽपि= मञ्चकस्थोपि । गर्त्तस्थोऽपि । मृगवञ्चनाय गर्त्तमास्थितोऽपि । मृगान् = हरिणान् । न हन्ति = न हन्तु शक्नोति ।

[भावार्थः] उपायेन कार्यं कुर्वतोऽपि प्रमत्तस्य कार्याणि न सिद्ध्यन्ति । मृगयामञ्चकस्थोऽपि शयालुर्व्याधो मृगान्हन्तुं न शक्नोति ।

[कोशः] 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' इत्यमरः । 'प्रमादोऽनवधानता' इत्यमरः । 'व्याधो मृगवधाजीवो मृगयुर्लुब्धकश्च सः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] उपायम् आस्थितस्यापि अर्थैः नश्यते । उपशयस्थेनापि शयालुना मृगयुणा मृगा न हन्यन्ते ।

[भाषाटीका] उपाय से काम करनेवाला भी कार्यकर्त्ता यदि प्रमादी-असावधान हो तो काम बिगड़ जाता है । देखो सोनेवाला व्याध (बहेलिया) उपशय (मचान या गड्हा आदि छिपने के स्थान) में बैठकर भी हरिणों को मार नहीं सकता है ॥ ८० ॥

एवं प्रज्ञाया आवश्यकत्वमुक्तम्, तयोत्साहस्याप्याह—

उदेतुमत्यजन्नीहां राजसु द्वादशस्वपि ।
जिगीषुरेको दिनकृदादित्येष्विव कल्पते ॥ ८१ ॥

[सर्वङ्कषा] उदेतुमिति । जेतुमिच्छुर्जिगीषुरेक एव द्वादशस्वपि राजसु मध्ये द्वादशस्वादित्येषु दिनकृद्यो दिनकरणे व्याप्रियमाण

आदित्यः स इवेहामुत्साहमत्यजन्प्रयुञ्जान एव । न तु निरुद्योग इति भावः। उदेतुं कल्पते—उदयाय प्रभवति । उत्साहशक्तिरेव प्रभुशक्तेरपि मूलमित्यर्थः । 'नानालिङ्गत्वादृतूनां नानासूर्यत्वम्' इति श्रुतेः । प्रतिमासमादित्यभेदाद्द्वादशत्वं, तत्त्वैकस्यैव द्वादशात्मकत्वम् । 'द्वादशात्मा दिवाकरः' इत्यभिधानात् । ते चार्यमादयः पुराणोक्ता द्रष्टव्याः । राजानस्तु—

अरिर्मित्रमरेर्मित्रं मित्रमित्रमतः परम् ।
तथारिमित्रमित्रं च विजिगीषोः पुरस्सराः'॥ पञ्चेति शेषः ।
'पार्ष्णिग्राहस्ततः पश्चादाक्रन्दस्तदनन्तरम् ।
आसारावनयोश्चैव विजिगीषोस्तु पृष्ठतः ॥'

पार्ष्णिग्राहासारः, आक्रन्दासारश्चेत्यर्थः । अत्र चत्वार इति शेषः । एवं नव भवन्ति । विजिगीषुर्दशमः ।

'अरेश्च विजिगीषोश्च मध्यमो भूम्यनन्तरः ।
अनुग्रहे संहतयोः, समर्थो व्यस्तयोर्वधे ।
मण्डलाद्बहिरेतेषामुदासीनो बलाधिकः ॥'

इति मध्यमोदासीनाभ्यां सह द्वादश वेदितव्याः । पूर्णोपमा ॥८१॥

[अन्वय] जिगीषुः एकः द्वादशसु अपि राजसु (मध्ये) दिनकृत् आदित्येषु इव उदेतुम् ईहाम् अत्यजन् उदेतुं कल्पते ।

[विग्रहः] दिनं करोतीति दिनकृत् ।

[अर्थः] जिगीषुः=विजयेच्छुः । एकः=एक एव । द्वादशस्वपि=द्वादशसङ्ख्यकेषु । राजसु=राजसु मध्ये । अर्यमादिद्वादशसङ्ख्यकेषु सूर्येषु मध्ये । दिनकृदिव=दिनकरणे व्याप्रियमाण आदित्य इव । प्रभाकर इव । उत्साहम्=उद्योगम् । अत्यजन् = प्रयुञ्जानः । आश्रयन्नेव । उदेतुम् = उदयाय । कल्पते = शक्तो भवति ।

[भावार्थः] यथा द्वादशस्वपि सूर्येषु मध्ये स एव सूर्य उदेति यो दिनं कर्तुमुत्सहते । एवं द्वादशसु राजसु मध्ये य उत्साहमाश्रयते स एव राजा—(विजिगीषुः)—अभ्युदयं लभते ।

[कोशः] 'इच्छा काङ्क्षा स्पृहेहा तृड् वाञ्छा लिप्सा मनोरथः' इत्यमरः।

[वाच्यप०] जिगीषुणा एकेन द्वादशसु अपि राजसु उदेतुम् ईहामत्यजता आदित्येषु दिनकृता इव उदयाय कल्प्यते ।

[भाषाटीका] जैसे बारह आदित्यों में से वही सूर्य उदय होता है जो दिन को करता है, वैसे ही १२ राजाओं में से वही (विजिगीषु) अभ्युदय को पाता है जो उत्साह रखता है ॥ ८१ ॥

'उपायमास्थितस्ये'त्यत्र 'राजा न प्रमाद्ये' दित्युक्तम् । अप्रमादप्रकारमाह—

बुद्धिशस्त्रः प्रकृत्यङ्गो घनसंवृतिकञ्चुकः ।
चारेक्षणो दूतमुखः पुरुषः कोऽपि पार्थिवः ॥ ८२ ॥

[सर्वङ्कषा] बुद्धिशस्त्र इति । बुद्धिरेव शस्त्रं यस्य स बुद्धिशस्त्रः । अमोघपातित्वात्तस्या इति भावः । प्रकृतयः—स्वाम्यादिराज्याङ्गानि । 'राज्याङ्गानि प्रकृतयः' इत्यमरः । ता एवाङ्गानि यस्य सः । तद्वैकल्ये राज्ञो वैकल्यं स्यादिति भावः । घना दुर्भेदा संवृतिर्मन्त्रगुप्तिरेव कञ्चुकः कवचो यस्य स तथोक्तः । मन्त्रभेदे राज्यभेदादिति भावः । चरतीति चरः । पचाद्यच् । स एव चारो गूढपुरुषः । प्रज्ञादित्वात्स्वार्थिकोऽण्प्रत्ययः । 'चारश्च गूढपुरुषः' इत्यमरः । स एवेक्षणं चक्षुर्यस्य स चारेक्षणः । अन्यथा स्वपरमण्डलवृत्तान्ताऽदर्शनात् । 'अन्धस्येवान्धलग्नस्य विनिपातः पदे पदे' इति भावः । दूतः—सन्देशहरः । 'स्यात्सन्देशहरो दूतः' इत्यमरः । स एव मुखं वाक्यस्यासौ दूतमुखः ।अन्यथा मूकस्येव वाग्व्यवहाराऽसिद्धौ तत्साध्यासाध्यकार्यप्रतिबन्धः स्यादिति भावः । एवम्भूतः पार्थिवः कोऽपि पुरुषः। अन्य एवायं लोकविलक्षणः पुमानित्यर्थः । अतो राज्ञा बुद्ध्यादिसम्पन्नेन भवितव्यम् । एतदेवाऽप्रमत्तत्वम् । अन्यथा स्वरूपहानिः स्यादिति भावः । अत्र कोऽपीति राज्ञो लोकसम्बन्धेऽपि तदसम्बन्धोक्त्या तद्रूपातिशयोक्तिः । सा च बुद्धिशस्त्रइत्यादिरूपकनिर्व्यूढेति तेन सहाङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ।

[अन्वयः] बुद्धिशस्त्रः प्रकृत्यङ्गः घनसंवृतिकञ्चुकः चारेक्षणः दूतमुखः (एवम्भूतः) पार्थिवः कोऽपि पुरुषः (अस्ति) ।

[विग्रहः] बुद्धिरेव शस्त्रं यस्य सः बुद्धिशस्त्रः। प्रकृतयः अङ्गानि यस्य सः प्रकृत्यङ्गः। घना चासौ संवृतिश्च घनसंवृतिः, घनसंवृतिरेव कंचुकं यस्य सः घनसंवृतिकञ्चुकः। चारा एव ईक्षणं यस्य सः चारेक्षणः। दूता एव मुखं यस्य सः दूतमुखः।

[अर्थः] बुद्धिशस्त्रः = बुद्ध्यायुधः। बुद्धिरूपाऽमोघायुधः। प्रकृत्यङ्गः = स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रादिप्रकृतिशरीरः। घनसंवृतिकञ्चुकः = दुर्भेदमन्त्रगुप्तिकवचः। चारेक्षणः = गूढपुरुषेक्षणः। गुप्तचरलोचनः। दूतमुखः = सन्देशहरवाक्। दूतास्यः। (एवम्भूतः = ईदृशः—) पार्थिवः = राजा। कोऽपि = अन्य एव लोकविलक्षणः। पुरुषः = पुमान्। अस्तीति शेषः।

[भावार्थः] राज्ञां बुद्धिरेव अमोघमायुधम। प्रकृतय एव शरीरम्। मन्त्रगुप्तिरेव कवचम्। चारा एव लोचनम्। दूता एव मुखम्।

[कोशः] 'स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च। राज्याऽङ्गानि प्रकृतयः' इत्यमरः। 'चारश्च गूढपुरुषः' इत्यमरः। 'स्यात्सन्देशहरो दूतः' इत्यमरः। 'उरश्छदः कङ्कटको जगरः कवचोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः।

[वाच्यप०] पार्थिवेन केनापि पुरुषेण भूयते।

[भाषाटीका] राजा एक लोकोत्तर पुरुष है जिसका बुद्धि ही शस्त्र है, प्रकृति (राजा मन्त्री मित्र खजाना राष्ट्र किला पलटन ये ७) ही अवयव हैं। मन्त्र की गुप्ति ही कवच है। गुप्तचर (जासूस) ही आँख हैं। दूत ही मुख है ॥ ८२ ॥

चतुर्थोपायसाध्य इत्यादिना यत्क्षात्रमेव कर्तव्यमुक्तं, तत्रोत्तरमाह—

तेजः क्षमा वा नैकान्तं कालज्ञस्य महीपतेः।
नैकमोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः ॥ ८३ ॥

[सर्वङ्कषा] तेज इति। कालं जानातीति कालज्ञस्तस्य। 'अयं काल' इति विदुष इत्यर्थः। 'आतोऽनुपसर्गे कः'। न तु 'इगुपध—' इत्यादिना कविधिः। समासे कर्मोपपदस्यैव बलवत्त्वभाषणात्। तस्य महीपतेस्तेजः

क्षात्रमेवेति वा, क्षमैव वा एकान्तं नियमो न नास्ति, किन्तु यथाकालमुभयमप्याश्रयणीयमित्यर्थः । तथा हि–रसाञ्शृङ्गारादीन्भावान्–निर्वेदादींश्च वेत्ति यस्तस्य **रसभावविदः** । भावग्रहणं सम्पातायातम् । **कवेः** कवितुरेकं केवलमोजः प्रौढप्रबन्धत्वं वा । **एकः प्रसादः**—सुकुमारप्रबन्धत्वं वा न । किन्तु तत्र हि रसानुगुण्येन यथायोग्यमुभयमप्युपादेयम् । दृष्टान्तालङ्कारः ॥८३॥

[अन्वयः] कालज्ञस्य महीपतेः तेजः क्षमा वा एकान्तम् न । (तथाहि—) रसभावविदः कवेः एकम् ओजः, एकः प्रसादो वा न ।

[विग्रहः] कालं जानातीति कालज्ञः, तस्य कालज्ञस्य । रसाश्च भावाश्च रसभावाः, रसभावान् वेत्तीति रसभाववित् , तस्य—रसभावविदः ।

[अर्थः] कालज्ञस्य = अवसरविदः । समयज्ञस्य । महीपतेः = राज्ञः । तेजः = क्षात्रं तेजः । प्रतापः । अक्षमित्वम् । तीक्ष्णता । क्षमा वा = क्षमैव वा । क्षान्तिरेव । एकान्तं = नितान्तम् । नियमेन । न=नैव । केवलं तेजः क्षमा वेति नियमो नास्ति । यथावसरमुभयोराश्रयणीयत्वादित्यर्थः । तथा हि—रसभावविदः=शृङ्गारादिरसान्निर्वेदादिभावांश्च विदुषः । कवेः=कवितुः । एक = केवलम् । ओजः = प्रौढप्रबन्धत्वम् । एकः = केवलः । प्रसादो वा = सुकुमारप्रबन्धत्वं वा । न = नैव । किन्तु रसानुगुण्येन यथायोग्यमुभयमप्युपदेयमित्यर्थः ।

[भावार्थः] समयज्ञस्य महीपतेः क्षमा तेजो वा नैकान्तं, किन्तु यथावसरमुभयमप्याश्रयणीयं भवति । तथाहि रसविदो महाकवेः प्रसाद ओजो वा नैकान्तं भवति, किन्तु रसानुगुण्येन यथायोग्यमुभयमप्युपादेयं भवति ।

[कोशः] 'तेजो दीप्तौ प्रभावे च स्यात्पराक्रमरेतसोः' इति मेदिनी । 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] महीपतेः तेजसा क्षमया वा न भूयते । ओजसा प्रसादेन वा नैकान्तं भूयते ।

[भाषाटीका] अवसरको समझनेवाला राजा उग्रता व क्षमा को एक को ही आश्रयण नहीं करता है, किन्तु मौके २ से दोनों का आश्रय करता है । देखो—रस व भाव का तत्त्व जाननें वाला कवि प्रौढबन्ध या सुकुमार बन्ध इन में से जिसे रस के अनुकूल समझता है उसको आश्रयण करता है, किसी एक पर ही निर्भर नहीं रहता ॥ ८३ ॥

यदुक्तं 'क्रियासमभिहारेण विराध्यन्तं सहेत कः' इति, तत्रोत्तरमाह—

कृतापचारोऽपि परैरनाविष्कृतविक्रियः ।
असाध्यः कुरुते कोपं प्राप्ते काले गदो यथा ॥ ८४ ॥

[सर्वङ्कषा] कृतापचार इति । परैः शत्रुभिः कृतः अपचारोऽपकारः, अपथ्यं च यस्य सः । तथाप्यनाविष्कृतविक्रियः–अन्तर्गूढविकारः । अतएवाऽसाध्योऽप्रतिसमाधेयःसन् । गदोयथा रोग इव । 'इववद्वायथाशब्दः' इति दण्डी । काले बलक्षयावसरे प्राप्ते सति । कोपं कुरुते प्रकुप्यतीत्यर्थः । तदुक्तम्–'वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत्कालविपर्ययः । तमेव चागते काले भिन्द्याद्घटमिवाश्मना' ॥ इति ॥८४ ॥

[अन्वयः] परैः कृतापचारोऽपि अनाविष्कृतविक्रियः (अत एव) असाध्यः (सन्) गदो यथा काले प्राप्ते (सति) कोपं कुरुते ।

[विग्रहः] कृतः अपचारो यस्याऽसौ—कृतापचारः । न आविष्कृता अनाविष्कृता, अनाविष्कृता विक्रिया येनासौ अनाविष्कृतविक्रियः । न साध्यः असाध्यः ।

[अर्थः] परैः = शत्रुभिः । कृतापचारोऽपि = विहितापकारोऽपि । गदपक्षे—विहितापथ्योऽपि । (तथापि—) अनाविष्कृतविक्रियः = अप्रकटितकोपः । अन्तर्गूढविकारः । (अत एव—) असाध्यः=तदानीमप्रतिसमाधेयः सन् । अशक्यनिरासः सन् । अप्रतिविधेयः सन् । गदो यथा=रोग इव । काले = अवसरे । शत्रुबलक्षयावसरे । विपत्तिकाले च । गदपक्षे—

प्रकोपकाले । बलत्तये च प्राप्ते = समायाते सति । कोपं = प्रकोपम् । आक्रमणम् । विकारम् । कुरुते = विधत्ते ।

[भावार्थः] मनस्वी शत्रुभिस्तिरस्कृतोऽपि कोपं नियम्य समयं यापयन् कोपकाले प्राप्तेऽसाध्यो रोग इव प्रकोपं करोति ।

[कोशः] 'रोगव्याधिगदामयाः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] परैः कृतापचारेणापि अनाविष्कृतविक्रियेण असाध्येन गदेन यथा—काले प्राप्ते कोपः क्रियते ।

[भाषाटीका] शत्रुओं से तिरस्कार किया गया भी मनस्वी अपने क्रोध को रोककर समय को बिताता है, और मौका आने पर असाध्य रोग की तरह प्रकोप करता है । रोग भी अपथ्य करनेवाले पर समय आने पर ही प्रकुपित होता है ॥ ८४ ॥

इतश्च क्षन्तव्यमिदानीमित्याह—

मृदुव्यवहितं तेजो भोक्तुमर्थान्प्रकल्पते ।
प्रदीपः स्नेहमादत्ते दशयाभ्यन्तरस्थया ॥ ८५ ॥

[सर्वङ्कषा] मृद्विति । मृदुना मृदुवस्तुना व्यवहितमन्तर्हितं तेजः अर्थान्भोक्तुं प्रकल्पते-प्रभवति । तथाहि—प्रदीपोऽभ्यन्तरस्थया मध्यस्थया दशया-वर्त्या । 'दशा वर्त्तावस्थायां स्नेहस्तैलादिके रसे' इति विश्वः । स्नेहं-तैलादिकमर्थमादत्ते । अन्यथा स्वयमेव निर्वापादिति । ततः क्षान्तिपूर्वमेव क्षात्रं फलतीति सर्वथा प्रथमं क्षन्तव्यमिति भावः । विशेषेण सामान्यसमर्थनादर्थान्तरन्यासः ॥ ८५ ॥

[अन्वयः] मृदुव्यवहितं तेजः अर्थान् भोक्तुम् प्रकल्पते । प्रदीपः अभ्यन्तरस्थया दशया (एव) स्नेहमादत्ते ।

[विग्रहः] मृदुना व्यवहितं मृदुव्यवहितम् । अभ्यन्तरे तिष्ठतीति अभ्यन्तरस्था, तया—अभ्यन्तरस्थया ।

[अर्थः] मृदुव्यवहितं = मृदुत्वसहितम् । मृदुवस्त्वन्त-

र्हितञ्च । तेजः = प्रतापः । ज्योतिश्च । अर्थान् = पदार्थान् । राज्यादिभोगान् । तैलादींश्च । भोक्तुम् = अनुभवितुम् । उपभोक्तुम् । दग्धुञ्च । प्रकल्पते = प्रभवति । समर्थो भवति । तेजःपक्षे = समर्थं भवति । (तथाहि—) प्रदीपः = दीपः । अभ्यन्तरस्थया = मध्यस्थया । दशया = वर्त्या एव । स्नेहं = तैलादिकमर्थम् । आदत्ते = गृह्णाति । उपभुङ्क्ते च ।

[भावार्थः] मृदुत्वोपहितं तेजस्त्वर्थं भोगान्भोक्तुं प्रभवति, यथा तेजस्व्यपि प्रदीपो मृद्व्या वर्त्या तैलमादत्ते, नान्यथा ।

[कोशः] 'दशा वर्त्तावस्थायां स्नेहस्तैलादिके रसे' इति विश्वः ।

[वाच्यप०] मृदुव्यवहितेन तेजसा अर्थान् भोक्तुम् प्रकल्प्यते । प्रदीपेन अभ्यन्तरस्थया दशया स्नेह आदीयते ।

[भाषाटीका] तेजस्वी भी मृदुता से ही राज्य आदि सम्पत्ति को भोग सकता है । देखो दीया—बत्ती को बीच में रखकर ही तैल खींचता है, बिना बत्ती के नहीं ॥ ८५ ॥

'तर्हि पौरुषं मा भून्नित्यं, क्षममाणस्य दैवमेव श्रेयो विधास्यतीत्याशङ्क्याह—

नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषे ।
शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते ॥ ८६ ॥

[सर्वङ्कषा] नालम्बत इति । विद्वानभिज्ञः । दिष्टे मतिर्यस्येति दैष्टिकः । दैवप्रमाणक इत्यर्थः । 'दैवं दिष्टं भागधेयम्' इत्यमरः । 'अस्तिनास्तिदिष्टं मतिः' इति ठक् । तद्भावं दैष्टिकतामेव नालम्बते । सर्वथा यद्भविष्यस्य विनाशादिति भावः । तथा पौरुषे-केवलपुरुषकारेऽपि । युवादित्वादण्प्रत्ययः । न निषीदति न तिष्ठति । दैवप्रातिकूल्ये तस्य वैफल्यादिति भावः । किन्तु सत्कविः सत्कवयिता, शब्दार्थाविव तयोः काव्यशरीरत्वादिति भावः। यथाह वामनः—'अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ शब्दार्थौ काव्यम्' इति । द्वयं–पौरुषं, दैवं च। अपेक्षते । अतः पौरुषमप्यावश्यकम्, किन्तु काले कर्तव्यमिति विशेषः । पौरुषाऽदृष्टयोः परस्परसापेक्षत्वादिति भावः ॥ ८६ ॥

[अन्वयः] विद्वान् दैष्टिकतां नालम्बते पौरुषे च न निषीदति । (किन्तु--) सत्कविः शब्दार्थौ इव द्वयम् अपेक्षते ।

[विग्रहः] दिष्टम् इति मतिर्यस्य स दैष्टिकः, तस्य भावः दैष्टिकता, ताम्—दैष्टिकताम् । संश्चासौ कविश्च सत्कविः । शब्दश्च अर्थश्च शब्दार्थौ, तौ तथाभूतौ ।

[अर्थः] विद्वान् = अभिज्ञः । कुशलः । तत्त्वज्ञः । दैष्टिकतां = दैवप्रमाणकताम् । भाग्यवादिताम् । नालम्बते= नाश्रयते । (तथा—) पौरुषे=केवले पुरुषकारेऽपि । केवले पुरुषार्थेऽपि न । न निषीदति=न तिष्ठति । केवलमुद्योगमेव नाश्रयते । दैवप्रतिकूल्ये पुरुषार्थस्य वैफल्यात् । (किन्तु—) सत्कविः=श्रेष्ठः कविः । [श्रेष्ठा कवितेति यावत्] । शब्दार्थाविव = शब्दतदभिधेयाविव । तयोः काव्यशरीरभूतत्वात् । द्वयं=दैवं पौरुषञ्चेति द्वयम् । अपेक्षते=आश्रयते ।

[भावार्थः] विद्वान् पौरुषमदृष्टञ्चेति द्वयमप्यपेक्षते । तेन पौरुषमनुकूले समये प्रतन्यते । पौरुषाऽदृष्टयोः परस्परं सापेक्षत्वात् ।

[कोशः] 'दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] विदुषा दैष्टिकता नालम्ब्यते, पौरुषे च न निषद्यते । सत्कविना शब्दार्थौ इव द्वयम् अपेक्ष्यते ।

[भाषाटीका] विद्वान् लोग खाली भाग्य के भरोसे पर नहीं बैठते हैं, और न केवल उद्योग ही के ऊपर भरोसा करते हैं, किन्तु जैसे श्रेष्ठ कविता में शब्द और अर्थ दोनों में चमत्कार रहता है वैसे ही वे भाग्य और उद्योग इन दोनों का आश्रय करते हैं । क्योंकि अनुकूल समय में ही पुरुषार्थ सफल होता है ॥ ८६ ॥

अथ क्षान्तेः फलमाह—

स्थायिनोऽर्थे प्रवर्तन्ते भावाः सञ्चारिणो यथा ।
रसस्यैकस्य भूयांसस्तथा नेतुर्महीभृतः ॥ ८७ ॥

[सर्वङ्कषा] **स्थायिन** इति । रस्यते स्वाद्यते इति **रसः**–शृङ्गारादिः । रसतेः स्वादनार्थत्वाद्रस्यन्त इति ते रसा इति निर्वचनात् । तस्य **रसस्य**-रसीभवतः, **स्थायिभावस्य**-रत्यादेः । 'रतिर्हासश्च क्रोधश्च शोकोत्साहभयानि च । जुगुप्साविस्मयशमाः स्थायिभावाः प्रकीर्तिता ॥' इत्युक्तत्वात् । **एकस्यैवार्थे**-स्वादुभावरूपे प्रयोजने, **भूयांसः सञ्चारिणो**—व्यभिचारिणो **भावाः**-निर्वेदादयः । विभावादीनामुपलक्षणमेतत् ।**यथा प्रवर्त्तन्ते**। तदुक्तम्—'विभावैरनुभावैश्चसात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः । आनीयमानः स्वादुत्वं स्थायिभावो रसः स्मृतः ॥' इति । **तथा-स्थायिनः**–स्थिरस्य । क्षान्त्या कालं प्रतीक्षमाणस्येत्यर्थः । **एकस्यैव नेतुर्विजिगीषोर्नायकस्यार्थे** प्रयोजने **भूयांसो महीभृतो** राजानः **प्रवर्तन्ते**।स्वयमेवास्य कार्यं साधयन्तीत्यर्थः।ततः क्षन्तव्यमिति भावः । केचित्तु भावपदस्यापि रसपरत्वमाश्रित्य-यथा संश्चारिणः प्रसङ्गादागन्तुका अन्ये रसाः स्थायिनः स्थिरस्यैकस्य मुख्यस्यार्थे प्रवर्तन्ते, यथास्मिन्नेव काव्ये वीरस्य शृङ्गारादय इति व्याचक्षते । उपमालङ्कारः ॥८७॥

[अन्वयः] रसस्य स्थायिनः एकस्य अर्थे भूयांसः सञ्चारिणः भावाः यथा प्रवर्तन्ते तथा (स्थायिन एकस्य) नेतुः (अर्थे भूयांसः) महीभृतः (प्रवर्त्तन्ते ।)

[विग्रहः] तिष्ठतीति स्थायी, तस्य स्थायिनः । रस्यते इति रसः, तस्य रसस्य ।

[अर्थ] रसस्य = रसीभवतः । स्थायिनः = स्थायिभावस्य रत्यादेः । एकस्यार्थे=रसताङ्गच्छतो रत्यादेः स्थायीभावरूपे प्रयोजने । भूयांसः=विपुलाः । सञ्चारिणः=व्यभिचारिणः । भावाः=निर्वेदादयः । विभावानुभावसञ्चारिणः । यथा प्रवर्त्तन्ते=यथा चेष्टन्ते । यथा सहकारितां गच्छन्ति । तथा= तथैव । (स्थायिनः=स्थिरस्य । क्षमया योग्यं कालं प्रतीक्षमाणस्य । एकस्य=केवलस्य ।) नेतुः=विजिगीषोः । (अर्थे= प्रयोजने । भूयांसः=अनेके ।) महीभृतः=राजानः । (प्रवर्त्तन्ते=चेष्टन्ते ।) तस्य कार्यं स्वयं साधयन्तीत्यर्थः ।

[भावार्थः] रसीभवतो रत्यादेः सञ्चारिभावा इव क्षमया समुचितं कालं प्रतीक्षमाणस्य विजिगीषोरन्ये भूयांसो राजानः सहायतां यान्ति ।

[कोशः] ' अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] रसस्यार्थे तथा भूयोभिः सञ्चारिभिः भावैः प्रवर्त्यते तथा स्थायिनो नेतुर्महीभृद्भिः प्रवर्त्यते ।

[भाषाटीका] जैसे रसता को प्राप्त होते हुए रति आदि स्थायीभावों के निर्वेद आदि सञ्चारीभाव सहायक होते हैं वैसे ही मौका देखकर पराक्रम दिखानेवाले विजिगीषु राजा के—अन्य बहुत से आसपास के राजा सहायक हो जाते हैं ॥ ८७ ॥

क्षान्तिपक्ष एव गुणान्तरमाह—

तन्त्रावापविदा योगैर्मण्डलान्यधितिष्ठता ।
सुनिग्रहा नरेन्द्रेण फणीन्द्रा इव शत्रवः ॥ ८८ ॥

[सर्वङ्कषा] तन्त्रेति । तन्त्रावापौ—स्वपरराष्ट्रचिन्तनम् । अन्यत्र-तन्त्रावापं शास्त्रौषधप्रयोगं च वेत्ति यस्तेन तन्त्रावापविदा । 'तन्त्रः स्वराष्ट्रचिन्तायामावापः परचिन्तने । शास्त्रौषधान्तमुख्येषु तन्त्रम् ' इति वैजयन्ती । योगैः—सामाद्युपायैः । अन्यत्र—देवताध्यानैश्च । 'योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु' इत्यमरः । मण्डलानि-स्वपरराष्ट्राणि, माहेन्द्रादिदेवतायतनानि च । अधितिष्ठता—अतिक्रमता । नरेन्द्रेण राज्ञा, विषवैद्येन च । 'नरेन्द्रो वार्तिके राज्ञि विषवैद्ये च कथ्यते' इति विश्वः । शत्रवः फणीन्द्रा इव सुनिग्रहाः-सुखेन निग्राह्याः । एवं च प्रकृताऽप्रकृतविषयः श्लेषः । उपमैवेति केचित् ॥ ८८ ॥

[अन्वयः] तन्त्रावापविदा योगैः मण्डलानि अधितिष्ठता नरेन्द्रेण शत्रवः फणीन्द्रा इव सुनिग्रहाः ।

[विग्रहः] तन्त्रश्च आवापश्च तन्त्रावापौ, तन्त्रावापौ वेत्तीति तन्त्रावापवित्, तेन—तन्त्रावापविदा । फणिनामिन्द्राः—फणीन्द्राः ।

[अर्थः] तन्त्रावापविदा = स्वराष्ट्रपरराष्ट्रचिन्ताकुशलेन । (विषवैद्यपक्षे—) विषघ्नमणिमन्त्रौषधादिप्रयोगविदा । विषहरशास्त्रीयसाम्प्रदायिकमन्त्रतन्त्रादिरहस्याभिज्ञेन । योगैः = सामदानाद्युपायैः । (विषवैद्यपक्षे—) देवताध्यानादिभिः । मण्डलानि = स्वपरराष्ट्राणि । (विषवैद्यपक्षे—) माहेन्द्रगारुडादिदेवतायतनानि । अधितिष्ठता = अध्यारूढेन । अतिक्रमता-च । नरेन्द्रेण = विजिगीषुणा राज्ञा। विषवैद्येन च । शत्रवः= रिपवः । फणीन्द्रा इव = भोगिन इव । सर्पा इव । सुनिग्रहाः= सुखेन निग्रहीतुं शक्याः । वशीकर्तुं शक्याः ।

[भावार्थः] मणिमन्त्रादिकुशलेन मण्डलान्तर्वर्तिना जाङ्गुलिकेन सर्पा इव स्वपरराष्ट्रचिन्तनचतुरेण चारैः स्वपरराष्ट्रमधितिष्ठता राज्ञा सुखेन शत्रवो निग्रहीतुं शक्याः ।

[कोशः] 'तन्त्रः स्वराष्ट्रचिन्तायामावापः परचिन्तने । शास्त्रौषधान्तमुख्येषु तन्त्रम्' इति वैजयन्ती । 'योगः सहननोपायध्यानसन्ततियुक्तिषु' इत्यमरः । 'नरेन्द्रो वार्तिके राज्ञि विषवैद्ये च कथ्यते' इति विश्वः ।

[वाच्यप०] तन्त्रावापवित् योगैर्मण्डलानि अधितिष्ठन् नरेन्द्रः फणीन्द्रान् इव शत्रून् निगृह्णीयात् ।

[भाषाटीका] जैसा तन्त्र-मन्त्र जडी-बूटी जाननेवाला गारुडी सँपेरा अपने रक्षार्थ बनाए हुए मण्डल में बैठकर बड़े २ सांपों को पकड़ लेता है, वैसे ही अपने और पराए राज्यों की पूरी देखरेख खोज—खबर रखने वाला राजा–शत्रुओं को अनायास ही वश में कर लेता है ॥ ७८ ॥

'प्रज्ञोत्साहावतः स्वामी' इत्यत्रैव 'तावेव प्रभुशक्तेर्मूल'मित्युक्तं तदेव व्यनक्ति—

करप्रचेयामुत्तुङ्गः प्रभुशक्तिं प्रथीयसीम् ।
प्रज्ञाबलबृहन्मूलः फलत्युत्साहपादपः ॥ ८९ ॥

[सर्वङ्कषा] करेति । उत्तुङ्गो—महोन्नतः । प्रज्ञाबलं–मन्त्रशक्तिरेव बृहत्प्रधानं मूलं यस्य सः । उत्साह एव पादपः,–करेण–बलिना,

प्रचेयां—वर्धनीयां, हस्तग्राह्यां च । 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः । प्रथीयसीं—पृथुतराम् । 'र ऋतो हलादेः—इति रेफादेशः । प्रभुशक्तिं—तेजोविशेषम् । 'स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोशदण्डजम्' इत्यमरः । फलति । प्रसूते इत्यर्थः । 'फल निष्पत्तौ' । मन्त्रपूर्वक एवोत्साहः फलति । विपरीतस्तु छिन्नमूलो वृक्ष इव शुष्यतीति भावः । रूपकालङ्कारः ॥ ८९ ॥

[अन्वयः] उत्तुङ्गः प्रज्ञाबलबृहन्मूलः उत्साहपादपः करप्रचेयाम् प्रथीयसीम् प्रभुशक्तिं फलति ।

[विग्रहः] प्रज्ञाया बलं (प्रज्ञैव बलमिति वा) प्रज्ञाबलं, प्रज्ञाबलं एव बृहत् मूलं यस्यासौ प्रज्ञाबलबृहन्मूलः । अन्यत्र प्रज्ञाबले इव बृहत् मूलं यस्य सः । उत्साहः पादप इव उत्साहपादपः । अन्यत्र—उत्साह इव पादपः उत्साहपादपः । करेण प्रचेया करप्रचेया, ताम् । प्रभोः शक्तिः,—प्रभुशक्तिस्ताम् प्रभुशक्तिम् । अतिशयेन पृथ्वी प्रथीयसी, ताम् प्रथीयसीम् ।

[अर्थः] उत्तुङ्गः = महोन्नतः । प्रज्ञाबलबृहन्मूलः = मन्त्रशक्तिदृढप्रधानमूलः । मन्त्रशक्तिबद्धमूलः । उत्साहपादपः = उत्साहवृक्षः । करप्रचेयाम् = राजग्राह्यभागवर्द्धनीयाम् । बलिवर्द्धनीयाम् । हस्तग्राह्याञ्च । प्रथीयसीं = विपुलाम् । पृथुतराम् । प्रभुशक्तिं = प्रभावम् । फलति = प्रसूते ।

[भावार्थः] मन्त्रमूलो (विचारपूर्वकः) विक्रमपादपः—(उत्साहरूपो वृक्षः) प्रभुत्वं फलति विपरीतस्तु छिन्नमूलो वृक्ष इव शुष्यति । अतो विचार्योत्साहो विधेयो न सहसा ।

[कोशः] 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः । 'स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोशदण्डजम्' इत्यमरः । 'मूलं बुध्नोऽङ्घ्रिनामकः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] उत्तुङ्गेन प्रज्ञाबलबृहन्मूलेन उत्साहपादपेन करप्रचेया प्रथीयसी प्रभुशक्तिः फल्यते ।

[भाषाटीका] मन्त्र (विचार) रूपी जड जिसकी मजबूत है ऐसा उत्साह रूपी बढ़ा हुआ वृक्ष ही प्रभुता (सम्पत्ति) रूपी फल को देता है (सफल होता है) ॥ ८९ ॥

विमृश्यकारिणस्तु विश्वमपि विधेयं स्यादिति त्रयेणाह—

अनल्पत्वात्प्रधानत्वाद्वंशस्येवेतरे स्वराः।
विजिगीषोर्नृपतयः प्रयान्ति परिवारताम् ॥ ९० ॥

[सर्वङ्कषा] अनल्पत्वादिति। अनल्पत्वात्–प्रज्ञोत्साहाधिकत्वात्। अतएव प्रधानत्वात्–मण्डलाभिज्ञत्वात्। अन्यत्रानल्पत्वादुच्चैस्तरत्वात् प्रधानत्वान्नायकस्वरत्वाच्च। वंशस्य–वंशवाद्यस्वरस्य। इतरे स्वराः–वीणा-गानादिशब्दा इव। अथवा आश्रयत्वाद्वंश इव वंशः–तत्कालविहितः स्वर उच्यते। तस्य स्वरस्येतराः षड्जादयः विजिगीषोर्नृपतयोऽन्ये मण्ड-लपरिवर्तिनो राजानः। परिवारतां पोष्यतां प्रयान्ति। तत्कार्यमेव साध-यन्तीत्यर्थः। तस्माद्विमृश्य कर्तव्यमित्यर्थः ॥ ९० ॥

[अन्वयः] अनल्पत्वात् प्रधानत्वात् वंशस्य इतरे स्वरा इव विजिगीषोः नृपतयः परिवारताम् प्रयान्ति।

[विग्रहः] न अल्पः अनल्पः, अनल्पस्य भावः–अनल्पत्व, तस्मात्–।

[अर्थः] अनल्पत्वात् = प्रज्ञोत्साहाधिकत्वात्। मन्त्रशक्त्यु-त्साहशक्त्युपचितत्वात्। (स्वरपक्षे—) उच्चैस्तरत्वात्। तारतर-त्वाच्च। (किञ्च–) प्रधानत्वात् = मण्डलाधिष्ठातृत्वात्। राजमण्ड-लमुख्यत्वात्। (स्वरपक्षे—) नायकस्वरत्वाच्च। वंशस्य = वंशवा-द्यस्वरस्य। इतरे स्वरा इव = वीणागानादिशब्दा इव। वीणा-मृदङ्गादिशब्दा इव। (यद्वा–वंशस्य = तत्कालविहितस्वरस्य। इतरे स्वराः = षड्जमध्यमधैवतादयः स्वरा इत्यर्थः।) विजि-गीषोः = नेतुर्नृपतेः। नृपतयः = अन्ये माण्डलिका राजानः। परिवारतां = पोष्यताम्। अनुचरताम्। प्रयान्ति = गच्छन्ति। तत्कार्यमेव साधयन्तीत्यर्थः।

[भावार्थः] प्रज्ञोत्साहबलोपचितस्य प्रधानस्य विजिगीषो-रन्ये राजानः सहायका एव भवन्ति। प्रधानस्य हि स्वरस्यान्ये स्वराः परिवारतामेव यान्ति।

[कोशः] 'प्रधानं स्यान्महामात्ये प्रकृतौ परमात्मनि। प्रज्ञायामपि च क्लीबमेकत्वे तूत्तमे सदा' इति मेदिनी।

[वाच्यप०] अनल्पत्वात् प्रधानत्वाद्वंशस्य इतरैः स्वरैरिव विजिगीषोः इतरैर्नृपतिभिः—परिवारता प्रयायते।

[भाषाटीका] जो विजय चाहने वाला राजा उत्साह और मन्त्र (विचार) बल से बढ़ा हुआ तथा प्रधान होता है उसकी निकटवर्त्ती राजालोग सहायता करते हैं। और उसके अनुगत हो जाते हैं। जैसे तेज और ऊँचे वंशी के स्वर के वीणा आदि के स्वर अनुगत और सहायक होजाते हैं॥९०॥

अप्यनारभमाणस्य विभोरुत्पादिताः परैः।
व्रजन्ति गुणतामर्थाः शब्दा इव विहायसः॥ ९१॥

[सर्वङ्कषा] अपीति। किञ्च—अनारभमाणस्य—स्वयमकिञ्चित्कुर्वाणस्यापि। विभोः—प्रभोः, व्यापकस्य च। परैरन्यैर्नृपतिभिः, शङ्खभेर्यादिभिश्च। उत्पादिताः—सम्पादिताः, जनिताश्च। अर्थाः—प्रयोजनानि। विहायसः—आकाशस्य—शब्दा इव, गुणतां-विशेषणतां। कारणत्वाद्गुणत्वं व्रजन्ति। शक्तो हि राजा स्वयमुदासीन एवाकाशवत्स्वमहिम्नैव कार्यदेशं व्याप्नुवञ्शब्दानिव सर्वार्थानपि स्वकीयतां नयतीत्यर्थः। 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियाऽमुख्यतन्तुषु' इति वैजयन्ती॥ ९१॥

[अन्वयः] किञ्च—अनारभमाणस्यापि विभोः परैः उत्पादिताः अर्थाः-विहायसः शब्दा इव—गुणतां व्रजन्ति।

[विग्रहः] आरभते इति आरभमाणः, न आरभमाणः—अनारभमाणः, तस्य अनारभमाणस्य।

[अर्थः] (किञ्च—) अनारभमाणस्यापि = स्वयमकिञ्चित्कुर्वाणस्याऽपि। उदासीनवदवस्थितस्यापि। विभोः = प्रभोः। राज्ञः। गगनपक्षे—व्यापकस्य च। परैः = अन्यैर्नृपतिभिः। अन्यै राजभिः। गगनपक्षे—शङ्खमृदङ्गभेर्यादिभिश्च। उत्पादिताः = सम्पादिताः। गगनपक्षे—जनिताः, अभिव्यक्ताश्च।

अर्थाः = प्रयोजनानि । विहायसः = गगनस्य । शब्दा इव = ध्वनय इव । गुणतां = स्वताम् । विशेषणताम् । गुणभावम् । व्रजन्ति = गच्छन्ति ।

[भावार्थः] स्वयमकिञ्चित्कुर्वाणस्यापि विभोः परैरुत्पादिता अर्था गुणतां व्रजन्ति । यथाऽऽकाशस्य विभोरन्यैरुत्पादिताः शब्दा गुणा इत्युच्यन्ते । 'शब्दगुणकमाकाशम्' इति हि प्रसिद्धमेव ।

[कोशः] 'वियद्विष्णुपदं वा तु पुंस्याकाशविहायसी' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] अनारभमाणस्य विभोः परैः उत्पादितैः अर्थैः…… शब्दैरिव गुणता व्रज्यते ।

[भाषाटीका] स्वयं कुछ कार्य किए बिना भी दूसरों के किए हुए कार्य भी विभु (राजा) के कार्य कहलाते हैं । जैसे शङ्खभेरी आदि बाजों से उत्पन्न हुए भी शब्द विभु (व्यापक) होने से आकाश के ही गुण कहलाते हैं ॥९१॥

यातव्यपार्ष्णिग्राहादिमालायामधिकद्युतिः ।
एकार्थतन्तुप्रोतायां नायको नायकायते ॥ ९२ ॥

[सर्वङ्कषा] यातव्येति । किञ्च—एकार्थः– एकप्रयोजनः, स एव तन्तुः—सूत्रं, तत्र प्रोतायाम् । एकाभीष्टाभिलाषिण्यामित्यर्थः । प्रपूर्वाद्वेञः कर्मणि क्तः । 'वचिस्वपि—' इत्यादिना सम्प्रसारणम् । यातव्योऽभिषेणयितव्योऽरिः । पार्ष्णिं गृह्णातीति पार्ष्णिग्राहः—पृष्ठानुधावी । कर्मण्यण् । तावादी येषां ते पूर्वोक्ताः पङ्क्तिशः स्थितास्त एव माला रत्नमालिका तस्यामधिकद्युतिर्महातेजा नायकः शक्तिसम्पन्नो जिगीषुर्नायकायते मध्यमणिरिवाचरति । स्वयमेव सर्वोत्कर्षेण वर्तत इत्यर्थः । तस्माद्विमृश्य कर्तव्यमिति भावः । 'नायको नेतरि श्रेष्ठे हारमध्यमणावपि' इति विश्वः । 'उपमानादाचारे' इति क्यङ् । अकृत्सार्वधातुक—' इति दीर्घः । नायकायते इत्युपमा । अन्यथानुशासनविरोधात् । एकार्थतन्त्वित्यत्र तु रूपकमधिष्ठानतिरोधानेनारोप्यमाणतन्तुत्वस्यैवोद्भटत्वात्प्रोतत्वसिद्धेस्तदेव युक्तम् ।

तद्बलात्पार्ष्णिग्राहादिमालायामित्यत्रापि रूपकमेव। तदनुप्राणिता चेयमुपमेत्यङ्गाङ्गिभावेन तयोः सङ्करः ॥ ९२ ॥

[अन्वयः] एकार्थतन्तुप्रोतायाम् यातव्यपार्ष्णिग्राहादिमालायाम् अधिकद्युतिः नायकः नायकायते।

[विग्रहः] एकश्चासौ अर्थश्च एकार्थः, एकार्थ एव तन्तुः एकार्थतन्तुः। (अन्यत्र एकार्थ इव तन्तुः एकार्थतन्तुः।) एकार्थतन्तौ प्रोता एकार्थतन्तुप्रोता, तस्यां। यातव्यश्च पार्ष्णिग्राहश्च यातव्यपार्ष्णिग्राहौ, तौ आदौ येषाम् ते यातव्यपार्ष्णिग्राहादयः, ते एव माला यातव्यपार्ष्णिग्राहादिमाला, तस्याम्। अधिका द्युतिर्यस्यासौ अधिकद्युतिः।

[अर्थः] एकार्थतन्तुप्रोतायाम्=एकप्रयोजनरूपसूत्रग्रथितायाम्। एकप्रयोजनाभिलाषिण्याम्। यातव्यपार्ष्णिग्राहादिमालायां=शत्रुपृष्ठग्राहादिद्वादशराजरत्नमालायाम्। सपत्नादिराजपङ्क्त्याम्। शत्र्वादिद्वादशराजमण्डले। अधिकद्युतिः=महातेजाः। अतितेजस्वी। नायकः=शक्तिसम्पन्नो विजिगीषुः। नायकायते=मध्यमणिरिवाचरति। सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते। मालापक्षे—तरलायते। हारमध्यमणिरिवाचरति।

[भावार्थः] यातव्यपार्ष्णिग्राहादिराजमालायामेकार्थसूत्रग्रथितायामतितेजस्वी नायको (विजिगीषुः) नितरां विराजते। यथा हारादिषु मध्यस्थो मणिरधिकप्रकाशो विराजते तथा नायक इत्याशयः।

[कोषः] 'नायको नेतरि श्रेष्ठे हारमध्यमणावपि' इति विश्वः।

[वाच्यप०] अधिकद्युतिना नायकेन नायकाय्यते।

[भाषाटीका] यातव्य (जिस पर चढ़ाई की जाए—शत्रु) और पार्ष्णिग्राह—(पृष्ठ रक्षक) आदि १२ राजाओं की माला (पंक्ति) में नायक (विजिगीषु) राजा ही अति तेजस्वी होने के कारण अधिक शोभित होता है। माला में बीच के मणि को भी नायक कहते हैं, हार में वह सभी मणियों से अधिक मूल्य का और प्रकाशमान होता है ॥ ९२ ॥

अथ विमृश्यकरणप्रकारमाह—

षाड्गुण्यमुपयुञ्जीत शक्त्यपेक्षो रसायनम् ।
भवन्त्यस्यैवमङ्गानि स्थास्नूनि बलवन्ति च ॥९३॥

[सर्वङ्कषा] षाड्गुण्यमिति ॥ शक्तिं प्रभावादित्रयं, बलं चापेक्षते इति शक्त्यपेक्षः सन्। पचाद्यच्। 'शक्तिर्बले प्रभावादौ' इति विश्वः। षड्गुणा एव षाड्गुण्यं—सन्धिविग्रहादिषट्कम्। चातुर्वर्ण्यादित्वात्स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययः। तदेव रसायनमौषधविशेषमुपयुञ्जीत—सेवेत। 'रसायनं विहङ्गेऽपि जराव्याधिभिदौषधे' इति विश्वः। एवं सति—अस्य प्रयोक्तुरङ्गानि स्वाम्यादीनि। 'स्वामी जनपदोऽमात्यः कोशो दुर्गबलं सुहृत्। राज्यं सप्त-प्रकृत्यङ्गं नीतिज्ञाः सम्प्रचक्षते ॥' इति। गात्राणि च स्थास्नूनि—स्थिराणि। कालान्तरक्षमाणीत्यर्थः। 'ग्लाजिस्थश्च—' इति ग्स्नुः। बलवन्ति च परपीडाक्षमाणि च भवन्ति। श्लिष्टपरस्परितरूपकम् ॥ ९३ ॥

[अन्वयः] शक्त्यपेक्षः षाड्गुण्यं रसायनमुपयुञ्जीत। एवम् अस्य अङ्गानि स्थास्नूनि बलवन्ति च भवन्ति।

[विग्रहः] षड् च ते गुणाश्च षड्गुणाः, षाड्गुणा एव षाड्गुण्यम्, तत्। अन्यत्र षड् गुणाः यस्मिन् तत् षड्गुणम्, तदेव षाड्गुण्यम्, तत्। प्रशस्तं बलमस्त्येषां तानि बलवन्ति। स्थातुं शीलं येषां तानि—

[अर्थः] शक्त्यपेक्षः = प्रभावोत्साहमन्त्ररूपशक्तित्रयमपेक्ष-माणः सन्। रसायनपक्षे—बलमिच्छन् सन्। षाड्गुण्यं= सन्धिविग्रहादिगुणषट्कम्। रसायनपक्षे—षडगुणबलिजारि-तम्। षड्गुणगन्धकजारितम्। रसायनं=रसायनवदुपका-रकम्। पक्षे चन्द्रोदयादिरसायनौषधम्। उपयुञ्जीत=सेवेत। एवम्=एवं सति। अस्य=प्रयोक्तुर्विजिगीषोः। बलाभिला-षिणश्च। अङ्गानि=प्रकृत्याद्यङ्गानि। स्वाम्यमात्यादीन्यङ्गानि। शरीरावयवाश्च। स्थास्नूनि=स्थिराणि। कालान्तरक्षमाणि

आयाससहानि च। बलवन्ति च = सामर्थ्यवन्ति । परपीडाक्षमाणि। दृढानि च। भवन्ति = जायन्ते।

[भावार्थः] बलमिच्छन् राजा सन्ध्यादिषड्गुणानुपसेवेत। षाड्गुण्योपसेवनाच्च रसायनोपयोगवतः पुंस इव राज्ञः स्थिराणि बलवन्ति च राष्ट्राद्यङ्गानि भवन्ति।

[कोशः] 'शक्तिर्बले प्रभावादौ' इति विश्वः। 'रसायनं विहङ्गेऽपि जराव्याधिभिदौषधे' इति विश्वः।

[वाच्यप०] शक्त्यपेक्षेण षाड्गुण्यम् रसायनम् उपयुज्येत। एवमस्याङ्गैः स्थास्नुभिः बलवद्भिश्च भूयते।

[भाषाटीका] जो व्यक्ति शक्ति (प्रभाव आदि शक्ति या बल पौरुष) चाहे तो षड्गुण (सन्धि विग्रह आदि,) रूपी रसायन (या षड्गुणगन्धकजारित चन्द्रोदय आदि) का सेवन करे। इस प्रकार सेवन करनेवाले के अङ्ग दृढ़ और बलिष्ठ हो जाते हैं ॥ ९३ ॥

स्थाने शमवतां शक्त्या व्यायामे वृद्धिरङ्गिनाम् ।
अयथाबलमारम्भो निदानं क्षयसंपदः ॥ ९४ ॥

[सर्वङ्कषा] स्थाने इति। किञ्च—स्थाने—शक्यविषये, शमवतां—क्षमावतामङ्गिनां सप्ताङ्गिनां राज्ञां, शरीरिणां च। शक्त्या प्रभावाद्यनुसारेण, बलेन च। व्यायामे—व्यापारे, षाड्गुण्यप्रयोगे, गमनादौ च सतीत्यर्थः। वृद्धिरुपचयः। राज्यस्य, शरीरस्य चेति भावः। विपक्षे बाधकमाह—अयथाबलं—शक्त्यतिक्रमेण। 'यथासादृश्ये' इत्यव्ययीभावे नञ्समासः। आरम्भो—व्यायासः। क्षयसम्पदोऽत्यन्तहानेर्निदानमादिकारणम्। अङ्गानामिति भावः। तस्मादस्माकमकस्माच्चैद्यास्कन्दनमश्रेयस्करमिति भावः। अत्र विशेषणस्यापि श्लिष्टत्वाच्छब्दशक्तिमूलो वस्तुना वस्तुध्वनिः। अतो द्वयानामङ्गिनामौपम्यं च गम्यते इति सङ्क्षेपः ॥ ९४ ॥

[अन्वयः] स्थाने शमवतां अङ्गिनाम् शक्त्या व्यायामे वृद्धिः अयथाबलम् आरम्भः क्षयसम्पदः निदानम् (भवति)।

[विग्रहः] अङ्गानि सन्त्येषान्ते अङ्गिनः, तेषाम् अङ्गिनाम् बलमन-तिक्रम्य यथाबलम्, न यथाबलम्—अयथाबलम् । क्षयस्य सम्पत् क्षय-सम्पत्, तस्याः क्षयसम्पदः ।

[अर्थः] (किञ्च—) स्थाने = शक्यविषये । स्वशक्तिसाध्ये । (स्थाने इत्यव्ययं युक्तेऽर्थे इतिपक्षे—स्थाने=युक्तमित्यर्थः ।) शम-वतां = क्षमावताम् । अङ्गिनाम् = स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलाख्यसप्तराज्याङ्गवतां राज्ञाम् । शरीरिणाञ्च । शक्त्या = स्वप्रभावाद्यनुसारेण । स्वबलाद्यनुसारेण च । व्यायामे = व्यापारे । षाड्गुण्यप्रयोगे, शरीरयासे च सति । वृद्धिः = राज्यवृद्धिः । शरीरोपचयश्च । भवतीति शेषः । अयथाबलम् = शक्त्यतिक्रमेण । आरम्भः = व्यायामः, कार्यारम्भश्च । क्षयसम्पदः = अङ्गानामात्यन्तहानेः । क्षयरोगस्य । राज्याङ्गानां विनाशस्य च । निदा-नम् = आदिकारणम् । मुख्यकारणम् । तस्मात्सहसा चैद्याभियानं नोचिताम् ।

[भावार्थः] स्वशक्तिमनतिक्रम्य सहसा कार्यारम्भो, व्यव-सायश्च क्षयस्य निदानम् । तदविचार्य सहसा चैद्याभियानं नोचितम् ।

[कोशः] 'स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च । राज्याङ्गानि' इत्य-मरः । 'निदानं त्वादिकारणम्' इत्यमरः । 'युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] वृद्ध्या भूयते । निदानेन भूयते ।

[भाषाटीका] जो राजा या मनुष्य अपने बल के अनुसार कार्य व व्यायाम करता है, उसका बल तो बढ़ता है । पर अपनी शक्ति के बाहर साहस का कार्य करने से उलटा क्षय (क्षयरोग या हानि) ही होता है ॥९४॥

फलितमाह—

तदीशितारं चेदीनां भवांस्तमवमंस्त मा ।
निहन्त्यरीनेकपदे य उदात्तः स्वरानिव ॥ ९५ ॥

[सर्वङ्कषा] तदिति । तत्तस्मादशक्यार्थस्याकार्यत्वात्तं चेदीनामीशितारं शिशुपालं भवान्मावमंस्त—नावमन्यस्व । मन्यतेर्माङि लुङ् । अनुदात्तत्वान्नेडागमः । कुतो—यश्चैद्यः । उदात्तः स्वराननुदात्तानिवारीनेकपदे एकस्मिन्पदन्यासे, सुप्तिङन्तलक्षणे च । निहन्ति—हिनस्ति । नीचैः करोति च । अतिशूरत्वात् । 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' इति परिभाषाबलाच्चेति भावः ॥ ९५ ॥

[अन्वयः] तत् चेदीनामीशितारम् तम् भवान् मावमंस्त, य उदात्तः स्वरान इव अरीन् एकपदे निहन्ति ।

[विग्रहः] एकञ्च तत् पदञ्च एकपदं, तस्मिन्—एकपदे ।

[अर्थः] तत् = तस्मात् । सहसाऽशक्यार्थस्य कर्तुमयोग्यत्वात् । तं = प्रसिद्धम् । चेदीनां = चेदिदेशानाम् । ईशितारं = राजानम् । चैद्यम् । शिशुपालम् । भवान् = त्वम् । मावमंस्त = नैवमवमन्यस्व । यः = चैद्यः । उदात्तः = उदात्ताख्यः स्वरः । स्वरानिव = अनुदात्तादिस्वरानिव । अरीन् = शत्रून् । एकपदे = एकस्मिन्नेव पदन्यासे । एकस्मिन्नेवाक्रमणे । सुप्तिङन्तलक्षणे एकस्मिन् पदे च । निहन्ति = हिनस्ति । नीचैः करोति च । 'अनुदात्तं पदमेकवर्ज' मित्यनेन सूत्रेण यस्मिन्पदे उदात्तः स्वरितो वा विधीयते तमेकमचं वर्जयित्वा शेषं तत्पदमनुदात्ताच्कं स्यादित्यर्थकेन एकपदे उदात्तेन सर्वेषां निघातो भवतीति वैयाकरणनिकायप्रसिद्धम् ।

[भावार्थः] महाबली खलु स चैद्यो य एकपदे एव (झटिति) शत्रून्हिनस्ति ।

[कोशः] 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] तत् चेदीनामीशिता भवता मावमानि, येन उदात्तेन स्वरा इव एकपदेऽरयो निहन्यन्ते ।

[भाषाटीका] वह चैद्य बड़ा बली है, उसे आप छोटा न समझें, क्योंकि वह एक ही आक्रमण में शत्रुओं को वैसे ही नष्ट कर देता है जैसे

उदात्तस्वर एकपद में दूसरे स्वरों को नष्ट कर देता है ॥ ९५ ॥

न चायमेकाकी किं नः करिष्यतीति मन्तव्यमित्याह—

मा वेदि यदसावेको जेतव्यश्चेदिराडिति ।
राजयक्ष्मेव रोगाणां समूहः स महीभृताम् ॥ ९६ ॥

[सर्वङ्कषा] मा वेदीति । असौ चेदिराट् एकः एकाकी, अतो जेतव्यः—सुजय इति मावेदि—मा ज्ञायि । वेत्तेः कर्मणि माङि लुङ् । यद्यस्मात्स चेदिराट् । राज्ञश्चन्द्रस्य यक्ष्मा, राजा चासौ यक्ष्मेति वा राजयक्ष्मा—क्षयरोगो, रोगाणामिव महीभृतां समूहः—समष्टिरूपः । यथाह वाग्भटः—'अनेकरोगानुमतो बहुरोगपुरःसरः । राजयक्ष्मा क्षयः शोषो रोगराडिति च स्मृतः ॥ नक्षत्राणां द्विजानां च राज्ञोऽभूद्यदयं पुरा । यच्च राजा च यक्ष्मा च, राजयक्ष्मा ततो मतः' ॥ इति । अतो दुर्जेय इति भावः । एतेन 'चिरस्य मित्रव्यसनी सुदमो दमघोषजः' इति निरस्तम् ॥९६॥

[अन्वयः] असौ चेदिराट् एकः (अतो) जेतव्य इति मा वेदि । यत्स राजयक्ष्मा रोगाणाम् इव महीभृतां समूहः ।

[विग्रहः] राज्ञो यक्ष्मा, [राजा चासौ यक्ष्मा चेतिवा] राजयक्ष्मा ।

[अर्थः] असौ चेदिराट् = असौ शिशुपालः । एकः = एकाकी खल्वस्ति । (अतः—) जेतव्यः—अस्माभिः सुजयः । सुखेन जेतुं शक्यः । इति = इत्थम् । मावेदि = माज्ञायि । यत् = यस्मात् । सः = चेदिराट् । राजयक्ष्मा = क्षयरोगः । रोगाणामिव = आमयानामिव । महीभृतां = राज्ञाम् । समूहः = समष्टिरूपः । सङ्घरूप एव ।

[भावार्थः] राजयक्ष्मा रोगाणामिव महीभृतां स चैद्यः समूहरूपोऽतो नासौ सुखेन जेतुं शक्यः ।

[कोशः] ' रोगव्याधिगदामयाः ' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] अमुना चेदिराजा एकेन (अतो) जेतव्येन भूयते इति भवान्मा वेदीत् ।·········समूहेन भूयते ।

[भाषाटीका] जैसे राजयक्ष्मा रोगों का समूह ही होता है वैसे ही वह शिशुपाल भी राजाओं का समूह ही है, अतः उसे अनयास ही जीत लेना संभव नहीं है ॥ ९६ ॥

अथास्य सर्वराजसमष्टितामेव द्वाभ्यां व्याचष्टे—

सम्पादितफलस्तेन सपक्षः परभेदनः ।
कार्मुकेणेव गुणिना बाणः सन्धानमेष्यति ॥ ९७ ॥

[सर्वङ्कषा] सम्पादितेति । सम्पादितं फलं लाभो, बाणाग्रं च यस्य सः । 'फलं लाभशराग्रयोः' इति शाश्वतः । सपक्षः—ससुहृत्,कङ्कादि-पत्त्रयुतश्च । परेषां भेदकः—शत्रुविदाहरणः । बाणो—बाणासुरः, शरश्च । गुणिना—शौर्यादिगुणवता, अधिज्येन च । तेन—चैद्येन । कर्मणे प्रभवति कार्मुकम् । 'कर्मण उकञ्' । तेनैव सन्धानं—सन्धिमेष्यति । अतो नैकाकीति भावः । अत्राप्युपमा श्लेषो वा, मतभेदात् ॥ ९७ ॥

[अन्वयः] सम्पादितफलः सपक्षः परभेदनः बाणः गुणिना तेन कार्मुकेण इव सन्धानम् एष्यति ।

[विग्रहः] सम्पादितं फलं येन सः सम्पादितफलः । पक्षेण सहितः सपक्षः । परेषां भेदनः परभेदनः । गुणोऽस्त्यस्य गुणी, तेन—गुणिना ।

[अर्थः] सम्पादितफलः = लब्धलाभः । कृतकृत्यः । प्राप्तबाणाग्रभागश्च । सपक्षः = ससुहृत् । कङ्कादिपत्त्रयुतश्च । परभेदनः= परेषां = शत्रूणां—भेदनः = विदारणः । हन्ता । बाणः = बाणासुरः । शरश्च । गुणिना = शौर्यादिगुणशालिना । समौर्वीकेन च । तेन = चैद्येन । कार्मुकेणेव = धनुषेव । सन्धानं = सन्धिम् । प्रयोगञ्च । एष्यति = लप्स्यते । गमिष्यति । अतो नासौ चैद्य एकाकीति भावः ।

[भावार्थः] बाणो नामासुरः ससुहृद्बान्धवोऽस्य सहायोऽस्त्यतोऽसौ चैद्यो नितरां बलवान् ।

[कोशः] 'फलं लाभशराग्रयोः' इति शाश्वतः । 'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] सम्पादितफलेन सपक्षेण परभेदनेन बाणेन गुणिना तेन कार्मुकेणेव सन्धानम् एष्यते ।

[भाषाटीका] जैसे फल (बाण की नोक) से युक्त बाण गुणी (प्रत्यञ्चावाले) धनुष के साथ सन्धान को प्राप्त होता है, वैसे ही शिशुपाल द्वारा जिसको नाना रूपका लाभ हुआ है ऐसा वह बाणासुर गुणी शिशुपाल के साथ सन्धि कर लेगा । अर्थात् उसका सहायक हो जाएगा ॥ ९७ ॥

ये चान्ये कालयवनशाल्वरुक्मिद्रुमादयः ।
तमःस्वभावास्तेऽप्येनं प्रदोषमनुयायिनः ॥ ९८ ॥

[सर्वङ्कषा] ये चेति । ये चान्ये कालयवनशाल्वरुक्मिद्रुमादयो राजानस्तमःस्वभावास्तमोगुणात्मका, अतएव तेऽपि प्रदोषं—प्रकृष्टदोषम् । 'प्रदोषौ दुष्टरात्र्यंशौ' इति वैजयन्ती । तामसमेवैनं चैद्यमनुयायिनोऽनुयास्यन्ति । सादृश्यादिति भावः । 'भविष्यति गम्यादयः' इति णिनिर्भविष्यदर्थे । 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः' इति षष्ठीप्रतिषेधाद्द्वितीया । यथा ध्वान्तं रजनीमुखमनुयाति तद्वदिति वस्तुनाऽलङ्कारध्वनिः ॥ ९८ ॥

[अन्वयः] ये च अन्ये कालयवनशाल्वरुक्मिद्रुमादयः तमःस्वभावाः तेऽपि प्रदोषम् एनम् अनुयायिनः ।

[विग्रहः] कालयवनश्च शाल्वश्च रुक्मीच द्रुमश्च कालयवनशाल्वरुक्मिद्रुमाः, ते आदिर्येषाम् ते—कालयवनशाल्वरुक्मिद्रुमादयः । तमः स्वभावो येषां ते तमःस्वभावाः । प्रकृष्टो दोषो यस्ययत्र वा स प्रदोषः, तम् प्रदोषम् ।

[अर्थः] ये चान्ये = इतो भिन्नाः । कालयवनशाल्वरुक्मिद्रुमादयः = कालयवनादयो राजानः । तमःस्वभावाः = तमोगुणात्मकाः । रोषाविष्टाः । ईर्ष्याद्वेषक्रोधकलुषितस्वान्ताः । अन्धकारस्वभावाश्च । सन्तीति शेषः । तेऽपि—प्रदोषं=प्रकृष्टदोषम् । दुष्टस्वभावम् । तामसप्रकृतिञ्च । प्रदोषकालं च । एनं = शिशुपालम् । अनुयायिनः=अनुगन्तारः । अनुयास्यन्ति । सादृश्यादेवेति भावः ।

[भावार्थः] बाणासुरातिरिक्ताः कालयवनादयोऽपि दुष्टा-स्तमःप्रकृतयोऽन्धकारः प्रदोषमिव तमःप्रकृतिं दुष्टं चैद्यमेवानुगमिष्यन्ति ।

[कोशः] 'प्रदोषौ दुष्टरात्र्यंशौ' इति वैजयन्ती ।

[वाच्यप०] यैश्च......तैरपि प्रदोषः अयम् अनुयास्यते ।

[भाषाटीका] जैसे अन्धकार प्रदोष का अनुसरण करता है, वैसे ही तमः स्वभाववाले कालयवन आदि राजागण भी दुष्टस्वभाव इस शिशुपाल की ही सहायता करेंगे ॥ ९८ ॥

ननु बाणादयोऽस्माभिः कृतसन्धाना इदानीं न विराध्यन्तीत्यत आह—

उपजापः कृतस्तेन तानाकोपवतस्त्वयि ।
आशु दीपयिताल्पोऽपि साग्नीनेधानिवानिलः ॥९९॥

[सर्वङ्कषा] उपेति । तेन चैद्येन कृतोऽल्पोऽप्युपजापो भेदः । 'भेदोपजापौ' इत्यमरः । त्वय्याकोपवतस्तान्बाणादीन् । अनिलः साग्नीनेधानिन्धनानीव । 'काष्ठं दार्विन्धनं त्वेध इध्ममेधः समित्स्त्रियाम्' इत्यमरः । **आशु दीपयिता**—सद्यः प्रज्वलयिष्यति । दीपेर्ण्यन्ताल्लुट् । अन्तर्वैराः संहिता आपदि सति रन्ध्रे सद्यो विश्लिष्यन्तीति भावः ॥ ९९ ॥

[अन्वयः] तेन कृतः अल्पोऽपि उपजापः त्वयि आकोपवतः तान्—अनिलः साग्नीन् एधान इव—आशु दीपयिता ।

[विग्रहः] आसमन्तात् कोपः आकोपः, आकोपोऽस्त्येषामिति आकोपवन्तः, तान् आकोपवतः । अग्निना सहिता साग्नयः, तान् साग्नीन् ।

[अर्थः] तेन = चैद्येन । कृतः = विहितः । प्रयुक्तः । अल्पोऽपि = स्वल्पोऽपि । उपजापः = भेदप्रयोगः । त्वयि = भवति । आकोपवतः = ईषत्क्रुद्धान् । तान् = बाणकालयवनादीन् । अनिलः = मारुतः । साग्नीन् = वह्नियुक्तान् । एधानिव = काष्ठानीव । आशु = सत्वरम् । सद्यः । दीपयिता = प्रदीपयिष्यति । प्रज्वलयिष्यति ।

[भावार्थः] अन्तर्वैरेषु बाणादिषु स्वल्पोऽप्युपजापस्तत्कृतः साग्नीनेधानिव द्राग्गेण तानुद्दीपयिष्यति।

[कोशः] 'समौ भेदोपजापौ' इत्यमरः। 'काष्ठं दार्विन्धनत्वेध इध्ममेधः समित्स्त्रियाम्' इत्यमरः।

[वाच्यप०] तेन कृतेन अल्पेनापि उपजापेन त्वयि आकोपवन्तस्ते साग्नयः एधाः अनिलेनेव आशु दीपयितारः।

[भाषाटीका] जैसे अग्नियुक्त काठ को हवा प्रज्वलित कर देती है वैसे ही आपके प्रति जिनके मनों में पहिले से ही द्वेष है ऐसे इन बाणासुर आदि राजाओं को थोड़े से प्रयत्न से ही शिशुपाल आपके विरुद्ध उभाड़ सकेगा॥ ९९॥

ततः किमत आह—

बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति।
संभूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा॥१००॥

[सर्वङ्कषा] बृहदिति। बृहत्सहायो महासहायवान्क्षोदीयान्क्षुद्रतरोऽपि। 'स्थूलदूर—' इत्यादिना यणादिपरलोपः, पूर्वगुणश्च। कार्यस्यान्तं पारं गच्छति। तथाहि—अपां समूह आपम्। 'तस्य समूहः' इत्यण्। तेन गच्छतीत्यापगा, नगापगा—गिरिनदी। महानद्या—गङ्गादिकया। संभूय—मिलित्वाम्भोधिमभ्येति। क्षुद्रोऽप्येवं तादृक्, महावीरश्चैद्यस्तु किमु वक्तव्य इत्यपिशब्दार्थः। विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः॥ १००॥

[अन्वयः] बृहत्सहायः क्षोदीयानपि कार्यान्तं गच्छति। नगापगाः महानद्या सम्भूय अम्भोधिम् अभ्येति।

[विग्रहः] बृहत्सहायो यस्य स बृहत्सहायः। कार्यस्य अन्तः कार्यान्तः, तम् कार्यान्तम्। अतिशयेन क्षुद्रः क्षोदीयान्। अपां समूहः आपम्, आपेन गच्छति इति आपगा, नगस्य आपगा—नगापगा।

[अर्थः] बृहत्सहायः = महासहायवान्। सहायबलोपेतः।

क्षोदीयानपि = क्षुद्रतरोऽपि । कार्यान्तं = कार्यस्य कर्मणः पारम्—अन्तम्—सिद्धिम् । गच्छति = प्रयाति । लभते । (तथाहि-) नगापगा = गिरिनदी । महानद्या = सागरगामिन्या बृहत्या स्रवन्त्या गङ्गादिकया । सम्भूय = मिलित्वा । अम्भोधिं = सागरम् । अभ्येति = गच्छति ।

[भावार्थः] निर्बलोऽपि सहायबलोपेतः कार्यसिद्धिं गच्छति । गङ्गादिभिर्नदीभिर्मिलित्वा क्षुद्रा गिरिनद्यपि सागरमभ्येति । क्षुद्रोऽप्येवं कार्यं साधयति तर्हि बलिनो युद्धदुर्मदस्य चैद्यस्य बलवत्त्वं तु किमु वक्तव्यम् ' ।

[कोशः] 'शैलवृक्षौ नगावगौ' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] बृहत्सहायेन क्षोदीयसापि कार्यान्तः गम्यते । नगापगया महानद्या सम्भूय अम्भोधिः अभीयते ।

[भाषाटीका] निर्बल व क्षुद्र लोग भी बड़ों की सहायता से अपना कार्य साध लेते हैं । देखो पहाड़ी छोटी नदी भी बड़ी २ नदियों से मिलकर समुद्र तक पहुँच जाती है । वह चैद्य तो स्वयं बली है, फिर मित्रों की सहायता पाने पर तो उसका कहना ही क्या है ? ॥ १०० ॥

किञ्च न केवलं शत्रोरसाध्यत्वं, मित्रविरोधश्चाधिकोऽनर्थकर इत्याह—

तस्य मित्राण्यमित्रास्ते ये च ये चोभये नृपाः ।
अभियुक्तं त्वयैनं ते गन्तारस्त्वामतः परे ॥ १०१ ॥

[सर्वङ्कषा] तस्येत्यादिद्वयेन ॥ ये च तस्य चैद्यस्य मित्राणि नृपाः, ये च ते तवामित्रा नृपास्त उभये त्वयाभियुक्तमभियातमेनं चैद्यं गन्तारो गमिष्यन्ति । गमेः कर्तरि लुट् । अतः परे—उक्तोभयव्यतिरिक्ताः, तव मित्राणि तस्याऽमित्राश्चेत्यर्थः त्वां गन्तारः ॥ १०१ ॥

[अन्वयः] ये च तस्य मित्राणि नृपाः ये च ते अमित्राः (नृपाः), ते उभये (नृपाः) त्वया अभियुक्तम् एनम् गन्तारः । अतः परे त्वाम् (गन्तारः ।)

[विग्रहः] न मित्राणि अमित्राः ।

[अर्थः] ये च = ये वै । तस्य = चैद्यस्य । मित्राणि नृपाः = सुहृदो राजानः । ये च = ये वै । ते = तव । अमित्राः नृपाः = शत्रवो राजानः । उभये = द्वये । ते = राजानः । त्वया = भवता । अभियुक्तम् = अभियातम् । एनं = चैद्यम् । गन्तारः = अनुगमिष्यन्ति । अतः = एभ्यः । परे = भिन्नाः । उक्तोभयविधनृपभिन्नाः । तव मित्राणि तस्यामित्राश्च । त्वाम् = भवन्तम् । (गन्तारः = अनुगमिष्यन्ति ।)

[भावार्थः] ततश्च त्वच्छत्रवश्चैद्यसुहृदश्च चैद्यमनुगमिष्यन्ति, चैद्यशत्रवस्त्वत्सुहृदश्च त्वत्पक्षमेष्यन्ति ।

[कोशः] 'द्विड्विपक्षाऽहिताऽमित्रदस्युशात्रवशत्रवः' इत्यमरः । 'अथ मित्रं सखा सुहृत्' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] ये च......तैः उभयैः नृपैः त्वया अभियुक्तः अयम् गन्ता । अतः परैः त्वम् गन्तासे ।

[भाषाटीका] जो शिशुपाल के मित्र हैं और जो तुमारे शत्रु हैं वे सब शिशुपाल की सहायता करेंगे । और जो शिशुपाल के शत्रु या तुम्हारे मित्र हैं वे तुमारी सहायता करेंगे ॥ १०१ ॥

ततः किमत आह—

मखविघ्नाय सकलमित्थमुत्थाप्य राजकम् ।
हन्त ! जातमजातारेः प्रथमेन त्वयारिणा ॥ १०२ ॥

[सर्वङ्कषा] मखेति । इत्थमनेन प्रकारेण । 'इदमस्थमुः' इति थमुप्रत्ययः । मखविघ्नाय—मखविघाताय । सकलं राजकं—राजसमूहम् । 'गोत्रोक्ष–' इत्यादिना वुञ् । उत्थाप्य—क्षोभयित्वा । हन्त इति खेदे । अजातारेः—अजातशत्रोर्युधिष्ठिरस्य । त्वया प्रथमेनारिणा जातमजनि । 'नपुंसके भावे क्तः' ॥ १०२ ॥

[अन्वयः] इत्थं मखविघ्नाय सकलं राजकम् उत्थाप्य

हन्त ! अजातारेः प्रथमेन त्वया अरिणा जातम् ।

[विग्रहः] मखस्य विघ्नः, मखविघ्नः, तस्मै मखविघ्नाय । राज्ञां समूहो राजकम्, तत् । न जातः अरिर्यस्य स अजातारिः, तस्य अजातारेः ।

[अर्थः] इत्थम्=अनेन प्रकारेण । मखविघ्नाय=यज्ञविघ्नाय । क्रतुप्रत्यूहाय । यज्ञविघाताय । सकल=सम्पूर्णम् । राजकं = राजसमूहम् । उत्थाप्य = क्षोभयित्वा । हन्त—इति खेदे । अजातारेः = अजातशत्रोर्युधिष्ठिरस्य । त्वया = भवतैव । प्रथमेन = एकेन । मुख्येन । अरिणा = शत्रुणा । जातम् = अजनि ।

[भावार्थः] इत्थं यज्ञसमये युद्धमुपस्थापयन् यज्ञं विनिघ्नन् सकलं राजमण्डलं क्षोभयंश्च त्वमेव सम्प्रति तस्य युधिष्ठिरस्य शत्रुर्जातः ।

[कोशः] 'हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] मखविघ्नाय······सकलं राजकमुत्थाप्य प्रथमः त्वम् अरिः अजनि ।

[भाषाटीका] इस प्रकार यज्ञ के समय सब राजाओं में क्षोभ (हलचल) पैदा कर यज्ञ को बिगाड़ने वाले आप ही एक युधिष्ठिर के सब से बड़े शत्रु कहलावेंगे ॥ १०२ ॥

अस्तु सोऽपि शत्रुः, को दोषस्तत्राह—

सम्भाव्य त्वामतिभरक्षमस्कधं स बान्धवः ।
सहायमध्वरधुरां धर्मराजो विवक्षते ॥ १०३ ॥

[सर्वङ्कषा] सभाव्येति । बन्धुरेव बान्धवः । स–धर्मराजः । अतिभरस्य क्षमः स्कन्धो यस्य स तम् । समानस्कन्धमित्यर्थः । त्वां सहायं सम्भाव्य–अभिसन्धाय । अध्वरस्य धुरमध्वरधुराम् । 'ऋक्पूर—' इत्यादिना समासान्तोऽप्रत्ययः । समासान्तानां प्रकृतिलिङ्गत्वात्तत्पुरुषे परवल्लिङ्गत्वे टाप् । विवक्षते–वोढुमिच्छति । वहतेः स्वरितेतः सन्नन्ताल्लट् । तथाहि–

विरोधे विश्वासघातो, बन्धुद्रोहश्च स्यातामिति भावः। विशेषणसाम्या-त्प्रस्तुतयागधर्मप्रतीतेः समासोक्तिः ॥ १०३ ॥

[अन्वयः] बान्धवः स धर्मराजः अतिभरक्षमस्कन्धं त्वाम् सहायम् सम्भाव्य अध्वरधुराम् विवक्षते ।

[विग्रहः] अतिशयितो भरः, अतिभरः, तस्य क्षमः स्कन्धो यस्य स अतिभरक्षमस्कन्धः, तम् । अध्वरस्य धूः—अध्वरधुरा, ताम् अध्वर-धुराम् । वोढुमिच्छति विवक्षते ।

[अर्थः] बान्धवः = सुहृत् । बन्धुः सः = लोकविदितः । धर्मराजः = युधिष्ठिरः । अतिभरक्षमस्कन्धं = महाभारवहन-क्षमस्कन्धप्रदेशम् । स्वसमानस्कन्धम् । त्वां = भवन्तम् । सहायं = सहकारिणम् । रक्षकम् । साहाय्यक्षमम् । सम्भाव्य = अभिसन्धाय । विचार्य । अध्वरधुरां = यज्ञधुराम् । यज्ञभारम् । विवक्षते=वोढुमिच्छति ।

[भावार्थः] धर्मराजस्त्वां सहायकमभिसन्धायैव यज्ञभारं वोढुमिच्छति । भवांश्च तस्य यज्ञे विघ्नमाचरितुं युद्धाय सन्न-ह्यति, तन्न युक्तम् ।

[कोषः] 'यज्ञः सवोऽध्वरो योगः सप्ततन्तुर्मखः क्रतुः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] बान्धवेन धर्मराजेन······अध्वरधुरा विवक्ष्यते ।

[भाषाटीका] वह युधिष्ठिर आपको सब तरह समर्थ सहायक समझ कर ही इस यज्ञ के भार को उठाना चाहता है। और आप उसके यज्ञ में विघ्न करना चाहते हैं—यह ठीक नहीं है ॥ १०३ ॥

ननु प्रतिश्रुत्याऽकरणे दोषः प्रागेव, परिहारे तु को दोष इत्यत आह—

महात्मानोऽनुगृह्णन्ति भजमानान्रिपूनपि ।
सपत्नीः प्रापयन्त्यब्धिं सिन्धवो नगनिम्नगाः ॥१०४॥

[सर्वङ्कषा] महात्मान इति । महात्मानो निग्रहानुग्रहसमर्थाः, भजमानाञ्शरणागतान् । रिपूनप्यनुगृह्णन्ति । किमुत बन्धूनिति भावः।

अर्थान्तरं न्यस्यति—सिन्धवो महानद्यः । समान एकः पतिर्यासां ताः सपत्नीः । 'नित्यं सपत्न्यादिषु' इति ङीप् नकारश्च । नगनिम्नगाः । गिरिनिर्झरिणीरब्धिं प्रापयन्ति । स्वसौभाग्यं ताभ्यः प्रयच्छन्तीति भावः । अतः परिहारोऽप्यनर्थ इति भावः ॥ १०४ ॥

[अन्वयः] महात्मानः भजमानान् रिपून् अपि अनुगृह्णन्ति । सिन्धवः—सपत्नीः नगनिम्नगाः अब्धिं प्रापयन्ति ।

[विग्रहः] महान् आत्मा येषाम् ते महात्मानः । निम्नं गच्छन्ति इति निम्नगाः । नगानां निम्नगाः नगनिम्नगाः, ताः—नगनिम्नगाः । समानः पतिर्यासां ताः सपत्न्यः, ताः सपत्नीः ।

[अर्थः] महात्मानः = सज्जनाः । निग्रहानुग्रहसमर्थाः । प्रभवः । भजमानान् = शरणागतान् । रिपूनपि = शत्रूनपि । अनुगृह्णन्ति = उपकुर्वन्ति । तेषु दयां कुर्वन्ति । किमुत बन्धूनिति भावः । तथाहि—सिन्धवः = महानद्यः । सपत्नीः = एकपत्नीः । नगनिम्नगाः = गिरिनदीः । अब्धिं = सागरम् । नदीपतिम् । स्वभर्त्तारमपि । प्रापयन्ति = गमयन्ति । स्वसौभाग्यमपि स्वसपत्नीभ्यः शरणागताभ्यः प्रयच्छन्तीत्यर्थः ।

[भावार्थः] महात्मानः शत्रूनपि शरणागताननुगृह्णन्ति किंपुनर्बन्धून् । तथा हि सिन्धवः–क्षुद्राः पर्वतनदीरपि शरणागताः सागरेण स्वभर्त्रा सह योजयन्ति, स्वसौभाग्यंच ताभ्यो यच्छन्ति ।

[कोशः] 'सिन्धुर्वमथुदेशाब्धिनदीशे सरिति स्त्रियाम्' इति विश्वः ।

[वाच्यप०] महात्मभिः भजनाना रिपवोपि अनुगृह्यन्ते । सिन्धुभिः सपत्न्यः नगनिम्नगाः अब्धिम्प्राप्यन्ते ।

[भाषाटीका] बड़े लोग शरण में आए हुए शत्रु पर भी दया करते हैं । देखो गङ्गा आदि बड़ी नदियाँ अपनी सपत्नी पहाड़ी नदियों को भी समुद्र तक पहुँचा देती हैं । (समुद्र–पति, नदियाँ—समुद्रपत्नी । अतः सभी नदियां परस्पर में सपत्नी—सौत—हुईं ।) ॥ १०४ ॥

तर्हि सम्प्रत्युपेक्षायामपि पश्चात्प्रार्थनयापार्थमार्जवयेयमित्यत आह—

चिरादपि बलात्कारो बलिनः सिद्धयेऽरिपु।
छन्दानुवृत्तिदुःसाध्याः सुहृदो विमनीकृताः ॥ १०५ ॥

[सर्वङ्कषा] चिरादिति। बलिनः स्वयं बलवतोऽप्यरिषु विषये। बलात्कारो दण्डश्चिराच्चिरकालेनापि। सद्यो मा भूदिति भावः। सिद्धये वशंवदत्वसिद्धये। 'भवती'ति शेषः। अविमनसो विमनसः सम्पद्यमानाः कृता विमनीकृताः। वैमनस्यं प्रापिता इत्यर्थः। 'अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसां लोपश्च' इति च्विप्रत्यय (स) लोपौ। 'अस्य च्वौ' इतीकारः। शोभनं हृदयं येषां ते सुहृदो मित्राणि तु। 'सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः' इति निपातः। छन्दस्य–अभिप्रायस्यानुवृत्त्या—चित्तानुरोधेनापि। दुःसाध्याः। आर्जवयितुमशक्या इत्यर्थः। 'अभिप्रायश्छन्द आशयः' इत्यमरः। शनैः शत्रुर्दण्डेनापि वशो भवति, मित्रं वैमनस्ये न साम्नाऽपीति भावः॥ १०५॥

[अन्वयः] बलिनः अरिषु बलात्कारः चिरादपि सिद्धये (भवति) (किन्तु) विमनीकृताः सुहृदः छन्दानुवृत्तिदुःसाध्याः।

[विग्रहः] न विमनसः अविमनसः, अविमनसः विमनसः सम्पद्यमानाः कृताः विमनीकृताः। छन्दस्य अनुवृत्तिः छन्दानुवृत्तिः, छन्दानुवृत्त्या-दुःसाध्याः—छन्दानुवृत्तिदुःसाध्याः।

[अर्थः] बलिनः = स्वयं बलवतोऽपि। बलिष्ठस्यापि। अरिषु = शत्रुषु विषये। बलात्कारः = बलप्रयोगः। दण्डः। दण्डप्रयोगः। चिरादपि = चिरेणापि। विलम्बेनापि कृतः। सिद्धये= वशवदत्वसिद्धये। अनुगतत्वसिद्धये। विजयाय च। 'भवती'-ति शेषः। विमनीकृताः = वैमनस्यं प्रापिताः। विरोधिताः। विरोधं प्रापिताः। सुहृदः = मित्राणि तु। छन्दानुवृत्तिदुःसाध्याः = अभिप्रायानुवृत्त्याऽपि दुःसाध्याः। मुहुःप्रार्थनादिनाऽपि प्रसादयितुमशक्याः। 'भवन्ती' ति शेषः।

[भावार्थः] शत्रुस्तु पश्चादपि युद्धेन जेतुं शक्यः, परं

सुहृदो विमनीकृताः पुनः केनाप्युपायेन प्रसादयितुं न शक्याः।

[कोशः] 'अभिप्रायश्छन्द आशयः' इत्यमरः।

[वाच्यप०] बलात्कारेण सिद्धये भूयते। सुहृद्भिः...दुःसाध्यैर्भूयते।

[भाषाटीका] शत्रु पर तो जब चाहे तभी (विलम्ब से भी) चढ़ाई करने में भी हमारी विजय ही है, पर यदि मित्र नाराज हो जायँगे (रुष्ट जायँगे) तो हजार उपाय से (खुशामद से) भी प्रसन्न नहीं हो सकते॥ १०५॥

ननु सुहृत्कार्यात्सुरकार्यं बलीय इत्यत्राह—

मन्यसेऽरिवधः श्रेयान्प्रीतये नाकिनामिति।

पुरोडाशभुजामिष्टमिष्टं कर्तुमलन्तराम्॥ १०६॥

[सर्वङ्कषा] मन्यस इति। नाकिनां देवानां प्रीतयेऽरिवधः श्रेयान्प्रशस्ततरः। 'प्रशस्यस्य श्रः' इति श्रादेशः। इति मन्यसे चेत्तर्हि पुरोडाशभुजां—हविर्भोजिनाम्। अतएव नाकिनामिष्टमभीप्सितं कर्तुम्। इषेः कर्मणि क्तः। इष्टं—इष्टिः। याग इति यावत्। यजेर्भावे क्तः। 'वचिस्वपि' इत्यादिना सम्प्रसारणम्। अलन्तराम्—अतिपर्याप्तम्। अव्ययादामुप्रत्ययः। शत्रुवधादतिप्रियकरो याग एव नाकिनाम्। भुक्त्वापि शत्रुवधस्य सुकरत्वादिति भावः॥ १०६॥

[अन्वयः] नाकिनाम्प्रीतये अरिवधः श्रेयान् इति मन्यसे चेत् पुरोडाशभुजाम् इष्टं कर्तुम् अलन्तराम्।

[विग्रहः] पुरोडाशान् भुञ्जते इति पुरोडाशभुजस्तेषाम् पुरोडाश-भुजाम्। अरीणां वधः अरिवधः।

[अर्थः] नाकिनां = देवानाम्। प्रीतये = हर्षाय। प्रसत्तये। अरिवधः = शत्रुवधः। श्रेयान् = प्रशस्ततरः। इति = इत्येवम्। मन्यसे चेत् = अवगच्छसि चेत्। (तर्हि—) पुरोडाशभुजां = हविर्भुजाम्। (अतएव—) इष्टं = नाकिनामभिमतम्। देवाना-मिष्टम्। कर्तुं = विधातुम्। इष्टं = यज्ञम्। यजनम्। अल-न्तराम् = अतिपर्याप्तम्। नितरामुचितम्। शत्रुवधापेक्षयाऽपि

देवानां यज्ञेनैवातिप्रीतिर्भुक्त्वापि शत्रुवधस्य कर्तुं शक्यत्वादिति भावः ।

[भावार्थः] देवानां प्रीतये शत्रुवधं चिकीर्षसीति चेत्ततोऽप्यधिका देवानां प्रीतिर्यागेनैवभवतीति युधिष्ठिरस्य यज्ञे एव साहाय्यं कर्तुमर्हसि ।

[कोशः] 'इष्टं यागादिकर्म यत्' इत्यमरः । 'अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्' इत्यमरः । 'पुरोडाशो हविर्भेदे चमस्यां पिष्टकस्य च । रसे सोमलतायाश्च हुतशेषे च कीर्त्तितः' इति विश्वः ।

[वाच्यप०] नाकिनाम् प्रीतये अरिवधः श्रेयान् इति त्वया मन्यते चेत् इष्टेन—इष्टेन अलन्तरां भूयते ।

[भाषाटीका] यदि शत्रुओं के मारने से (पृथ्वी के भार के हटने से) देवता प्रसन्न होंगे, यह आप समझते हैं तो देवताओं को शत्रुवधापेक्षया यज्ञ और भी अधिक प्रिय है, अतः यज्ञ में ही सहायता कीजिए ॥ १०६ ॥

तथाप्यमृताशिनां तेषां देवानां किमेभिः पिष्टभक्षणप्रलोभनैरत आह—

अमृतं नाम यत्सन्तो मन्त्रजिह्वेषु जुह्वति ।
शोभैव मन्दरक्षुब्धक्षुभिताम्भोधिवर्णना ॥१०७ ॥

[सर्वङ्कषा] अमृतमिति । अमृतं नाम सन्तो विद्वांसः । मन्त्रा एव जिह्वा येषां तेषु मन्त्रजिह्वेष्वग्निषु । 'मन्त्रजिह्वः सप्तजिह्वः सुजिह्वो हव्यवाहनः' इति वैजयन्ती । यत्पुरोडाशादिकं जुह्वति । तदेवेति शेषः । यत्तदोर्नित्यसंबन्धात् । मन्दर एव क्षुब्धो—मन्थनदण्डः । 'क्षुब्धध्वान्त–' इत्यादिनास्मिन्नर्थे निपातनात् सिद्धम् । तेन क्षुभितस्य—मथितस्याम्भोधेर्वर्णना शोभैवालङ्कार एव । अब्धिमन्थनेनामृतमुत्पादितमिति यतः कीर्तिमात्रमतो हुतमेवामृतमिति भावः । वाक्यार्थयोर्हेतुहेतुमद्भावाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कार ॥ १०७ ॥

[अन्वयः] अमृतं नाम सन्तः मन्त्रजिह्वेषु यत् जुह्वति (तत्) । मन्दरक्षुब्धक्षुभिताम्भोधिवर्णना शोभैव ।

[विग्रहः] मन्त्रा एव जिह्वा येषां ते मन्त्रजिह्वाः, तेषु मन्त्रजिह्वेषु । मन्दर एव क्षुब्धः मन्दरक्षुब्धः, तेन क्षुभितश्चासौ अम्भोधिश्च मन्दरक्षुब्धक्षुभिताम्भोधिः, तस्य वर्णना—मन्दरक्षुब्धक्षुभिताम्भोधिवर्णना ।

[अर्थः] अमृतं नाम = पीयूषं हि । सन्तः = विद्वांसः । मन्त्रजिह्वेषु = अग्निषु । यत् = पुरोडाशादिकम् । जुह्वति= प्रक्षिपन्ति । 'तदेवे'ति शेषः । मन्दरक्षुब्धक्षुभिताम्भोधिवर्णना= मन्दराद्रिरूपमन्थनदण्डमथितसमुद्रवर्णनम् । मन्दरमथितात्समुद्रादमृतोत्पत्तिरिति पौराणिककथनन्तु । शोभैव=अलङ्कार एव । कीर्तिमात्रमेव । अर्थवाद एव ।

[भावार्थः] मन्त्रैरग्निषु वेदबोधितविधिना प्रक्षिप्तं पुरोडाशादिकं हविरेव अमृतं, तदेव च देवानां भोजनम् । पुराणादौ मन्दरमथितसमुद्रादमृतोत्पत्तिप्रतिपादनन्तु प्ररोचनामात्रम् ।

[कोशः] 'पीयूषममृतं सुधा' इत्यमरः । 'मन्त्रजिह्वः सप्तजिह्वः सुजिह्वो हव्यवाहनः' इति वैजयन्ती ।

[वाच्यप०] सद्भिः मन्त्रजिह्वेषु यत् हूयते तदमृतं नाम । शोभया भूयते ।

[भाषाटीका] विद्वान् लोग विधिपूर्वक जो हवि (पुरोडाश आदि) अग्नि में हवन करते हैं वही अमृत है । 'मन्दराचलरूपी दण्ड से मथित समुद्र से अमृत निकला है' यह पुराणों में जो लिखा है वह तो केवल प्रशंसा (कथा) मात्र है ॥ १०७ ॥

यात्रायाः प्रतिबन्धः कश्चिद्दुस्तरस्तवास्तीत्याह—

'सहिष्ये शतमागांसि सूनोस्त' इति यत्त्वया ।
प्रतीक्ष्यं तत्प्रतीक्ष्यायै पितृष्वस्रे प्रतिश्रुतम् ॥१०८॥

[सर्वङ्कषा] सहिष्य इति । प्रतीक्ष्यायै—पूज्यायै । 'पूज्यः प्रतीक्ष्यः' इत्यमरः । पितृष्वस्रे—पितृभगिन्यै । 'विभाषा स्वसृपत्योः' इति विकल्पादलुगभावः । 'मातृपितृभ्यां स्वसा' इति षत्वम् । ते तव सूनोः शतमागांसि—अपराधान् । 'आगोऽपराधो मन्तुश्च' इत्यमरः ।'

सहिष्ये—सोढाहे । इति यत्त्वया प्रतिश्रुतं–प्रतिज्ञातं । तत्प्रतीक्ष्यं—प्रतिपालनीयम् । अन्यथा महादोषस्मरणादिति भावः ॥ १०८ ॥

[अन्वयः] प्रतीक्ष्यायै पितृष्वस्रे 'ते सूनोः शतं आगांसि सहिष्ये' इति यत्त्वया प्रतिश्रुतम् तत् प्रतीक्ष्यम् ।

[विग्रहः] प्रतीक्ष्यते इति प्रतीक्ष्या, तस्यै ।

[अर्थः] प्रतीक्ष्यायै = पूज्यायै । मान्यायै । पितृष्वस्रे= पितृभगिन्यै । शिशुपालजनन्यै । सात्वत्यै 'ते=तव । सूनोः=सुतस्य । चैद्यस्य । शतमागांसि = शतसङ्ख्यकानपराधान् । सहिष्ये= सोढाहे । क्षमिष्ये' । इति = इत्थं । यत् = यद्धि वरदानम् । प्रतिश्रुतं = त्वया दत्तम् । प्रतिज्ञातम् । तत् = वरदानम् । प्रतीक्ष्यं=प्रतिपालनीयम् । रक्षणीयम् ।

[भावार्थः] भवता पूज्यतमायै शिशुपालजनन्यै सात्वत्यै 'तव पुत्रस्य शतमपराधान् सहिष्ये' इति यत्प्रतिज्ञातं तदपि भवता परिपालनीयमेव सर्वथा । तन्नायमभियानस्यावसरः । अपराधानां शतस्याऽद्याप्यपूरणात् ।

[कोशः] 'आगोऽपराधो मन्तुश्च' इत्यमरः । 'पूज्यः प्रतीक्ष्यः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] 'ते सूनोः शतमागांसि सहिष्ये' इति त्वम् प्रतिश्रुतवान् तदपि प्रतीक्षेथाः ।

[भाषाटीका] अपनी पूज्य पितृष्वसा ('फूवा' 'भूवा') को आपने जो यह वचन दिया था कि—'तेरे पुत्र शिशुपाल के सौ १०० अपराध मैं सहन करूंगा—माफ कर दूंगा । ज्यादा नहीं' । वह वचन (वरदान) भी तो आपको पालना चाहिए ॥ १०८ ॥

सत्यमस्ति प्रतिश्रुतं, किंत्वस्योन्मत्तत्वादौद्धत्यात्तदपि जिहासितमत आह—

तीक्ष्णा नारुन्तुदा बुद्धिः कर्म शान्तं प्रतापवत् ।
नोपतापि मनःसोष्म वागेका वाग्मिनः सतः ॥१०९॥

[सर्वङ्कषा] तीक्ष्णेति । सतः—सत्पुरुषस्य । बुद्धिस्तीक्ष्णा–निशिता । 'स्यादिति विद्धी' त्यध्याहारः । एवमुत्तरत्रापि । तथाप्यरुस्तुदतीत्यरुन्तुदा शस्त्रवन्मर्मच्छेदिनी न भवेत् । अहिंसयैव परं पीडयेदित्यर्थः । कर्म–व्यापारः । प्रतापवत्तेजस्वि भयदं स्यात्, तथापि शान्तं स्यात् । न तु सिंहादिवद्धिंस्रं भवेदित्यर्थः । मनश्चित्तं । सोष्म–अभिमानोष्णं स्यात्तथापि उपतापयतीत्युपतापि । अग्न्यादिवत्परसन्तापि न स्यात् । वाग्मिनो वक्तुर्वागेका–एकरूपा स्यात् । वाग्मी सत्यमेव वदेदित्यर्थः । अतः सत्यसन्धस्य प्रतिश्रुतार्थहानिरनर्हेति भावः । अत्र प्रकृताया वाचोऽप्रकृतानां बुद्धिकर्ममनसां च तुल्यधर्मादौपम्यावगमाद्दीपकालङ्कारः । 'प्रकृताप्रकृतानां च साम्ये तु तुल्यधर्मतः । औपम्यं गम्यते यत्र दीपकं तन्निगद्यते ॥' इति लक्षणात् । बुद्धियादीनां शस्त्रादिव्यतिरेको व्यजते ॥ १०९ ॥

[अन्वयः] सतः बुद्धिस्तीक्ष्णा (तथापि) अरुन्तुदा न (स्यात्) । कर्म प्रतापवत् (भवेत्तथापि—) शान्तं (स्यात्) । मनः सोष्म (तथापि) उपतापि न । वाग्मिनः वाग् एका ।

[विग्रहः] अरुः तुदतीति अरुन्तुदा । उष्मणा सहितं सोष्म । उपतापयतीति उपतापि ।

[अर्थः] सतः = सत्पुरुषस्य । बुद्धिः = मतिः । तीक्ष्णा = कुशाग्रवन्निशिता । ' स्यादिति विद्धि ' । (तथापि–) अरुन्तुदा= शस्त्रवन्मर्मच्छेदिनी । न = नैव भवेत् । कर्म = व्यापारः । प्रतापवत् = तेजस्वि । प्रभाववत् । (परन्तु—) शान्तम् = अपरोपतापकम् । भवेत् । नतु सिंहादिवत्क्रूरं स्यादित्यर्थः । मनः = चित्तम् । सोष्म = अभिमानोष्णं । साभिमानं स्यात् । (तथापि–) उपतापि=अग्न्यादिवत्परसन्तापि । परदाहकम् । परक्लेशदम् । न = नैव भवेत् । वाग्मिनः = वक्तुः । वाक् = वाणी । एका = एकैव । एकरूपैव । सत्यैव । स्यादिति शेषः ।

[भावार्थः] सतां बुद्धिस्तीक्ष्णापि न मर्मच्छेदिनी भवेत्, कर्म प्रतापवदपि शान्तम् भवेत्, मनः सोष्मापि नोपतापि ।

वाक्प्रसृताऽपि एकरूपैव भवेत् । तद्भवता स्ववचनं पालनीयमेव ।

[कोशः] 'वाचोयुक्तिपटुर्वाग्मी' इत्यमरः । 'स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] बुद्ध्या तीक्ष्णया भूयते । कर्मणा शान्तेन भूयते । मनसा नोपतापिना भूयते । एकया वाचा भूयते ।

[भाषाटीका] सज्जनों की बुद्धि तीखी पर दूसरे के मर्म को छेद (हानि) करनेवाली नहीं होती है, उनका काम प्रतापी पर शान्त होता है, मन उन्नत अभिमानी पर दूसरे को सन्तप्त करने वाला नहीं होता है। और (सज्जनों की) वाणी–एक ही होती है । वे कहे हुए से हटते नहीं ॥ १०९ ॥

अशक्यश्च (अ) काले चैद्यवध इत्याह—

स्वयङ्कृतप्रसादस्य तस्याऽह्नो भानुमानिव ।

समयावधिमप्राप्य नान्तायाऽलं भवानपि ॥११०॥

[सर्वङ्कषा] स्वयमिति । किञ्च अह्नो भानुमानिव स्वयं कृतः प्रसादोऽनुग्रहः, प्रकाशश्च यस्य तस्य चैद्यस्यान्ताय समयावधिं नियतकालावसानमप्राप्य भवानपि नालं—शक्तो न । तथा च वृथापकीर्तिरेव अन्यन्न किञ्चित्फलं स्यादिति भावः ॥ ११० ॥

[अन्वयः] (किञ्च—) अह्नः भानुमान् इव स्वयङ्कृतप्रसादस्य तस्य अन्ताय समयावधिम् अप्राप्य भवानपि न अलम् ।

[विग्रहः] स्वयङ्कृतः प्रसादो यस्य स स्वयङ्कृतप्रसादः, तस्य—स्वयङ्कृतप्रसादस्य । समयस्य अवधिः समयावधिः, तम्–समयावधिम् ।

[अर्थः] (किञ्च–अह्नः = दिवसस्य । भानुमानिव = सूर्य इव । स्वयङ्कृतप्रकाशस्य । तस्य = चैद्यस्य । अन्ताय = विनाशाय । अवसानाय च । समयावधिं = नियतकालावसानम् । निश्चितसमयसमाप्तिम् । अप्राप्य = अनासाद्य । अलब्ध्वा । भवानपि = त्वमपि । नालं = न समर्थः । न शक्तः ।

[भावार्थः] यथा सूर्योऽसमये स्वयङ्कृतप्रकाशस्यापि दिवसस्याऽन्तं कर्त्तुं न शक्तस्तथा भवानपि समयं कृत्वा तत्समाप्तिं विना तं चैद्यं हन्तु न समर्थः । तथाचेदानीं याने वृथाऽपकीर्त्तिः स्यात्, फलञ्च किमपि न स्यात् ।

[कोशः] 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] भवताऽपि नालं भूयते ।

[भाषाटीका] जैसे दिन को स्वयं प्रकाशित करने वाला सूर्य भी उस दिन का अवसान विना अवधि आये नहीं कर सकता है, वैसे ही कथित अवधि की समाप्ति हुए विना उस चैद्य को आप स्वय भी मार नहीं सकते। अतः इस समय चढ़ाई करना व्यर्थ है ॥ ११० ॥

तर्हि किमयमुपेक्ष्य एव, नेत्याह—

कृत्वा कृत्यविदस्तीर्थेष्वन्तः प्रणिधयः पदम् ।
विदाङ्कुर्वन्तु महतस्तलं विद्विषदम्भसः ॥ १११ ॥

[सर्वङ्कषा] कृत्वेति । किन्तु—कृत्यविदः–कार्यज्ञाः, विधिज्ञाश्च । प्रणिधीयन्त इति प्रणिधयो–गूढचारिणः। 'प्रणिधिर्गूढपुरुषः' इति हलायुधः। तरन्त्येभिरिति तीर्थानि—मन्त्राद्यष्टादश स्थानानि, जलावताराश्च। 'योनौ जलावतारे च मन्त्राद्यष्टादशस्वपि। पुण्यक्षेत्रे तथा पात्रे तीर्थं स्यात्'इति हलायुधः। तेष्वन्तः पदं—स्थानं, पादप्रक्षेपं च, कृत्वा महतो—दुरवगाहस्य, पूज्यस्य च। विद्विषन् शत्रुरेवाम्भस्तस्य तलं—स्वरूपम् । प्रमाणमिति यावत् । 'अधःस्वरूपयोरस्त्री तलम्' इत्यमरः । विदाङ्कुर्वन्तु–विदन्तु । 'विद ज्ञाने' लोट् । 'विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम्' इति विकल्पादाम्प्रत्ययनिपातः । अम्भस इव शत्रोः कृततीर्थस्य सुप्रवेशत्वात्प्रागन्तः प्रविश्य परीक्ष्यइत्यर्थः । श्लिष्टपरम्परितरूपकम् ॥ १११ ॥

[अन्वयः] कृत्यविदः प्रणिधयः तीर्थेषु अन्तः पदं कृत्वा महतः विद्विषदम्भसः तलं विदाङ्कुर्वन्तु ।

[विग्रहः] कृत्यं विदन्तीति कृत्यविदः । प्रणिधीयन्ते इति प्रणिधयः । विद्विषन् एव अम्भः विद्विषदम्भः, तस्य विद्विषदम्भसः ।

[अर्थः] (किन्तु सम्प्रति—) कृत्यविदः = कार्यविदः। कार्यकुशलाः। विधिज्ञाश्च। प्रणिधयः=गूढचारिणः। तीर्थेषु= राज्ञां मन्त्राद्यष्टादशस्थानेषु। (जलपक्षे—) जलावतारेषु च। अन्तःपदं=स्थानम्। प्रवेशम्। जलपक्षे—पादप्रक्षेपञ्च। कृत्वा= विधाय। महतः=दुरवगाहस्य। पवित्रस्य च। पूज्यस्य च। विद्विषदम्भसः=शत्रुरूपस्य। जलस्य। शत्रुरूपस्य जलाशयस्येति यावत्। तलं=स्वरूपम्। प्रमाणमिति यावत्। विदाङ्कुर्वन्तु= विदन्तु। जानन्तु।

[भावार्थः] अम्भस इव कृततीर्थस्य शत्रुपक्षस्य सुप्रवेशतया पूर्वमन्तः प्रविश्य गूढपुरुषाः शत्रोस्तत्त्वं विदन्तु नाम।

[कोषः] 'प्रणिधिर्गूढपुरुषः' इत्यमरः। 'योनौ जलावतारे च मन्त्राद्यष्टादशस्वपि। पुण्यक्षेत्रे तथा पात्रे तीर्थं स्यात्' इति हलायुधः। 'अधःस्वरूपयोरस्त्री तलम्' इत्यमरः।

[वाच्यप०] कृत्यविद्भिः प्रणिधिभिः......तलं विदाङ्क्रियताम्।

[भाषाटीका] जैसे चतुर लोग (तीर्थ) सीढ़ी आदि के द्वारा गंभीर-जलाशय में प्रवेश करके जलका थाह लेते हैं वैसेही शत्रु के तीर्थों–(मन्त्र आदि १८ स्थानों में) प्रवेश करके अभी हमारे गुप्तचर शत्रु का पूरा-पूरा हाल-चाल जानें फिर आगे देखा जाएगा॥ १११॥

आवश्यकं चैतदित्याह—

अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा॥ ११२॥

[सर्वङ्कषा] अनुदिति। उत्सूत्रः–उच्छास्त्रः। नीतिशास्त्रविरुद्धः पदन्यासः–एकपदप्रक्षेपोऽपि। स्वल्पव्यवहारोऽपीति यावत्। स नास्ति यस्यां सा अनुत्सूत्रपदन्यासा। नीतिपूर्वकसर्वव्यवहारेत्यर्थः। अन्यत्रानुत्सूत्रपदन्यासा। अनुत्सृष्टसूत्राक्षरः इष्ट्युपसङ्ख्याननैरपेक्ष्येण सूत्राक्षरैरेव सर्वार्थप्रति-

पादको न्यासो वृत्तिव्याख्यानग्रन्थविशेषो यस्यां सा तथोक्ता । तथा— सती यथार्थकल्पनया शोभना, वृत्तिर्भृत्यामात्यादीनामाजीविका यस्यां सा सद्वृत्तिः । अन्यत्र सती वृत्तिः—काशिकाख्यसूत्रव्याख्यानग्रन्थविशेषो यस्यां सा । 'वृत्तिग्रन्थजीवनयोः' इति वैजयन्ती । सन्ति निबन्धनान्यनुजीव्यादीनां क्रियावसानेषु दत्तानि गोहिरण्यादिशाश्वतपारितोषिकदानानि यस्यां सा । एतच्च 'दत्त्वा भूमिनिबन्धं चे'त्येतद्वचनव्याख्याने मिताक्षरायां द्रष्टव्यम् । अन्यत्र—सन्निबन्धनं—भाष्यग्रन्थो यस्यां सा । एवम्भूतापि राजनीतिः—राजवृत्तिः । अपगतः स्पशः चारो यस्याः साऽपस्पशा चेत् । 'यथार्थवर्णो मर्मज्ञः स्पशो हरक उच्यते' इति हलायुधः । अन्यत्र–अविद्यमानः पस्पशः शास्त्रारम्भसमर्थक उपोद्घातसन्दर्भग्रन्थो यस्याः सा अपस्पशा । शब्दविद्या—व्याकरणविद्येव । नो भाति—न शोभते । तस्माच्चरप्रेषणमावश्यकम्, तद्रहितस्य राज्ञोऽन्धप्रायत्वादिति भावः । अत्रापस्पशेत्यत्र जतुकाष्ठवच्छब्दयोरेव श्लिष्टत्वाच्छब्दश्लेषः । सद्वृत्तिः सन्निबन्धनेत्यत्रैकवृन्तावलम्बिफलद्वयवदर्थश्लेषः । अनुत्सूत्रपदन्यासेत्यत्र तूभयसम्भवादुभयश्लेषः । शब्दविद्येवेति पूर्णोपमा व्यक्तैव । तयोः सापेक्षत्वात्सङ्करः ॥ ११२ ॥

[अन्वयः] अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना राजनीतिः अपस्पशा शब्दविद्या इव नो भाति ।

[विग्रहः] सूत्राण्युत्क्रान्तः उत्सूत्रः, न उत्सूत्र अनुत्सूत्रः, अनुत्सूत्रः पदानां न्यासो यस्यां सा अनुत्सूत्रपदन्यासा । अन्यत्र—सूत्राण्युत्क्रान्तानि उत्सूत्राणि, न उत्सूत्राणि अनुत्सूत्राणि, तानि पदानि यस्मिन् स अनुत्सूत्रपदः, अनुत्सूत्रपदो न्यासो यस्यां सा-इति विग्रहः । सती वृत्तिर्यस्यां सा सद्वृत्तिः । सत् निबन्धनं यस्यां सा सन्निबन्धना । राज्ञो नीतिः राजनीतिः । अपगतः स्पशो यस्यां सा अप-स्पशा । अन्यत्र अविद्यमानः पस्पशो यस्यां सा अ-पस्पशा ।

[अर्थः] अनुत्सूत्रपदन्यासा = नीतिशास्त्रविरुद्धस्वल्पतमव्यवहारशून्या । नीतिसूत्रविरुद्धपादप्रक्षेपरहिता । नीतिपूर्वकसकलव्यवहारशोभिता । (शब्दविद्यापक्षे–) अनुत्सूत्रपदन्यासा = अनुत्सृष्टसूत्राक्षर — न्यासाख्य-व्याख्यानविशेषो-

[अर्थः] (किन्तु सम्प्रति—) कृत्यविदः = कार्यविदः । कार्यकुशलाः । विधिज्ञाश्च । प्रणिधयः=गूढचारिणः । तीर्थेषु= राज्ञां मन्त्राद्यष्टादशस्थानेषु । (जलपक्षे—) जलावतारेषु च । अन्तःपदं=स्थानम् । प्रवेशम् । जलपक्षे—पादप्रक्षेपञ्च । कृत्वा= विधाय । महतः=दुरवगाहस्य । पवित्रस्य च । पूज्यस्य च । विद्विषदम्भसः=शत्रुरूपस्य । जलस्य । शत्रुरूपस्य जलाशयस्येति यावत् । तलं=स्वरूपम् । प्रमाणमिति यावत् । विदाङ्कुर्वन्तु= विदन्तु । जानन्तु ।

[भावार्थः] अम्भस इव कृततीर्थस्य शत्रुपक्षस्य सुप्रवेश- तया पूर्वमन्तः प्रविश्य गूढपुरुषाः शत्रोस्तत्त्वं विदन्तु नाम ।

[कोषः] 'प्रणिधिर्गूढपुरुषः' इत्यमरः । 'योनौ जलावतारे च मन्त्रा- द्यष्टादशस्वपि । पुण्यक्षेत्रे तथा पात्रे तीर्थं स्यात्' इति हलायुधः । 'अधः- स्वरूपयोरस्त्री तलम्' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] कृत्यविद्भिः प्रणिधिभिः......तलं विदाङ्क्रियताम् ।

[भाषाटीका] जैसे चतुर लोग (तीर्थ) सीढ़ी आदि के द्वारा गंभीर- जलाशय में प्रवेश करके जलका थाह लेते हैं वैसे ही शत्रु के तीर्थों–(मन्त्र आदि १८ स्थानों में) प्रवेश करके अभी हमारे गुप्तचर शत्रु का पूरा-पूरा हाल-चाल जानें फिर आगे देखा जाएगा ॥ १११ ॥

आवश्यकं चैतदित्याह—

अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना ।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा ॥ ११२ ॥

[सर्वङ्कषा] अनुदिति । उत्सूत्रः–उच्छास्त्रः । नीतिशास्त्रविरुद्धः पद- न्यासः–एकपदप्रक्षेपोऽपि । स्वल्पव्यवहारोऽपीति यावत् । स नास्ति यस्यां सा अनुत्सूत्रपदन्यासा । नीतिपूर्वकसर्वव्यवहारेत्यर्थः । अन्यत्रानुत्सूत्रपद- न्यासा । अनुत्सृष्टसूत्राक्षरः इष्ट्युपसङ्ख्यानैरपेक्ष्येण सूत्राक्षरैरेव सर्वार्थप्रति-

ो न्यासो वृत्तिव्याख्यानग्रन्थविशेषो यस्यां सा तथोक्ता। तथा—
यथार्थं कल्पनया शोभना, वृत्तिर्भृत्यामात्यादीनामाजीविका यस्यां सा
त्तः। अन्यत्र सती वृत्तिः—काशिकाख्यसूत्रव्याख्यानग्रन्थविशेषो
सा। 'वृत्तिग्रन्थजीवनयोः' इति वैजयन्ती। सन्ति निबन्धनान्य-
यादीनां क्रियावसानेषु दत्तानि गोहिरण्यादिशाश्वतपारितोषिकदानानि
सा। एतच्च 'दत्त्वा भूमिनिबन्धं चे'त्येतद्वचनव्याख्याने मिताक्षरायां
म्। अन्यत्र—सन्निबन्धनं—भाष्यग्रन्थो यस्यां सा। एवम्भूतापि
नीतिः—राजवृत्तिः। अपगतः स्पशः चारो यस्याः साऽपस्पशा चेत्।
र्थवर्णो मर्मज्ञः स्पशो हरक उच्यते' इति हलायुधः। अन्यत्र–अविद्यमानः
शः शास्त्रारम्भसमर्थक उपोद्घातसन्दर्भग्रन्थो यस्याः सा अपस्पशा।
विद्या—व्याकरणविद्येव। नो भाति—न शोभते। तस्माच्चरप्रेषणमाव-
म्, तद्रहितस्य राज्ञोऽन्धप्रायत्वादिति भावः। अत्रापस्पशेत्यत्र जतुकाष्ठ-
ब्दयोरेव श्लिष्टत्वाच्छब्दश्लेषः। सद्वृत्तिः सन्निबन्धनेत्यत्रैकवृन्ता-
विफलद्वयवदर्थश्लेषः। अनुत्सूत्रपदन्यासेत्यत्र तूभयसम्भवादुभयश्लेषः।
विद्येवेति पूर्णोपमा व्यक्तैव। तयोः सापेक्षत्वात्सङ्करः॥ ११२॥

[अन्वयः] अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना राज-
ः अपस्पशा शब्दविद्या इव नो भाति।

[विग्रहः] सूत्राण्युत्क्रान्तः उत्सूत्रः, न उत्सूत्र अनुत्सूत्रः, अनुत्सूत्रः
नां न्यासो यस्यां सा अनुत्सूत्रपदन्यासा। अन्यत्र—सूत्राण्युत्क्रान्तानि
त्राणि, न उत्सूत्राणि अनुत्सूत्राणि, तानि पदानि यस्मिन् स अनुत्सूत्रपदः,
सूत्रपदो न्यासो यस्यां सा-इति विग्रहः। सती वृत्तिर्यस्यां सा सद्वृत्तिः। सत्
धनं यस्यां सा सन्निबन्धना। राज्ञो नीतिः राजनीतिः। अपगतः स्पशो
ं सा अप-स्पशा। अन्यत्र अविद्यमानः पस्पशो यस्यां सा अ-पस्पशा।

[अर्थः] अनुत्सूत्रपदन्यासा = नीतिशास्त्रविरुद्धस्वल्पतम-
हारशून्या। नीतिसूत्रविरुद्धपादप्रक्षेपरहिता। नीति-
कसकलव्यवहारशोभिता। (शब्दविद्यापक्षे–) अनुत्सूत्र-
यासा = अनुत्सृष्टसूत्राक्षर — न्यासाख्य-व्याख्यानविशेषो-

पद्यं हिता। सूत्रार्थप्रतिपादनपरवृत्तिव्याख्यानभूतन्यासालङ्कृता। सद्वृत्तिः = यथोचितव्यवहारा। भृत्यादेर्यथायोग्यविशिष्टजीविकोपेता। (शब्दविद्यापक्षे)–सद्वृत्तिः = शोभनवृत्तिग्रन्थपरिमण्डिता। काशिकादिशोभनवृत्तिसहिता। कुण्यादिरचितप्राचीनवृत्त्याख्यव्याख्यानोपेता वा। सन्निबन्धना=भृत्यदेय शोभनस्थिरहिरण्यभूम्यादिपारितोषिकमनोहरा। अन्यत्र शोभन ('निबन्ध') महाभाष्यप्रकाशिता। (एवंभूतापि) राजनीतिः=नृपनीतिः। राजवृत्तिः। राजव्यवहारः। अपस्पशा=चाररहिता। गूढपुरुषविकला। (शब्दविद्यापक्षे)–अपस्पशा = अविद्यमानपस्पशा। पस्पशाह्निकरहिता। (शास्त्रारम्भसमर्थक उपोद्घातसन्दर्भग्रन्थः प्रथमाध्यायीयप्रथमाह्निकरूपः 'पस्पश' इति' 'पस्पशाह्निक' इति चोच्यते।) नो भाति = न शोभते। अतो गुप्तदूतप्रेषणमावश्यकमन्यथा राज्ञोऽन्धप्रायत्वादित्याशयः।

[भावार्थः] तत्सम्प्रति चारप्रेषणेन शत्रूणां सर्वोऽपि वृत्तान्त आदौ ज्ञातव्यः, चारप्रेषणं विना च राज्ञोऽन्धप्रायत्वमित्याशयः।

[कोशः] 'वृत्तिर्ग्रन्थजीवनयोः' इति वैजयन्ती। 'यथार्थवर्णो मर्मज्ञः स्पशो हरक उच्यते' इति हलायुधः।

[वाच्यप०] अनुत्सूत्रपदन्यासया सद्वृत्त्या सन्निबन्धयाऽपि राजनीत्या अपस्पशया शब्दविद्यया इव नो भायते।

[भाषाटीका] नीतिशास्त्रानुसारी मार्ग से बाहर एक पैर भी जिसमें नहीं रखा जाता हो, और भृत्यों के लिए जिसमें अच्छी२नौकरी व जीविका का प्रबन्ध हो, एवं कामके करने पर नौकरों के लिए अच्छे इनाम का जिसमें प्रबन्ध हो–ऐसी भी राजनीति बिना गुप्तदूत (खुफिया पुलिस) के उसी तरह शोभित व फलित नहीं होती है, जैसे सूत्रार्थप्रदिपादक न्यास ग्रन्थ, सुन्दर वृत्ति ग्रन्थ, एवं, उत्तम निबन्ध व महाभाष्य से शोभित भी व्याकरणशास्त्र पस्पशाह्निक (महाभाष्य के प्रथमाध्याय १ आह्निक) के बिना शोभित नहीं होता ॥११२॥

न केवलं चारमुखेन वृत्तान्तज्ञानम्, अपि तूपजापश्च कर्तव्य इत्याह—

अज्ञातदोषैर्दोषज्ञैरुद्दूष्योभयवेतनैः ।
भेद्याःशत्रोरभिव्यक्तशासनैःसामवायिकाः ॥ ११३ ॥

[सर्वङ्कषा] अज्ञातेति । किञ्चाज्ञातदोषैः परैरज्ञातस्वकर्मभिर्दोषज्ञैः स्वयं परमर्मज्ञैः । अभिव्यक्तानि भेद्यस्याग्रे प्रकटितानि शासनानि तदमात्याद्यविश्वासकराणि कूटलिखितानि येषां तैः । उभयवेतनैरुभयत्र भेद्ये स्वामिनि च वेतनं भृतिर्येषां तैरुभयजीविकाग्राहिभिः । भेद्यनगरवास्तव्यैश्चरैरित्यर्थः । 'भृतयो भर्म वेतनम्' इत्यमरः । शत्रोः—सम्बन्धिनः । समवाय समवयन्तीति सामवायिकाः—सङ्घमुख्याः सचिवादयः । 'समवायान्समवैति' इति ठक् ।उद्दूष्य—'द्विषामेते दत्तहस्ता अस्माभिरेषा लिखितान्येव गृहीतानी'त्युच्चैर्दूषयित्वा । भेद्याः—विघट्टनीयाः ॥ ११३ ॥

[अन्वयः] अज्ञातदोषैः दोषज्ञैः अभिव्यक्तशासनैः उभयवेतनैः शत्रोः सामवायिकाः उद्दूष्य भेद्याः ।

[विग्रहः] न ज्ञातः अज्ञातः, अज्ञातो दोषो येषां ते अज्ञातदोषास्तैः-अज्ञातदोषैः । दोषं जानन्तीति दोषज्ञास्तैः । उभयत्र वेतनं येषान्ते उभयवेतनाः, तैः—उभयवेतनैः । अभिव्यक्तानि शासनानि यैस्ते—अभिव्यक्तशासनाः, तैः—अभिव्यक्तशासनैः ।

[अर्थः] (किञ्च—) अज्ञातदोषैः = परैरज्ञातस्वदोषैः । बहिः-प्रकटितस्वशुद्धव्यवहारैः । (स्वयन्तु) दोषज्ञैः = परदोषविद्भिः । परमर्मज्ञैः । अभिव्यक्तशासनैः = प्रकटितभेद्यराजामात्याद्यविश्वाससूचकतत्कूटलेखादिभिः । उभयवेतनैः = शत्रुपक्षात्मपक्षोभयपक्षवेतनग्राहिभिः । भेद्यराजनगरवास्तव्यैश्चरैरित्यर्थः । शत्रोः = शत्रुसम्बन्धिनः । सामवायिकाः = सङ्घमुख्याः । श्रेष्ठा भृत्या अमात्यादयः । उद्दूष्य = उच्चैर्दूषयित्वा । 'शत्रुपक्षमिलिता इमे सचिवाः' इत्येवं कूट (मिथ्या) लेखादिभिर्दूषयित्वा । भेद्याः = शत्रुपक्षाद्विघटनीयाः । पृथक्करणीयाः ।

[भावार्थः] भेद्यराजपुरीवास्तव्यैर्गुप्तपुरुषैः परमर्मविद्भि-र्भेद्यराजाऽमात्यादिषु दोषान्कल्पयित्वा परस्परं तेषु भेदः कार्यः ।

[कोशः] 'भृतयो भर्म वेतनम्' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] अज्ञातदोषा दोषज्ञाः उभयवेतनाः अभिव्यक्तशासनाः शत्रोः सामवायिकान् उद्दूष्य भेदयेयुः ।

[भाषाटीका] जिनके दोषों को कोई नहीं जानता हो, पर वे सबके दोषों को जानते हों ऐसे शत्रु के नगर में रहनेवाले दोनों ओर मिले हुए अपने गुप्तचरों के द्वारा झूठी चिट्ठी-पत्री आदि बनाकर राजा और उसके मन्त्रियों में अविश्वास पैदा कराके शत्रु पक्ष में फूट डाल देनी चाहिए ॥११३॥

उपेयिवांसि कर्तारः पुरीमाजातशात्रवीम् ।
राजन्यकान्युपायज्ञैरेकार्थानि चरैस्तव ॥ ११४ ॥

[सर्वङ्कषा] उपेयिवांसीति । किञ्च—उपायज्ञैः—कार्यसाधन-कुशलैः । तव चरन्तीति चरैर्गूढचारिभिः । पचाद्यच् । एकार्थानि — त्वया सहैकप्रयोजनानि । राजन्यानां समूहा राजन्यकानि । 'गोत्रोक्षो—' इत्यादिना वुञ् । अजातशत्रोरिमाम्—आजातशात्रवीं पुरीमिन्द्रप्रस्थ-मुपेयिवांसि प्राप्नुवन्ति । 'उपेयिवान्—' इत्यादिना क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः । कर्तारः—करिष्यन्ते । कृञः कर्मणि लुट् । 'इन्द्रप्रस्थेऽस्माकं महत्कार्यं भविष्यति, तदध्वरयात्राव्याजेन सन्नद्धैरागन्तव्य'मिति गूढं सन्दिश्य तत्र सर्वे मेलयितव्या इत्यर्थः ॥ ११४ ॥

[अन्वयः] उपायज्ञैः तव चरैः एकार्थानि राजन्यकानि आजातशात्रवीं पुरीम् उपेयिवांसि कर्तारः ।

[विग्रहः] उपायं जानन्तीति उपायज्ञाः, तैः—उपायज्ञैः । एकः अर्थो येषां तानि । अजातशत्रोरियम् आजातशात्रवी, ताम्—आजातशात्रवीम् ।

[अर्थः] (किञ्च-) उपायज्ञैः = कार्यसाधनकुशलैः । तव = भवतः । चरैः = गूढचारिभिः । एकार्थानि = त्वया सहैक-प्रयोजनानि । अस्मत्पक्ष्याणि । राजन्यकानि = राजन्यसमूहाः ।

क्षत्रियसमूहाः । आजातशात्रवीं = युधिष्ठिरसम्बन्धिनीम् । पुरीं = नगरीम् । हस्तिनापुरम् । इन्द्रप्रस्थम् । उपेयिवांसि = प्राप्नुवन्ति । कर्त्तारः = करिष्यन्ते ।

[भावार्थः] एवं शत्रुपक्षे भेदं कारयित्वा अस्मद्गूढपुरुषा अस्मत्पक्षवर्त्तिनां राज्ञां क्षत्रियाणाञ्च समूहानिन्द्रप्रस्थे प्रापयिष्यन्ति । अस्मद्दूतप्रेरिता अस्मत्पक्षवर्त्तिनः सर्वे राजान इन्द्रप्रस्थे (दिल्ली नगरे) समेष्यन्तीति यावत ।

[कोशः] 'मूर्धाभिषिक्तो राजन्यो बाहुजः क्षत्रियो विराट्' इत्यमरः । 'यथार्हवर्णः प्रणिधिरपसर्पश्चरः स्पशः' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] उपायज्ञाः तव चराः.........राजन्यजानि पुरीन् उपेयिवांसि कर्तारः ।

[भाषाटीका] उपाय जानने वाले कुशल दूतों द्वारा सभी अपने पक्षपाती राजाओं को गुप्त रीति से इन्द्रप्रस्थ (युधिष्ठिर के नगर वर्त्तमान दिल्ली) में इकट्ठा कराना चाहिए॥ ११४ ॥

ननु 'तत्राध्वरकर्मणि को युद्धावकाश' इत्याशङ्क्य तत्रैव महत्कलहबीजं सम्पादयति—

सविशेषं सुते पाण्डोर्भक्तिं भवति तन्वति ।
वैरायितारस्तरलाः स्वयं मत्सरिणः परे ॥ ११५ ॥

[सर्वङ्कषा] सविशेषमिति । पाण्डोः सुते युधिष्ठिरे भवति पूज्ये त्वयि सविशेष यथा तथा भक्तिं तन्वति सति तरलाश्चपला मत्सरिणो द्वेषवन्तः परे स्वयमेव वैरायितारो—वैरं कर्तारः । 'शब्दवैरकलह—' इत्यादिना क्यङ् । ततः कर्तरि लुट् ॥ ११५॥

[अन्वयः] पाण्डोः सुते भवति सविशेषं भक्तिं तन्वति (सति) तरलाः मत्सरिणः परे स्वयं वैरायितारः ।

[विग्रहः] वैरं कर्त्तारः —-वैरायितारः ।

[अर्थः] पाण्डोः सुते = युधिष्ठिरे । भवति = श्रीमति ।

पूज्ये त्वयि। सविशेषं = समधिकं यथा स्यात्तथा। भक्तिं = श्रद्धां, सत्कारमनुरागञ्च। तन्वति = विस्तारयति सति। तरलाः= चपलाः। चञ्चलवृत्तयः। मत्सरिणः = द्वेषवन्तः। परोत्कर्षाऽसहिष्णवः। परे = चैद्यप्रमुखाः शत्रवः। स्वयं = स्वयमेव। आत्मनैव। वैरायितारः = वैरं कर्त्तारः। उपद्रवं करिष्यन्ति।

[भावार्थः] भवतां सत्कारमसहमानश्चैद्यश्च तत्रोपद्रवमवश्यं करिष्यति।

[कोशः] 'मत्सरोऽन्यशूभद्वेषे' इत्यमरः। 'वैरं विरोधो विद्वेषः' इत्यमरः। 'चञ्चलं तरलं चैव पारिप्लवपरिप्लवे' इत्यमरः।

[वाच्यप०] पाण्डोः सुते भक्तिं तन्वति सति तरलैः मत्सरिभिः परैः स्वयं वैरायितारैर्भूयेत।

[भाषाटीका] इन्द्रप्रस्थ–दिल्ली-में यज्ञमें युधिष्ठिर जब आप की विशेष पूजा करेगा तब शिशुपाल आदि आपके वैरी लोग अवश्य उपद्रव करेंगे ॥११५॥

किं तेऽपि सर्वे वैरायिष्यन्ते ?, नेत्याह—

य इहात्मविदो विपक्षमध्ये
सह संवृद्धियुजोऽपि भूभुजः स्युः।
बलिपुष्टकुलादिवान्यपुष्टैः
पृथगस्मादचिरेण भाविता तैः ॥ ११६॥

[सर्वङ्कषा] य इति। इह विपक्षमध्ये शत्रुमध्ये सह संवृद्धियुजोऽपि चैद्येन सहैश्वर्यं गता अपि। 'सत्सूद्विष' इत्यादिना क्विप्। ये भूभुजो राजान आत्मविदः स्वाभिजनवेदिनः स्युः। यद्वा स्वात्मरूपवेदिनः स्युस्तैर्भूभुग्भिः बलिपुष्टकुलात्काककुलात्। 'काके तु करटारिष्टबलिपुष्टसकृत्प्रजाः' इत्यमरः। अन्यपुष्टैः–परभृतैरिवाचिरेण सद्योऽस्माद्विपक्षमध्यात्। 'अन्यारात्–' इत्यत्रान्यशब्दस्यार्थपरत्वात्पृथगादिप्रयोगेऽपि पृथग्भाविता—पृथग्भविष्यते। भावे लुट्। चिण्वदिटि वृद्धिः। तेष्वपि केचिदस्माभिः सङ्गच्छन्त इत्यर्थः। औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ॥११६॥

[अन्वयः] इह विपक्षमध्ये सहसंवृद्धियुजः अपि ये भूभुजः आत्मविदः स्युः तैः बलिपुष्टकुलादन्यपुष्टैरिव अस्मात् अचिरेण पृथग्भाविता ।

[विग्रहः] आत्मानं विदन्तीति आत्मविदः । विपक्षाणां मध्यं विपक्षमध्यं, तस्मिन्—विपक्षमध्ये । बलिपुष्टानां कुलं बलिपुष्टकुलं, तस्मात्— । सह संवृद्ध्या युज्यन्ते इति सहसंवृद्धियुजः ।

[अर्थः] ये—ये वै । इह=अस्मिन् । विपक्षमध्ये=शत्रुमध्ये । सहसवृद्धियुजोऽपि=चैद्येन सहैव प्रवृद्धा अपि । आदित एव चैद्यानुगता अपि । सम्प्रति—स्वात्मविदः = स्वाभिजनवेदिनः । स्वपक्षवेदिनः । स्वस्वरूपवेदिनश्च । भूभुजः=राजानः । स्युः= भवेयुः। तैः=भूभुग्भिः। नृपैः। बलिपुष्टकुलात्=काककुलात्। अन्यपुष्टै-रिव = परभृतैरिव । कोकिलैरिव । अचिरेण=सद्यः । अस्मात्= विपक्षमध्यात् । पृथग्भाविता=पृथग्भविष्यते ।

[भावार्थः] तदैवं प्रवृत्ते व्यतिकरे चैद्येन सह प्रवृद्धा अपि केचन भूभुजः स्वस्वरूपं विदित्वा (काककुले पुष्टा अपि परभृताः काककुलादिव) शत्रुमध्यात्पृथग्भूत्वाऽस्मत्पक्षमेवाश्र-यिष्यन्ति ।

[कोशः] 'काके तु करटारिष्टबलिपुष्टसकृत्प्रजाः' इत्यमरः । 'वनप्रियः परभृतः कोकिलः पिक इत्यपि' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] यैः इह सह संवृद्धियुग्भिरपि भूभुग्भिः भूयेत । ते बलिपुष्टकुलात् अन्यपुष्टा इव अस्मात् अचिरेण पृथग्भवितारः ।

[भाषाटीका] जो राजा अपने सच्चे रूप और कुल को नहीं समझने से अभी तक शत्रुका (चैद्यका) साथ देते आए हैं वे भी अपने स्वरूप को जानकर हमारे पक्ष में उसी प्रकार आजायंगे जैसे कौवों के साथ रहकर प्रतिपालित भी कोकिल (कोयल) ज्ञान होते ही कौवों को छोड़कर अपने बन्धुओं में मिल जाता है ॥ ११६ ॥

अथ फलितं निगमयन्नाशिषं प्रयुङ्क्ते—

सहजचापलदोषसमुद्धतश्चलितदुर्बलपक्षपरिग्रहः ।
तव दुरासदवीर्यविभावसौ शलभतां लभतामसुहृद्गणः ॥

[सर्वङ्कषा] सहजेति । सहजं स्वाभाविकं चापलं दुर्विनीतत्वम्, अनवस्थितत्वं च । 'चपलः पारदे शीघ्रे दुर्विनीतेऽनवस्थिते' इति वैजयन्ती । तेनैव दोषेण समुद्धतो दृप्तः । पक्षः—सहायो, गरुच्च । 'पक्षः पार्श्वगरुत्साध्यसहायबलभित्तिषु' इति वैजयन्ती । चलितोऽस्थिरो दुर्बलपक्षपरिग्रहो यस्य सः । असुहृद्गणः शत्रुवर्गस्तव दुरासदवीर्यविभावसौ—दुःसहतेजोवह्नौ । 'वीर्यं शुक्रे प्रभावे च तेजःसामर्थ्ययोरपि' 'सूर्यवह्नी विभावसू' इति विश्वामरौ । शलभतां—पतङ्गत्वम् । 'समौ पतङ्गशलभौ' इत्यमरः । भावे तल् । लभतां—गच्छतु । रूपकालङ्कारः । द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ॥ ११७ ॥

[अन्वयः] सहजचापलदोषसमुद्धतः चलितदुर्बलपक्षपरिग्रहः असुहृद्गणः तव दुरासदवीर्यविभावसौ शलभताम् लभताम् ।

[विग्रहः] चपलस्य भावः चापलम्, सहजं चापलं सहजचापलं, तदेव दोषः, तेन समुद्धतः—सहजचापलदोषसमुद्धतः । दुर्बलश्चासौ पक्षश्च दुर्बलपक्षः, तस्य परिग्रहः दुर्बलपक्षपरिग्रहः, चलितः दुर्बलपक्षपरिग्रहो यस्य सः चलितदुर्बलपक्षपरिग्रहः । दुरासदं च तद्वीर्यञ्च दुरासदवीर्यं, स एव विभावसुः तस्मिन्—दुरासदवीर्यविभावसौ । शलभस्य भावः, शलभता, ताम् ।

[अर्थः] सहजचापलदोषसमुद्धतः = सहजदुर्विनीतत्वदोषदृप्तः । स्वाभाविकचाञ्चल्यदोषदृप्तः । (शलभपक्षे—) नैसर्गिकानवस्थितत्वदोषप्रेरितः । चलितदुर्बलपक्षपरिग्रहः = विशीर्णदुर्बलसहायकवर्गः । अस्थिरभिन्नसहायकराजलोकः । (शलभपक्षे—) विशीर्णदुर्बलगरुद्भागः । त्रुटितपक्षबलः । असुहृद्गणः = शत्रुवर्गः । तव = भवतः । दुरासदवीर्यविभावसौ =

दुःसहतेजोवह्नौ । प्रचण्डप्रतापाग्नौ । शलभतां = पतङ्गताम् । लभतां=प्राप्नोतु । गच्छतु ।

[भावार्थः] विशीर्णपक्षबलो वैरिवर्गः स्वचाञ्चल्यदोषसमुद्धतो भवत्प्रतापाग्नौ पतङ्ग इव प्रदह्यताम् ।

[कोशः] 'चपलः पारदे शीघ्रे दुर्विनीतेऽनवस्थिते' इति वैजयन्ती । 'पक्षः पार्श्वगरुत्साध्यसहायबलभित्तिषु' इति वैजयन्ती । 'वीर्यं शुक्रे प्रभावे च तेजःसामर्थ्ययोरपि' इति विश्वः । 'सूर्यवह्नी विभावसू' इत्यमरः । 'समौ पतङ्गशलभौ' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] सहजचापलदोषसमुद्धतेन चलितदुर्बलपक्षपरिग्रहेण तव असुहृद्गणेन (तव) दुरासदवीर्यविभावसौ शलभता लभ्यताम् ।

[भाषाटीका] अपने स्वभाविक चञ्चलता से उन्मत्त, कमजोर व टूटे हुए पक्ष (सहायकवर्ग या पांख) वाला आपका शत्रुवर्ग आपके प्रतापरूपी अग्नि में पतङ्गों (फतीङ्गों) की तरह जल जाये ॥ ११७ ॥

इति विशकलितार्थामौद्धवीं वाचमेना-
मनुगतनयमार्गामर्गलां दुर्नयस्य ।
जनितमुदमुदस्थादुच्चकैरुच्छ्रितोरः-
स्थलनियतनिषण्णश्रीश्रुतां शुश्रुवान्सः ॥११८॥

इति श्रीमाघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये श्र्यङ्के द्वितीयः सर्गः ॥२॥

[सर्वङ्कषा] इतीति । स हरिरित्थं विशकलितार्थां विवेचितार्थामनुगतनयमार्गां नीतिमार्गानुसारिणीं । दुर्नयस्य । बलभद्राद्युक्तस्येत्यर्थः। अर्गलां—निवारयित्रीमिति वैधर्म्येण रूपकालङ्कारः। 'तद्विष्कम्भोऽर्गलं न ना' इत्यमरः । अतएव जनितमुदं—हरेः कृतानन्दाम् । उच्छ्रिते उन्नते उरःस्थले निषण्णया श्रिया—अविश्रान्तमाश्रितया श्रिया—श्रुतां । नान्ययेति मन्त्रगुप्तिः । उद्धवस्येमामौद्धवीमेनां पूर्वोक्तां वाचं शुश्रुवाञ्श्रुतवान् । 'भाषायां सदवसश्रुवः' इति क्वसुः । उच्चैरेवोच्चकैरुन्नतः सन् । 'अव्ययसर्वनाम्नामकच्प्राक्टेः' इत्यकच्प्रत्ययः । उदस्थादासनादुत्थितवान् । 'उदोऽ-

नूर्ध्वकर्मणि' इत्यस्य प्रत्युदाहरणमेतत् । रूपकानुप्रासालङ्कारौ । मालिनी वृत्तम् ॥ ११८ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिते शिशुपालवधकाव्यव्याख्याने सर्वङ्कषाख्ये द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

[अन्वयः] स इति विशकलितार्थाम् अनुगतनयमार्गाम् दुर्नयस्य अर्गलाम् अतएव जनितमुदम् उच्चकैः उच्छ्रितोरःस्थलनियतनिषण्णश्रीश्रुताम् औद्धवीम् वाचं शुश्रुवान् उदस्थात् ।

[विग्रहः] विशकलितः अर्थो यस्याः सा विशकलितार्था, ताम् । नयस्य मार्गः नयमार्गः, अनुगतः नयमार्गो यया सा अनुगतनयमार्गा, ताम्-अनुगतनयमार्गाम् । जनिता मुद् यया सा जनितमुत्, ताम्—जनितमुदम् । उच्छ्रितं च तत् उरःस्थलं च उच्छ्रितोरःस्थलम्, तत्र नियतं निषण्णा चासौ श्रीश्चेति उच्छ्रितोरःस्थलनियतनिषण्णश्रीः, तया श्रुता, ताम् । उद्धवस्येयम् औद्धवी, ताम्—औद्धवीम् ।

[अर्थः] सः = हरिः । इत्थम्=अमुना प्रकारेण । विशकलितार्थाम् = विवेचितार्थाम् । प्रकटिताभिधेयाम् । विशदार्थाम् । अनुगतनयमार्गां = नीतिमार्गानुसारिणीम् दुर्नयस्य = दुर्नीतेः वलभद्रोक्ताऽसत्पक्षस्य । अर्गलाम्=निवारयित्रीम् । (अत एव -) जनितमुदं=हर्षप्रदाम् । कृतानन्दाम् । उच्छ्रितोरःस्थलनियतनिषण्णश्रीश्रुतां = समुन्नतवक्षःस्थलाऽनवरतनिषण्णलक्ष्मीश्रुताम् । स्ववक्षःस्थलाऽनवरतनिवासिश्रीमात्रश्रुताम् । औद्धवीम्= उद्धवोक्ताम् । एनाम् = पूर्वोक्ताम् । वाचं=वाणीम् । शुश्रुवान् = श्रुतवान् । उच्चकैः=समुन्नात् । (समुन्नतः सन्निति वा) उदस्थात्=सिंहासनादुत्थितवान् ।

[भावार्थः] इत्थं वस्तुतत्त्वप्रकाशिकामौद्धवीं गिरं श्रुत्वा हर्षोत्फुल्लनयनो हरिरासनादुत्थितवान् ।

[कोशः] 'तद्विष्कम्भोऽर्गलं न ना' इत्यमरः । 'लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा कमला श्रीर्हरिप्रिया' इत्यमरः ।

[वाच्यप०] तेन इति औद्धवीं वाचम् शुश्रूषा उदस्थायि ।

[भाषाटीका] इस प्रकार सच्चे नीतिके मार्गको बतानेवाली, दुर्नीति को हठानेवाली उद्धवजी की बातें सुनकर भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और विचार सभा को स्थगित करते हुए उन्नत सोने के सिंहासन पर से उठ खड़े हुए। और अपने महलों को सिधारे ॥११८॥

* इति पण्डितराज–मरुमण्डलकेसरि–श्रीस्नेहिरामशास्त्रिणां पौत्रेण, पण्डितवरन्यायाचार्य श्रीश्रीश्रीश्रीश्रीशिवनारायणशास्त्रिणां पुत्रेण, श्रीराजलक्ष्मीगर्भसम्भवेन, श्रीगुरुप्रसाद-शास्त्रिणा विरचितायां शिशुपालवधमहाकाव्या-भिनवराजलक्ष्म्यां द्वितीयः सर्गः ।

॥ श्री ॥ शुभम् ॥ श्रीः ॥ शुभम् ॥ श्रीः ॥

(प्रथम सं० वैशाखशुक्लनवमी
सं० १९९५ वै०)

॥ शुभम् ॥

